नहीं है कि इस सिद्धांत के अधिकतर समर्थक प्रतिज्ञप्तियों के बजाय निर्णय कहना अधिक पसंद करते हैं, और यह भी सही है कि यह पसंद स्पष्टता की सहायक लगभग नहीं है, क्योंकि 'निर्णय' का प्रयोग हम आम तौर पर (i) निर्णय का काम और (ii) निर्णय का विषय में से एक या दोनों के लिए करते हैं और फलतः दार्शनिक भाषा में इनसे द्वयर्थकता आने की संभावना हो जाती है। फिर भी अर्थ (ii) वाला निर्णय ही साक्षात् सत्य या असत्य हो सकता है, क्योंकि यदि अर्थ (i) वाले निर्णय को भी कभी-कभी सत्य या असत्य कहा जाता है तो यह न्यून कथन मात्र है।

यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि एक आदमी का निर्णय अथवा अभिकथन का काम असत्य या गलत था, या कि उस प्रकार निर्णय करने या अभिकथन करने में उसकी मानसिक अवस्था असत्य या गलत थी, परन्तु इससे हमारा अभिप्राय यही होना चाहिए कि वह जिसका उसने निर्णय किया उसकी दृष्टि से गलत था, अर्थात् अर्थ (ii) असत्य था। अतः बादवाला अर्थ प्राथमिक अर्थ है, और द्वयर्थकता से बचने के लिए वहां मैं "प्रतिज्ञप्ति" शब्द का प्रयोग करूंगा जहाँ अर्थ (ii) अभिप्रेत है। यह जरूरी नहीं है कि इस प्रयोग से संसक्तता-सिद्धांत में विकृति या गलतबयानी का दोष आ जाए, क्योंकि, जैसा कि ऊपर उद्धृत अंश के अंतिम वाक्य से प्रकट होता है, इसके आधुनिक समर्थक प्रतिज्ञप्तियों को लाकर इसे आपत्तियों से बचाने के लिए तैयार हैं।

2 संसक्तता का संबंध

स्वयं संसक्तता के संबंध के बारे में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहना और भी कठिन है, और इसका कारण अंशतः यह है कि इसके विभिन्न समर्थक बिलकुल एक ही भाषा का प्रयोग नहीं करते तथा अंशतः यह कि इसे एक आदर्श बताया गया है जिसे वास्तव में अभिकथित प्रतिज्ञप्तियां अपना लक्ष्य बनाती हैं, न कि एक सामान्य जिसके प्रतिज्ञप्तियों और वास्तविकता के बीच होनेवाले विशेष संबंध उदाहरण हों। आदर्श के अर्थ में संसक्तता की हमारे प्रयोजनों के लिए जो पर्याप्त होगी ऐसी परिभाषा यह दी जा सकती है कि वह प्रतिज्ञप्तियों की समष्टि के अंदर रहनेवाला संबंध है जिससे उस समष्टि की कोई भी प्रतिज्ञप्ति शेष प्रतिज्ञप्तियों के सत्य रहते असत्य नहीं हो सकती और कोई भी अन्यों से स्वतंत्र नहीं होती। अर्थात् सभी अलग-अलग प्रतिज्ञप्तियों के मध्य एक पारस्परिक अनुलाग होता है जिसके बल पर उनमें से कोई भी एक शेष सब प्रतिज्ञप्तियों से निगमित होती है, और यदि शेष अन्य प्रतिज्ञप्तियों में से कोई एक असत्य हो तो कोई भी सत्य नहीं हो सकती।

स्वभावत: यह सिद्धांत इस तरह की ससक्त समष्टि का कोई भी वास्तविक उदाहरण नहीं दे सकता, क्योंकि प्राक्कल्पनात. इसके एक अप्राप्य आदर्श होने के कारण इसका कोई उदाहरण वास्तविक जगत् में मिल ही नहीं सकता। परन्तु किसी पूर्णत: नैगमनिक तंत्र का, जैसा कि यूक्लिड की ज्यामिति के बारे में दावा किया गया है, सुपरिचित उदाहरण देकर इसे समझाया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि उस तंत्र के अभ्युपगमों, स्वयंसिद्धों और परिभाषाओं से बने ढांचे के अंदर बाकी सब ससक्त है: कोई भी प्रमेय जैसा है अन्यों के यथावत् रहते हुए उससे भिन्न नहीं हो सकता, और यदि कोई एक प्रमेय लुप्त हो तो शेष प्रमेयों की जांच करके उसे प्रकट किया जा सकता है। यूक्लिड के तंत्र में ससक्तता का सब दृष्टियों से पूर्ण उदाहरण नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उसके अभ्युपगमों इत्यादि को स्वतंत्र रूप से स्वीकार करना जरूरी है, इस तंत्र में कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो हमें उन्हें सत्य स्वीकार करने के लिए मजबूर करे, और प्रत्येक अभ्युपगम अन्यों से स्वतंत्र है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से पहले लोग यह नहीं समझते थे कि यूक्लिड की ज्यामिति अभ्युपगमों की एक बड़ी संख्या पर, जिन्हें अपनी इच्छानुसार अलग-अलग अस्वीकार या संशोधित करने के लिए हम स्वतंत्र हैं, आश्रित है। लेकिन जब से यह जानकारी हुई है तब से इस जानकारी का भरपूर उपयोग लोबाचेवस्की, रीमान, वेली इत्यादि ने वैकल्पिक ज्यामितीय तंत्रों के निर्माण में किया है। इस प्रकार यहां हमें ससक्तता के आदर्श के सन्निकट पहुंचनेवाले उदाहरण दिखाई देते हैं, परन्तु चूंकि प्रत्येक तंत्र के अंदर सिरे मानो ढीले जुड़े हुए हैं, चूंकि प्रत्येक के अंदर कुछ प्रतिज्ञप्तियां कुछ अन्यों से प्रभावित हुए बिना सत्य या असत्य हो सकती हैं, इसलिए पूर्ण पारस्परिक अनुलाग का आदर्श प्राप्त नहीं होता, और वैकल्पिक ज्यामितियां संभव हैं।

इस उदाहरण से संसक्तता का एक अर्थ लगाने की गलती न करने के लिए सावधान रहने का सबक मिलना चाहिए, जो गलती कोई बड़ी आसानी से कर सकता है। कोई 'ससक्त' को 'संगत' का पर्याय मानने की भूल कर सकता है। एक अर्थ में ससक्त संगत जरूर है पर एक अन्य अर्थ में जो कि बहुत ही आम है, वह कतई वह नहीं है। जब हम दो प्रतिज्ञप्तियों के बारे में यह कहते हैं कि वे संगत हैं, तब हमारा अभिप्राय बहुत प्राय: यह होता है कि वे परस्पर विरुद्ध या एक-दूसरी की व्याघाती नहीं हैं, कि जो भी बातें उनमें बताई गई हैं वे दोनों सत्य हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, यदि पुलिस का गवाह कहता है कि उसने अभियुक्त को उस स्थान से जहाँ चोरी हुई चोरी के दस मिनट बाद उत्तर दिशा में आधे मील पर

देखा था, और बचाव-पक्ष का गवाह कहता है कि वह चोरी के कथित समय पर अभियुक्त के साथ चोरी के स्थान के उत्तर में एक मील दूर स्थित शराबखाने में शराब पी रहा था, तो दोनों ही बयान संगत हैं। दोनों ही सत्य हो सकते हैं, क्योंकि अभियुक्त का शराबखाने में एक मिनट में शराब पीकर दस मिनट बाद चोरी के स्थान के आधा मील निकट पहुंच जाना शारीरिक रूप से कठिन नहीं है।

कोई दो प्रतिज्ञप्तियां इस अर्थ में संगत होती हैं, बशर्ते वे विपरीत न हों, अर्थात् बशर्ते एक के सत्य होने पर दूसरी असत्य न हो। यदि पुलिस की गवाही यह होती कि अभियुक्त चोरी के स्थान पर चोरी के दो मिनट से भी कम बाद पाया गया, तो इसमें दोनों बयानों को संगत मानना अधिक कठिन होता, हालांकि दोनों का एकसाथ सत्य होना तब भी असंभव न होता, क्योंकि वह दूरी कार से उतने समय में तै की जा सकती है। परंतु यदि बचाव-पक्ष की गवाही यह हो कि चोरी के दो मिनट बाद भी अभियुक्त शराबखाने में था, तो दोनों गवाहियां असंगत हो जाती हैं: दोनों असत्य तो हो सकती हैं, पर दोनों सत्य नहीं हो सकतीं, अर्थात् यदि एक गवाह सत्य बोल रहा है तो दूसरा या तो झूठ बोल रहा है या गलती कर रहा है।

इस उदाहरण में प्रतिज्ञप्तियों के विभिन्न जोड़े परस्पर संबंधित इस बात में हैं कि प्रत्येक एक और प्रतिज्ञप्ति या (इस मामले में) प्रश्न, "क्या अभियुक्त चोरी कर सकता था ?", से जुड़ा हुआ है। परंतु संगत होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि प्रतिज्ञप्तियों का एक जोड़ा इस प्रकार से संबंधित हो, क्योंकि वे एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र हो सकती हैं। "वह अपनी नई कार में ब्राउन जा रहा है" इससे संगत है कि "लार्ड माउंटबैटन भारत का पहला गवर्नर-जनरल था", "ज्वार-भाटा गुरुत्वाकर्षण के नियम से नियंत्रित होता है," या "एक वृत्त का क्षेत्रफल $2\pi r$ होता है"। यदि हम उसे स्वीकार करते हैं तो हम अन्यों में से किसी को भी स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए स्वतंत्र हैं (जैसे कि शायद हम पहली दो को स्वीकार करेंगे और तीसरी को अस्वीकार); और यदि हम अन्यों में से किसी एक को स्वीकार करते हैं, तो इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए हम स्वतंत्र हैं।

3. ससक्तता सगति से अधिक है।

'संगत' के इस अर्थ में 'संसक्त' 'संगत' नहीं है। यूक्लिड के अभ्युपगम एक-दूसरे से संगत इस बात में हैं कि कोई भी दो परस्पर व्याघाती नहीं हैं,

परंतु जैसा कि हम देख चुके हैं, वे उस तरीके से संभव नहीं हैं जिसकी इस सिद्धांत के अनुसार जरूरत है। स्वभावतः यदि दो प्रतिज्ञप्तियां एक-दूसरी से अनुलग्न हैं तो वे परस्पर व्याघाती भी नहीं हैं, और आदर्श के अनुसार पूर्ण तंत्र में कोई भी दो प्रतिज्ञप्तियां तब तक परस्पर अव्याघाती नहीं हो सकती जब तक प्रत्येक तार्किक रूप से शेष सब प्रतिज्ञप्तियों पर आश्रित न हो। परंतु अव्याघात इस सिद्धांत को इष्ट संसक्तता की तुलना में कहीं अधिक शिथिल संबंध है और उसे उसके साथ मिलाना ठीक नहीं है।

यदि संसक्तता ज्ञान के पूर्ण तंत्र में व्याप्त अनुलाग का संबंध है, तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हम कभी संसक्तता के बड़े परीक्षण के द्वारा किसी भी निर्दिष्ट प्रतिज्ञप्ति का निश्चायक रूप से सत्यापन नहीं कर सकते। कारण यह है कि जब तक तंत्र पूर्ण न हो जाए तब तक हमारा यह कहना उचित न होगा कि जिन अनुलाग-संबंधों को जान चुके होने की बात हम सोचते हैं वे अत्यधिक प्रसंभाव्य होने से अधिक कुछ हैं। परंतु स्पष्टतः यह मानना इस सिद्धांत से संगत होगा कि सत्यता की एक कसौटी के रूप में व्यवहारतः संसक्तता का जैसा प्रयोग किया जाता है वह संसक्तता के पूरी तरह आदर्शनिष्ठ रूप से घटिया और शिथिल है। कुछ प्रतिज्ञप्तियों को हम इसलिए स्वीकार करते हैं कि हम उन्हें तार्किक रूप से उन अन्य प्रतिज्ञप्तियों से अनुलग्न देखते हैं जिन्हें हम स्वतंत्र रूप से स्वीकार करते हैं, अन्यों को हम इसलिए स्वीकार करते हैं कि प्रमाणभूत प्रतिज्ञप्तियों की रोशनी में वे प्रसंभाव्य प्रतीत होती हैं।

हम स्वयं प्रमाण को भी "एकसाथ जुड़ा हुआ" कहते हैं, जिससे हमारा तात्पर्य मात्र यह नहीं होता कि उसके अलग-अलग अंश परस्पर निश्चित रूप से असंगत नहीं हैं, बल्कि यह भी होता है कि उन्हें एकसाथ जोड़ने से एक युक्तियुक्त कहानी बन जाती है, जिसमें यदि हम प्रमाण के एक अंश को स्वीकार करते हैं तो पूरे को हमारा स्वीकार करना उचित होगा। यदि गवाह का यह बयान कि वह अभियुक्त के साथ चोरी के समय चोरी के स्थान से एक मील दूर स्थित शराबखाने में शराब पी रहा था, शराबखाने में मौजूद अन्य लोगों के साक्ष्य से मेल खाता है, और यदि उनकी गवाही पर अविश्वास करने का हमारे पास कोई स्वतंत्र हेतु नहीं है, तो हम उसे स्वीकार कर लेते हैं। यदि हम उसे स्वीकार कर लेते हैं तो हमारा झुकाव पुलिसवाले की इस गवाही को अस्वीकार करने का होगा कि उसने अभियुक्त को घटना के दो मिनट बाद उस स्थान से आधे मील की दूरी पर देखा था। हमें उसे अस्वीकार करना चाहिए, इसलिए नहीं कि बचाव-पक्ष की गवाही को

स्वीकार करने से उसका तार्किक रूप से निराकरण हो जाता है, बल्कि इसलिए कि वह उसके कारण असंभाव्य हो जाती है—इस अर्थ में वे दो गवाहियाँ परस्पर ससक्त नहीं है। हम उसे अस्वीकार तब और भी दृढ़ता से करेंगे जब पूरी जाँच-पड़ताल मे इस बात का कोई सबूत न मिले कि किसी कार मे वह दूरी दो मिनट में तै की गई थी या जब पुलिसवाले ने जिस स्थान पर अभियुक्त को देखने की बात कही वहाँ उससे बात करने का उसने दावा न किया हो बल्कि केवल सड़क के दूसरी ओर बत्ती की रोशनी में उसे देखने का दावा किया हो।

बहुत कम लोग इस बात को लेकर झगड़ना चाहेंगे कि ससक्तता अपने संकीर्ण या व्यापक अर्थ में सत्यता की एक कसौटी है। परंतु यह बात विवादास्पद है कि ससक्तता एकमात्र कसौटी है। और यदि वह एकमात्र कसौटी हो भी तो भी अकेली इस बात से यह सिद्ध नहीं होगा कि सत्यता संसक्तता है, क्योंकि संसक्तता को सत्यता की एकमात्र कसौटी मानना इस मत के साथ बिल्कुल चल सकता है कि सत्यता संवाद है। अत: हम केवल "संसक्तता सत्यता का स्वरूप है" इस मत की और सत्यता की मात्राओं के सिद्धांत की ही चर्चा करेंगे।

4. सत्यता की मात्राओं का सिद्धांत।

इस सिद्धांत के अनुसार, चूँकि प्रतिज्ञप्तियों का पूर्णत: संसक्त तंत्र केवल संपूर्ण वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान ही होगा, इसलिए प्रतिज्ञप्तियाँ या तथाकथित ज्ञान की कोई भी समष्टि जो उससे न्यून हो, केवल शिथिल रूप में ही ससक्त होगी, तथा सब प्रतिज्ञप्तियाँ अंशत: सत्य और अंशत: असत्य होंगी। कोई भी प्रतिज्ञप्ति पूर्णत: सत्य नहीं है और कोई भी पूर्णत: असत्य नहीं है। ब्रैडली ने कुछ आधार-भूत सिद्धांतों की, जैसे स्वयं ससक्तता-सिद्धांत की, सत्यता और अन्य प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता मे भेद करके इस आपातत: चौंकानेवाले कथन को अवश्य ही कुछ हल्का बना दिया है।

एक ऐसे ही तत्वमीमांसीय सिद्धांत के बारे में उसने कहा है : "परमतत्व वास्तव में आभासित होता है, परंतु उसके आभासित होने की शर्तें ज्ञात नहीं हैं। अतः हमारे पहले कथन मे त्रुटि है, और सत्यता के पूर्ण अर्थ की दृष्टि से वह अपूर्ण रूप से सत्य है। उसमे किसी संशोधन की जरूरत है, परंतु हम यह जानने मे असमर्थ है कि संशोधन कैसे किया जाए। और हम अपने कथन को किसी वृद्धि मात्र के द्वारा अंत में संशोध्य भी नहीं मान सकते। अत: एक तरफ किसी भी

बोधगम्य चीज के उसके विरुद्ध खड़ी न की जा सकने के कारण उसकी सत्यता चरम है और दूसरी तरफ उसकी सत्यता अपूर्ण बनी रहने से उसे एक अर्थ में असत्य कहना होगा।...... ...मेरे मन से संपूर्ण बोध और सत्य अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए स्वयं से परे निकल जाता है। वह पूर्ण केवल तब होता है जब स्वयं से परे एक अधिक पूर्ण वास्तविकता में पहुँच जाता है। परंतु ऐसी पूर्णता की कमी के बावजूद सत्य मात्र सत्य बना रहता है, और ऐसे अभिकथन हैं जो वहां तक अंतिम और सर्वथा सत्य होते हैं।"[1] तो कुछ प्रतिज्ञप्तियां ऐसी हैं जो पूर्णतः सत्य इस अर्थ में होती हैं कि उनमें संशोधन नहीं किया जा सकता, हालांकि वे किसी रूप में अपर्याप्त होती हैं—वे जितना सब बताने को हैं उतना नहीं बताती।

परंतु अन्य प्रतिज्ञप्तियों का वर्ग अधिक चौंकानेवाला होने के कारण अधिक रोचक है। उसमें न केवल प्रेक्षण के सत्य आते हैं बल्कि गणित के सत्य भी शामिल है,[2] जो कि दोनों परिच्छिन्न सत्य समझे जाते हैं और बुद्धि के द्वारा संशोध्य हैं। "प्रत्येक परिच्छिन्न सत्य या तथ्य को किसी सीमा तक असत्य या मिथ्या होना चाहिए, और अंत में किसी सत्य के बारे में निश्चयपूर्वक यह जानना कि वह कितना मिथ्या होगा, असंभव है,"[3] और ऐसे सत्यों का आंशिक मिथ्यात्व उनके केवल कुछ शर्तों में ही सत्य होने की वजह से होता है, जो कि सत्य के वक्ता के द्वारा बताई नहीं गई है, यहां तक कि उसे ज्ञान तक नहीं है। इस प्रकार, यद्यपि शुद्ध गणित के क्षेत्र के अंदर हमें निरपेक्ष सत्य और निरपेक्ष असत्य उपलब्ध हो सकते हैं, क्योंकि वहां हम शर्तों को निर्धारित कर सकते हैं या कम से कम यह कह सकते हैं कि शर्तें हैं, तथापि यदि हम गणित के सत्यों को उस विषय के बाहर बताने की कोशिश करें तो हमें केवल सापेक्ष और संशोधनापेक्ष सत्य ही मिलेंगे।[4] उदाहरणार्थ, $2 + 3 = 5$ को मैं निरपेक्षतः सत्य स्वीकार करूंगा, बशर्ते इसे मैं केवल संख्या और क्रम के गुणधर्मों से संबंधित एक आकारिक प्रतिज्ञप्ति के रूप में समझूं। परंतु यदि मैं इसे अनुप्रयुक्त गणित की एक प्रतिज्ञप्ति के रूप में समझूं तो इसकी सत्यता को जानने का मेरा दावा शायद कदापि उचित नहीं होगा। वहाँ मैं केवल इतना ही कह सकता हूं कि

---

1. *एसेज ऑन ट्रुथ एँड रीयलिटी*, पृ० 272-3; देखिए *अप्पियरेन्स एँड रीयलिटी*, पृ० 483।

2. *अप्पियरेन्स एँड रीयलिटी*, पृ० 478।

3. वही, पृ० 480।

4. *एसेज*, पृ० 266।

(i) वह अंशतः सत्य और अंशतः असत्य है, तथा

(ii) वह $2+3=6$ की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है।

अब निश्चय ही एक नितांत अच्छे अर्थ में '$2+3=5$' एक विश्वविषयक प्रतिज्ञप्ति है जो निरपेक्ष रूप से सत्य है, भले ही ऐसे अन्य अर्थ भी हो जिनमे वह असत्य हो सकती हो। यह कहना असत्य हो सकता है कि जब भी मैं एक बर्तन मे दो चीजें रखता हू और फिर तीन और रखता हू तब बर्तन को खोलकर देखने पर मुझे पाच चीजें मिलेंगी। न केवल ऐसा कहना गलत हो सकता है, बल्कि होता भी बहुधा गलत ही है। एक हौज मे दो जलसिंह (मछली-विशेष) छोडकर और फिर तीन मछलिया वहाँ डाल देने के बाद हौज को खोलकर देखने पर किसी को दो जलसिंहों के अलावा कुछ और मिलने पर आश्चर्य होगा, और अकेले दो सफेद चूहे तीन अन्यो की मदद के बिना भी शीघ्र पाच से अधिक हो जाएगे।

लेकिन क्या मैं पहले उदाहरण मे इस बात को निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं जानता कि यदि मैंने हौज मे दो चीजें (जलसिंह) डाली हैं और फिर तीन और चीजे (मछलिया) डाली है तो मैंने हौज मे पाच चीजें डाली है? इस अर्थ मे क्या '$2+3=5$' निरपेक्ष रूप से सत्य नही है? और क्या "यह पृष्ठ पूरा फ्रेंच में लिखा है" एक निरपेक्ष रूप से असत्य प्रतिज्ञप्ति नहीं है? संसक्तता-सिद्धांत इस बात से कैसे इन्कार कर सकता है, अथवा सत्यता की मात्राओं का सिद्धात इसके समक्ष कैसे खडा रह सकता है? यह कहने को मन करता है कि यह सिद्धान्त 'सत्यता' का किसी गूढ अर्थ मे प्रयोग करता है जिससे सत्यता मे न केवल यथार्थता बल्कि सर्वग्राहिता भी शामिल हो जाती है। पर क्या यह इस प्रश्न को कि एक प्रतिज्ञप्ति पूर्णतः सत्य है या नही, इस प्रश्न के साथ उलझाना नही है कि क्या वह पूर्ण सत्य है? एक मोटर-दुर्घटना मे बुरी तरह घायल आदमी के यह पूछने पर कि "मुझे क्या हो गया है?", यदि मै यह जवाब दूँ कि "तुम्हारी टाग टूट गई है" तो मेरा जवाब पूर्णतः सत्य हो सकता है, हालाकि मैंने इतनी बात, जो सत्य है, नही जोडी कि न केवल उसकी टाग टूट गई है, बल्कि उसका पाव भी टखने से अलग हो गया है।

"यह पृष्ठ पूरा फ्रेंच मे लिखा गया है," इस प्रतिज्ञप्ति को अंशतः सत्य इसके एक ऐसे विश्लेषण के आधार पर बनाया जाएगा कि जिसमे इसमें "यह पृष्ठ एक या दूसरी भाषा मे लिखा है" और "एक भाषा फ्रेंच है," ये दो कम जटिल प्रतिज्ञप्तिया, जो कि दोनो सत्य है, शामिल हो जाएं। निश्चय ही ये सत्य हैं, और मुझे कहना चाहिए कि ये पूर्णतः और बिना शर्त सत्य हैं, हालाकि यह सिद्धात

अवश्य ही इससे इन्कार करेगा। परन्तु यदि हम इस विश्लेषण को स्वीकार कर लें और "यह पृष्ठ पूरा फ्रेंच में लिखा है" में कुछ सत्यता मान भी लें, तो भी (अ) कम से इसके पूरे विश्लेषण में शामिल कोई प्रतिज्ञप्ति ऐसी रह ही जाएगी जो पूर्णतः और अंतिम रूप से असत्य हो, तथा (ब) यह बात कि एक प्रतिज्ञप्ति में कुछ सत्यता है उसके पूर्णतः असत्य होने से संगत होगी। (अ) से पता चलेगा कि यद्यपि व्यवहार में हमारे अधिकतर निर्णयों में कुछ सत्यता रह सकती है, तथापि यदि उनमें से कुछ में कभी कोई गलती हो तो यह बिलकुल संभव होना चाहिए कि उनमें बिल्कुल भी सत्यता नहीं होगी। और (ब) से एक बार फिर 'सत्य' और 'असत्य' का वह विचित्र अर्थ सामने आता है जो यह सिद्धांत इन शब्दों से जोड़ना चाहता है। कोई सोचेगा कि यदि यह पृष्ठ लिखा अवश्य गया है या इसका अवश्य अस्तित्व है और साथ ही यदि फ्रेंच नाम की भाषा भी अवश्य है तो "यह पृष्ठ पूरा फ्रेन्च में लिखा हुआ है," यह प्रतिज्ञप्ति पूर्णतः असत्य नहीं हो सकती, यह बात इसके लिए पर्याप्त होगी कि इसे चौंकानेवाली बातों के वर्ग में रखा जाए, और बचपन की बातों को याद करते हुए हममें से कुछ लोगों को लगेगा कि स्कूल में सत्य न बोलने के लिए उन्हें जो मार पड़ी थी वह उचित नहीं थी।

5 इस सिद्धांत में घपला है।

इस सिद्धांत के पक्ष में यह दलील दी जा सकती है, और दी भी गई है, कि चूंकि प्रत्येक सत्य प्रतिज्ञप्ति तर्कतः शेष सब सत्य प्रतिज्ञप्तियों पर आश्रित होती है, इसलिए उस दशा में कोई भी प्रतिज्ञप्ति तब तक पूरी तरह और निरपेक्ष रूप में सत्य नहीं हो सकती जब तक कोई शेष सब प्रतिज्ञप्तियों को न जान। परन्तु यदि इस दलील में गर्भित अंतःसंबंध-सिद्धांत को हम मान भी लें, तो भी इस दलील में घपला ही प्रतीत होता है। यदि यह ससक्तता को सत्यता का स्वरूप मानते हुए उसके बारे में एक कथन के बतौर है, तो यह प्रश्न कि एक प्रतिज्ञप्ति सत्य है या नहीं, इस प्रश्न पर निर्भर नहीं हो सकता कि मैं या कोई अन्य व्यक्ति उन शर्तों को जिन पर वह आश्रित है, जानता है या नहीं। यदि मैं न केवल यह जानता होऊं कि वे प्रतिज्ञप्तियां कौन हैं जिनसे यह प्रतिज्ञप्ति अनुलग्न है बल्कि यह भी जानता होऊं कि वे स्वयं भी सत्य हैं, तो उस प्रतिज्ञप्ति में सत्यता नहीं आ जाती, और यदि उसके पक्ष में कोई भी प्रमाण न मिल सके, तो भी उसकी सत्यता की हानि नहीं होती।

दूसरी ओर, यदि ससक्तता को सत्यता की एकमात्र कसौटी के रूप में लेते हुए उसके बारे में एक कथन के बतौर इस दलील को लिया जाए, तो इसमें पहले

विकल्प के जैसे विचित्र परिणाम तो नही होंगे, पर ज्ञान के ऊपर एक ऐसी शर्त अवश्य लग जाती है जिसे स्वीकार करने के लिए कोई वैध हेतु नही दिखाई देता: वह शर्त यह है कि मैं किसी प्रतिज्ञप्ति को तब तक सत्य नही जान सकता जब तक मैं उन सब प्रतिज्ञप्तियो को न जानूं जिनमे वह अनुलग्न है। मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि जिन प्रतिज्ञप्तियो से "2+3=5" अनुलग्न है उनमें से अनेक ऐसी हैं जिन्हे न मैंने कभी सोचा है और न कभी शायद सोचूंगा। परंतु इस विचार से न केवल मेरा विश्वास इस प्रतिज्ञप्ति मे कमजोर नही पडता, बल्कि उसके कमजोर पडने का कोई हेतु भी नही प्रकट होता। शायद यह बात हो कि यह सिद्धात अनुलाग के प्रत्यय को अन्तर्भाव के प्रत्यय मे उलझाता हो, और गलती से यह मानता हो कि अज्ञात प्रतिज्ञप्तिया "2+3=5" के अर्थ से अवियोज्य है।

6. ससक्तता की कठिनाइया : ससक्त प्रतिज्ञप्तियों के वैकल्पिक कुलक।

अत मे यह दलील दी जा सकती है कि ससक्तता-सिद्धात से सत्यता की मात्राओ का सिद्धात अनुलग्न नही है और इसलिए दूसरे के खडित हो जाने के बावजूद भी पहला बना रह सकता है। मुझे इनमे मे एक को दूसरे का उपनिगमन न मानने मे सदेह है, हालाकि ऐसा कहते हुए कुछ सकोच भी हो रहा है। फिर भी, यदि वे अलग भी रह सकते हो और ससक्तता-सिद्धात को अपने ही पैरो पर खडा होने के लिए छोड दिया जाए, तो भी उसे कुछ उग्र आपत्तियो का सामना करना होगा। पहली और सबसे अधिक साफ आपत्ति एक प्रश्न के रूप में उठाई जा सकती है इस सिद्धात के अनुसार तब क्या स्थिति होगी जब प्रतिज्ञप्तियो के दो (या अधिक) ऐसे कुलक हो कि प्रत्येक कुलक की प्रतिज्ञप्तिया परस्पर ससक्त हो पर कुलक स्वय दूसरे कुलक से असगत हो ? उदाहरण के रूप मे यूक्लिड और रीमान के दो वैकल्पिक ज्यामितीय तत्रो को लीजिए। ससक्तता-परीक्षण से हम यह कैसे बता पाएगे कि यदि इनमे से कोई सत्य है तो वह कौन-सा तत्र है ? और इनमें से किसी एक को सत्य कहने का क्या मतलब होगा ? इस कठिनाई के दो उत्तर इस सिद्धात ने दिए हैं।

(अ) यदि हम यह पूछ रहे हैं कि क्या ससक्तता-परीक्षण से किसी भी समय विश्वासो के दो आतरिक रूप से ससक्त पर परस्पर असगत कुलको के बीच फैसला करने का एक बिल्कुल पक्का उपाय प्राप्त होगा, तो उत्तर यह है कि ऐसा उपाय प्राप्त नही होगा, और न उसने कभी ऐसा दावा किया ही है। किसी विशेष अवस्था मे यदि हमे विश्वासो के दो कुलको में से चुनाव करना पडे तो हम प्रमाण को देखते हुए चुनाव करेंगे और उसे चुनेंगे जो अधिक संसक्त होगा। परतु और

अधिक प्रमाण के मिलने पर हमें यह मानने के लिए तैयार रहना होगा कि जिस कुलक को हमने पहले अस्वीकार किया था, वह अब उसकी अपेक्षा अधिक ससक्त है जिसे हमने पहले स्वीकार किया था। इसका परिणाम यह नहीं होगा कि जिस समय हमने पहला फैसला किया था उस समय यह फैसला गलत था, बल्कि यह होगा कि यदि नए प्रमाण को देखते हुए अब भी हम पहले फैसले से चिपके रहे तो यह हमारी गलती होगी। इसी प्रकार, यदि हमारे सामने विश्वासों के दो विपरीत कुलक ऐसे हैं जो, जैसा कि हम कहते हैं, बराबर-से हैं, तो और अधिक प्रमाण के अभाव की दशा में हम बिल्कुल भी नहीं कह सकते कि उनमें से यदि कोई सत्य है तो वह कौन है। यदि वास्तव में वे बराबर-से हैं, तो हमें चुनाव बिल्कुल करना ही नहीं चाहिए, परन्तु यदि चुनाव करना जरूरी ही हो, तो हम जिसे चाहें, जैसे एक सिक्के को उछालकर, उसे चुन सकते हैं, और तब भी बाद में यह देखने के लिए हम तैयार रहेंगे कि हमने गलत चुनाव किया। यदि आपत्ति को ससक्तता के बारे में, जैसा कि उसे व्यवहार में अपनाया जाता है, एक प्रश्न के रूप में लिया जाता है, तो इस सिद्धांत की ओर से यह उत्तर पूर्णतः उचित लगता है। ससक्तता-सिद्धांत यदि सही है, तो कोई वजह नहीं है कि लोग अपने फैसलों में उस तरह गलतियां न करते रहें या फैसला करने में उस तरह सचमुच का संदेह न करते रहें जिस तरह वे अब करते हैं।

(ब) यदि प्रश्न यह पूछ रहा है कि ससक्त प्रतिज्ञप्तियों के दो ऐसे वैकल्पिक कुलक हो सकते हैं या नहीं जो प्रत्येक न केवल इस समय ससक्तता में हीन नहीं है बल्कि तब भी हीन न होगा जब साक्ष्य के द्वारा उसमें चाहे जितनी और प्रतिज्ञप्तियां जोड़ दी गई हों, तो यह सिद्धांत अवश्य ही अधिक गंभीर कठिनाइयों में फंसा प्रतीत होता है। मान लीजिए कि हमारे पास ऐसी प्रतिज्ञप्तियों के दो कुलक हैं, जिनमें एक-मात्र अंतर यह है कि एक कुलक की प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति दूसरे की उसके बराबर की प्रतिज्ञप्ति की व्याघाती है, अर्थात् कुलक I में प्रतिज्ञप्तियां अ ब स द—इत्यादि हैं और कुलक II में न-अ न-ब न-स न-द—इत्यादि। ऐसे दो कुलकों के होने पर हम कभी ऐसी स्थिति में नहीं पहुंचेंगे जिसमें एक कुलक दूसरे से अधिक ससक्त हो, क्योंकि एक में किसी भी प्रतिज्ञप्ति की वृद्धि होने पर दूसरे में उसकी व्याघाती प्रतिज्ञप्ति जुड़ जाएगी, और जैसे एक का विकास होगा वैसे ही दूसरे का भी विकास होगा।

अब, इस आपत्ति को हंसी में नहीं टाला जा सकता। यदि यह कहना बेवकूफी की बात लगे कि विश्वासों के दो कुलक ऐसे हो सकते हैं जिनके बीच कोई चुनाव न किया जा सके, तो इसकी वजह यह है कि, जहां तक हम जानते हैं, ऐसा होता नहीं है। जो बहुत प्रायः होता है वह (अ) के अंतर्गत बताया गया है। फिर

भी, यह उत्तर अपर्याप्त है, क्योंकि प्रतिज्ञप्तियों के ऐसे दो कुलकों का होना तार्किक रूप से सभव है, और यदि वे तार्किक रूप मे सभव है तो उनके तार्किक परिणाम भी अवश्य सभव हैं। अब, इस सिद्धांत के यथार्थ निरूपण के अनुसार, पहला परिणाम यह होगा कि इस प्रकार के विश्व मे या तो कोई भी प्रतिज्ञप्ति सत्य नही होगी या सब प्रतिज्ञप्तिया सत्य होंगी। यदि हमारा सिद्धात यह है कि सत्य वह प्रतिज्ञप्ति है जो पारस्परिक अनुलाग का स बध रखनेवाली प्रतिज्ञप्तियो के सबसे बड़े कुलक मे से एक है, तो कोई भी प्रतिज्ञप्ति सत्य नही होगी, क्योंकि यदि दोनों कुलकों मे प्रतिज्ञप्तियो की सख्या बराबर है, जैसा कि प्राक्कल्पनात. होना भी चाहिए, तो सबसे बड़ा कुलक कोई है ही नही, और इसलिए चूंकि किसी भी कुलक की कोई प्रतिज्ञप्ति सबसे बड़े कुलक की नही है, कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य नही है।

विकल्पत यदि इस सिद्धात का वह रूप हो जिसे हम पहले मानकर चले थे, अर्थात् यह कि एक प्रतिज्ञप्ति तब सत्य होती है जब वह ऐसी प्रतिज्ञप्तियो के कुलक की हो जिनके मध्य कुलक के पूरे हो जाने पर पारस्परिक अनुलाग का सबंध होता है, तो सब प्रतिज्ञप्तिया सत्य होंगी, क्योंकि प्रत्येक अकेली प्रतिज्ञप्ति, वह अ या न-अ, ब या न-ब इत्यादि जो भी हो, अवश्य ही उस शर्त को पूरी करनेवाली प्रतिज्ञप्तियो के कुलक की होती है, और इसलिए प्रत्येक अकेली प्रतिज्ञप्ति सत्य होगी। फलत. इस सिद्धात का हमने जो कथन किया है उसके अनुसार हमे यह मानना चाहिए कि यदि यह सिद्धात सही है तो या तो सब प्रतिज्ञप्तिया सत्य होंगी या सब असत्य; और यह भी मानना चाहिए कि जहा तक हम जानते है, यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है कि इस विशेष विश्व मे हमारे साथ ऐसी बात होती नही है। दूसरी बात, हमे ऐसा मानना होगा कि व्याघाती प्रतिज्ञप्तियों के एक जोड़े मे या तो दोनों में से कोई भी सत्य नही है यह दोनों सत्य है, और यह भी इस बात के अनुसार कि हम इस सिद्धात के किस रूप को अपनाते है। परतु यह बात किस जगत् में हो सकेगी कि यदि मैं एक चक्रिका को हाथ मे लेकर कहूं कि "यह चक्रिका पूरी लाल है" और फिर यह और कहूं कि "ऐसी बात नही है कि यह चक्रिका पूरी लाल है," तो या तो कोई भी कथन सत्य न हो या दोनों सत्य हों ? या तो चक्रिका पूरी लाल होगी या पूरी लाल नही होगी। यदि कोई अर्थ ऐसा है जिसमे "$2+3=5$" सत्य है, तो उस अर्थ मे साथ ही यह भी सत्य नही हो सकता कि "$2+2=5$" असत्य है [1]।

---

1. इस किस्म की अधिक विस्तृत आलोचना के लिए देखिए जे० विज्डम, ***प्रोब्लेम्स ऑफ माइ ड ऐंड मैटर***, पृ० 190-4।

इस कठिनाई का इस सिद्धांत में जवाब है, परंतु यह ऐसा जवाब है कि स्वयं इस सिद्धांत के लिए घातक लगता है। यह सिद्धांत "यह नहीं मानता कि कोई भी तंत्र, चाहे वह कितना ही अपाकृष्ट और सीमित हो, सत्य होगा है, वह यह मानता है कि केवल एक तंत्र सत्य है और वह तंत्र वह है जिसमें प्रत्येक **वास्तविक और सम्भव** वस्तु संसक्ततापूर्वक समाविष्ट है। यह समझ में आना आसान नहीं है कि इसमें कैसे कोई यह बात ढूंढ लेता है कि अनुभव की पूरी तरह उपेक्षा कर देनेवाला कोई तंत्र, जैसे कोई मनमानी ज्यामिति, सत्यता को प्रकट करेगा।"[1] दूसरे शब्दों में, यदि हमारे सामने ऊपर कल्पित प्रतिज्ञप्तियों के दो कुलक हों, तो हम उनमें उसे ढूंढकर जो वास्तव में होता है, अर्थात् अनुभव का आश्रय लेकर उनमें से चुनाव कर सकते हैं। परस्पर व्याघाती प्रतिज्ञप्तियों के दो कुलकों में से प्रत्येक सब ज्ञात तथ्यों को अपने अंदर समा ले, ऐसा असंभव है। अब, इस प्रकार अनुभव का आश्रय लेकर तर्कतः सभव और वास्तविक के बीच चुनाव करना है तो बहुत अच्छा और बहुत समझदारी की बात भी लगता है, परंतु इसमें यह मतलब छिपा हुआ है कि सत्यता संसक्तता मात्र से कोई भिन्न चीज है। किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को न केवल अन्य प्रतिज्ञप्तियों के साथ उसके अनुलाग-संबंध पर निर्भर होना होगा, बल्कि इस बात पर भी कि वे अन्य प्रतिज्ञप्तियाँ क्या हैं, अर्थात् इसपर भी कि वे स्वतंत्र रूप से स्वीकार्य हैं या नहीं।

7. एक और कठिनाई : स्वयं इस सिद्धांत की और तर्कशास्त्र के नियमों की क्या स्थिति है ?

इसी प्रकार, इस सिद्धांत में एक कठिनाई आधारभूत सिद्धांतों, जैसे स्वयं इस सिद्धांत का कथन और तर्कशास्त्र के नियम, को लेकर उठती है। उदाहरणार्थ, यह कथन कि किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता उसके परस्पर ससक्त प्रतिज्ञप्तियों की एक समष्टि का सदस्य होने में है, इस बात को पहले से मान लेता है कि तर्कशास्त्र के नियम स्वतंत्र रूप से सत्य होते हैं। निस्संदेह ये नियम अन्य सभी सत्य प्रतिज्ञप्तियों से संसक्त होते हैं, परंतु यह अर्थ हमारे ऐसा कहने का बिल्कुल भी नहीं है कि तर्कशास्त्र के नियम सत्य होते हैं, और यदि हम कोई ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ न सोच पाएं जो सत्य हों तो इतने मात्र से हम यह नहीं कह सकते कि वे असत्य हैं। वास्तव में 'संसक्तता' और 'असंसक्तता' के अर्थ में ही यह बात गर्भित है कि व्याघात इत्यादि

1. ब्लेन्शर्ड, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० 276।

के नियम स्वतत्र रूप से सत्य है। यह सिद्धान जिस अर्थ में चाहता है उसी अर्थ मे दो प्रतिज्ञप्तिया असमक्त तब होती है जब वे ऐसी हो कि एकसाथ सत्य न हो सकती हो। परतु असक्तता का स्वरूप बतानेवाले इस कथन मे ही हम व्याघात के नियम का आश्रय ले रहे है, क्योंकि हम कह रहे है कि प्रतिज्ञप्तियो के कोई जोडे ऐसे होते है कि दोनो एकमाथ सत्य नही हो सकती। और यह दलील वैध नही है कि हम ऐसे नियमो को अपने सामक्त तत्र की अनिवार्य शर्त सिद्ध कर सकते है, क्योकि यद्यपि उन्हें हम (या किसी भी अन्य) तत्र मे ससक्त दिखाकर हम उन्हे सिद्ध करते प्रतीत हो मकते है, तथापि वास्तव मे हम एक और नियम का उपयोग कर रहे होते हैं, जो यह है कि जो किसी ससक्त तत्र की अनिवार्य शर्त है वह सत्य है। परंतु मात्र समक्तता-परीक्षण से हम कैसे जान सकते है कि वह स्वय भी सत्य है?

8. ससक्तता के दो भिन्न प्रकारों को उलझाया जा रहा है।

अंत मे, ऐसा लगता है कि "संसक्तता" शब्द का प्रयोग हमेशा एकही सबध के लिए नही किया जाता, हालाकि यह सिद्धात यह कहता है या यह मानकर चलता है कि यह हमेशा एक ही सबध का नाम होता है। यह सिद्धात कहता है कि जो असंसक्त है वह सत्य नहीं हो सकता। परतु कोई भी प्रतिज्ञप्ति अकेली ससक्त या असंसक्त नही हो सकती, क्योंकि संसक्तता एक ऐसा संबंध है जिसे कम से कम दो पदो की जरूरत होती है। एक प्रतिज्ञप्ति सत्य हो सकती है यदि वह कुछ प्रतिज्ञप्तियो से असंसक्त हो, हालाकि उस दशा मे नही जब वह कुछ अन्य प्रतिज्ञप्तियों से असंसक्त हो। निश्चय ही, संसक्तता सत्यता की एक उपयोगी और विश्वसनीय कसौटी है, बशर्ते उसे एकमात्र कसौटी न माना जाए। यह सिद्धात (अ) एक प्रतिज्ञप्ति और प्रतिज्ञप्तियों की एक समष्टि के बीच के ससक्तता-सबध को (ब) एक प्रतिज्ञप्ति और प्रेक्षण के बीच के ससक्तता-सबध के साथ उलझाकर स्वयं इस महत्व की बात को टाल देता लगता है।

यह कतई प्रकट नही है कि दोनो मामलो मे संबंध वही है, भले ही यह भी मान लिया जाए कि प्रेक्षण स्वरूपत: प्रतिज्ञप्तिमय होता है। हम (अ) मे बताए परीक्षण को काफी अधिक अवसरो पर अपनाते है, परतु उससे प्राप्त नतीजों को विश्वसनीय केवल इसलिए मानते है कि अंत मे वह (ब) मे दिए परीक्षण पर आश्रित होता है। (अ) के अतर्गत एक प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार मात्र इसलिए नही किया जाता कि अन्य प्रतिज्ञप्तियो की एक समष्टि है, जिनसे वह अनुलग्न है या जो उसे प्रसंभाव्य बनाती हैं, बल्कि इसलिए किया जाता है कि वे प्रतिज्ञप्तियाँ स्वयं अथवा उनकी

आधारभूत अन्य प्रतिज्ञप्तियां (ब) के अंतर्गत स्वीकार की गई हैं। यह सिद्धात इससे इन्कार नहीं करेगा—असल मे जैसा कि हमने पिछले उद्धरण मे देखा था, वह इस पर ज़ोर देता है—परतु वह यह मानता प्रतीत होता है कि दोनो मामलो मे सबध एक ही है। लेकिन

(i) प्रतिज्ञप्ति "यह चन्द्रिका लाल है," और

(ii) लाल चन्द्रिका का प्रेक्षण

के बीच का संबंध निश्चय ही

(i) प्रतिज्ञप्ति "यह चन्द्रिका लाल है," और

(iii) प्रतिज्ञप्ति यह चन्द्रिका या तो लाल है या लाल नही है, और यह लाल नही नही है" के बीच के सबध से बहुत भिन्न है।

(iii से तर्कत (i) अनुलग्न है, और यह कहने का कि (i) (iii) से ससक्त है, यही अर्थ है। परंतु (ii) मे तर्कत (i) अनुलग्न नहीं है, क्योकि प्रेक्षण चाहे कितना ही प्रतिज्ञप्तिमय हो, उनसे कोई चीज अनुलग्न नही होती।[1] दूसरी ओर, यदि

(ii) लाल चन्द्रिका का प्रेक्षण, और

(iv) यह तथ्य कि चन्द्रिका लाल है,

के बीच अतर किया जाता है, तो इस सिद्धात के अनुसार हमे यह कहना पडेगा कि (iv) सिद्धान्तत: अप्रेक्षणीय है, और तब हमारे पास यह मानने का कोई आधार नहीं होगा कि (i) और (iv) का सबध थोडा भी (i) और (iii) के सबंध की तरह है, और फलत: उन्हे 'ससक्तता' का एकही नाम देना निराधार होगा। वास्तव मे, यहां भी फर्क नाममात्र का ही रहेगा, क्योकि तब ससक्तता और सवाद के दोनो ही सिद्धात प्रतिज्ञप्ति और तथ्य के बीच एक रहस्यमय सबध होगे, और प्रत्येक उसे एक निजी नाम देता होगा।

---

1. इस बात से कि सत्यापन प्रतिज्ञप्तिमय होता है, यह सिद्ध नहीं होता कि वह सत्यापन जिसका करना है उस प्रतिज्ञप्ति के तथा पहले से स्वीकृत प्रतिज्ञप्तियों की एक समष्टि के बीच संसक्तता का संबंध ढूंढ लेना है। वह तब भी प्रतिज्ञप्ति के और सत्यापन करनेवाला प्रेक्षण जिस बात को ढूंढता है उसके बीच का संबध होगा। जो कुछ वह ढूंढता है वह केवल पिछले अनुभव की रोशनी मे ही समझ मे आ सकेगा परंतु वह वही नहीं है जो पिछला अनुभव है; और पिछले अनुभव के सहित सब अनुभव से भिन्न किसी चीज़ का अनुभव होता है।

9. सत्यता प्रतिज्ञप्ति और तथ्य का तादात्म्य है ।

दो मुख्य सिद्धान्तों की इस लंबी चर्चा से, जो खण्डनात्मक ही अधिक लगती है, भावात्मक परिणाम क्या निकलता है ? दोनों ही सिद्धांत इस बात में एकमत हैं कि सत्यता एक प्रतिज्ञप्ति (समंजसता-सिद्धांत में प्रयुक्त 'निर्णय') का इस प्रसंग में वही अर्थ लेते हुए जो 'प्रतिज्ञप्ति' का है और किसी अन्य चीज का एक संबंध है। (अ) वह संबंध क्या है और (ब) यह संबंध प्रतिज्ञप्ति को किस चीज से जोड़ता है, इन दो प्रश्नों को लेकर उनमें कहां तक मतभेद है, यह बात उतनी स्पष्ट नहीं जितनी जितनी इन सिद्धांतों के समर्थक चाहते हैं कि हम विश्वास करें। दोनों ही सिद्धांतों के सामने मूल दुःस्थिति यह थी कि कैसे एक प्रश्न का संतोषप्रद उत्तर इस प्रकार दिया जाए कि दूसरे का एक संतोषप्रद उत्तर देना असंभव न बन जाए। यदि समंजसता-सिद्धांत सत्यापन के रूप को विशुद्ध प्रतिज्ञप्तिमय बना देता है तो वह सत्यता का संबंध क्या है, इस प्रश्न का स्पष्ट रूप से यह उत्तर देने में समर्थ हो सकता है कि वह अपने विशुद्ध रूप में दो प्रतिज्ञप्तियों के पारस्परिक अनुलाग का तार्किक संबंध है, पर तब वह एक ऐसा उत्तर दे रहा होगा कि जिनसे हम प्रतिज्ञप्तियों के दायरे से बाहर कदापि नहीं निकल पाएंगे, और द्वैतवाद की कठिनाइयां एक बार फिर हमें घेर लेंगी। दूसरी ओर, संवाद-सिद्धांत के सामने समस्या यह थी कि प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों के बीच के अंतर को स्पष्ट कैसे करना है ताकि बाद में यह स्पष्ट किया जा सके कि जब प्रतिज्ञप्तियां सत्य हों तब उनके बीच होनेवाला संवाद-संबंध क्या होगा। यह बात काफी स्पष्ट है कि पर्याप्त रूप से पहले बताई जा चुकी वजहों से, खास तौर से इस वजह से कि विपर्यय और असत्य प्रतिज्ञप्तियों की संभावना के लिए गुंजाइश रखनी है, कुछ अंतर करना आवश्यक था। परन्तु क्या यह बात हमें एक बार फिर प्रतिज्ञप्ति और तथ्य के द्वैत में, दो क्षेत्रों के पूर्ण पार्थक्य में वापस ले जाती है ? यद्यपि हमें अवश्य ही विपर्यय के लिए गुंजाइश रखनी होगी, क्योंकि दुर्भाग्य-वश वह काफी वास्तविक है, तथापि मुझे इस बात में संदेह है कि उसके लिए गुंजाइश रखने के लिए हमारा संवाद-सिद्धांत के द्वारा अभिगृहीत प्रतिज्ञप्ति और तथ्य के विच्छेद को मानना जरूरी हो जाता है।

संवाद की योजना को संक्षेप में इस प्रकार बताया जा सकता है :

(i) निर्णय की, जिसमें असत्य निर्णय भी शामिल है, संभावना के लिए हमें प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों की आवश्यकता होती है।

(ii) सत्यता ऐसा कोई संबंध होगा जो अवश्य ही सत्य प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों के मध्य होता है, परंतु जो असत्य प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों के मध्य नहीं होता।

(iii) वह इष्ट संबंध संवाद है।

मैं (i) और (ii) को स्वीकार करूँगा, परंतु (iii) के बारे में यह कहूँगा कि वह अनावश्यक और असत्य दोनों ही है, और कि इसके बजाय संबंध साधियन तादात्म्य का सरल संबंध है (तादात्म्य को इन प्रयोजनों के लिए एक संबंध मानते हुए)। हम पूछ सकते हैं कि एक सत्य प्रतिज्ञप्ति और तथ्य में क्या अंतर है? उदाहरण के लिए, "बिल्ली चटाई पर बैठी है," इस वाक्य में व्यक्त प्रतिज्ञप्ति और इस तथ्य के बीच क्या अंतर है कि बिल्ली चटाई पर बैठी है? हमें सत्य प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों दोनों की क्या जरूरत है? केवल तभी जब हम दोनों को मानते हों, हमें दोनों को बांधने के लिए किसी संबंध की तलाश शुरू करनी पड़ती है। और मुझे तो यह आशंका है कि हम दोनों की जरूरत केवल इसलिए समझते हैं कि हम यह मान लेते हैं कि प्रतिज्ञप्तियां कहलानेवाली चीजों का अस्तित्व है और तथ्य कहलानेवाली चीजों का भी अस्तित्व है। हम पहले ही देख चुके हैं कि यद्यपि निर्णय के विषय को प्रतिज्ञप्ति कहना सुविधाजनक होता है (अध्याय 5), तथापि इससे हमारे लिए यह मानना जरूरी नहीं हो जाता कि प्रतिज्ञप्तियां नाम की विशेष वस्तुओं का अस्तित्व होता है, और यह भी देख चुके हैं कि जो सिद्धांत उनका अस्तित्व मानता है वह गंभीर कठिनाइयों में फंस जाता है। तब, यदि प्रतिज्ञप्ति-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, तो संवाद का संबंध जिसे सत्यता का स्वरूप बताया गया है, बहुत ही रहस्यात्मक किस्म का होगा।

यहां हमें यह बताने में कि एक सत्य प्रतिज्ञप्ति और एक तथ्य में कोई अंतर नहीं होता, यह आपत्ति स्पष्ट रूप से बाधक जान पड़ती है कि यद्यपि जानने-वाली बुद्धियों के अभाव में सत्य प्रतिज्ञप्तियां तो क्या, कोई भी प्रतिज्ञप्तियां न हुई होतीं, जैसा कि पहले माना जा चुका है, तथापि तथ्यों का तो अस्तित्व हुआ ही होता, अर्थात् यह कि प्रतिज्ञप्तियां मन पर आश्रित होती हैं जबकि तथ्य नहीं होते। परंतु क्या यह बात वास्तव में इतनी साफ है कि तथ्य मन से स्वतंत्र होते हैं? निश्चय ही हम साधारणतः प्रत्ययवाद के उस रूप को नहीं मानते जो विशेषतः बर्कली के नाम के साथ जुड़ा हुआ है, और हम मानते हैं कि यदि एकाएक दुनिया में सभी मनों का अस्तित्व समाप्त हो जाए, तो भी अनेक चीजें ठीक वैसे ही होती रहेंगी जैसे वे अब होती हैं। बिल्ली तब भी चटाई पर बैठी रहेगी, उष्ण प्रदेशों में सूर्य तब भी समुद्र-तल पर बर्फ को पिघलाता रहेगा, और यदि एक पेड़ में पहले

दो सेब गिरे और उनके बाद एक और गिरे तो कुल तीन सेब पेड़ से गिर चुके होंगे। अर्थात्, हम मानते हैं कि घटनाओं का होना जारी रहेगा, और कि अनेक घटनाएं समान लक्षणों को, स्वयं को दोहरा सकनेवाले नमूनों इत्यादि को, प्रकट करती रहेंगी। इस अर्थ में तथ्य मन पर आश्रित नहीं होते।

परंतु यहां 'तथ्य' शब्द के हमारे प्रयोग का ढीलापन सामने आता है जो भयावह है लेकिन शायद सुविधाजनक भी है। जब हम यह कहते हैं कि तथ्य मन पर आश्रित नहीं हो सकते क्योंकि किसी मन के न होने पर भी अनेक तथ्य पूर्ववत् चलते रहेंगे, तब क्या हमारा मतलब यह होता है कि इस समय होनेवाली अनेक घटनाएं जिन प्राकृतिक प्रकारों की है उन्हीं से संबंधित अनेक घटनाएं होती रहेंगी? या हमारा मतलब यह है कि कुछ प्रतिज्ञप्तियां, यदि उन्हें रचा जाए तो, सत्य होंगी? प्राक्कल्पनातः उन्हें रचा ही नहीं जा सकता, क्योंकि उन्हें रचनेवाले मनों का अस्तित्व ही नहीं रहा, परंतु इससे इस कथन की सत्यता (या असत्यता) पर कोई आंच नहीं आती कि यदि उन्हें रचा जाए तो वे सत्य होंगी। पहले मामले में, यह कहने में कि कुछ तथ्य मन से स्वतंत्र होते हैं हमारा मतलब यह होता है कि कुछ घटनाएं मन में स्वतंत्र होती हैं, और दूसरे मामले में, हम कह रहे हैं कि एक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता उसे रचनेवाले मन से स्वतंत्र किसी बात पर आश्रित होती है। पहले मामले में एक प्रतिज्ञप्ति और एक तथ्य में जो अंतर बताया गया है वह एक प्रतिज्ञप्ति और एक घटना का अंतर बन गया है, जिससे इन्कार नहीं किया गया है पर जो यहां अप्रासंगिक है; और दूसरे मामले में बताया हुआ अंतर अवास्तविक देखा गया है। अथवा, तथ्यों को अपाकर्षणों के रूप में भी बताया जा सकता है, घटनाओं से अपाकृष्ट नहीं, क्योंकि वे स्वयं भी अपाकर्षण हैं, बल्कि विश्व-इतिहास के संपूर्ण प्रक्रम से अपाकृष्ट; और तब असत्य प्रतिज्ञप्तियां निर्णय करनेवाले मन के द्वारा गलत रूप में संयुक्त तथ्यों के अंश होंगी तथा सत्य प्रतिज्ञप्तियां सही रूप से संयुक्त तथ्यों के अंश होंगी।

हम निस्संदेह 'तथ्य' शब्द को भाषा से बिल्कुल निकाल सकते हैं और उनकी जगह पर उससे कुछ लंबे पद 'सत्य प्रतिज्ञप्ति' का प्रयोग कर सकते हैं। 'तथ्य' और 'सत्य प्रतिज्ञप्ति' निश्चय ही तर्कतः तुल्य हैं, जिसका मतलब यह है कि जब भी एक का प्रयोग करनेवाला कथन सत्य होता है तब दूसरे का प्रयोग करनेवाला कथन भी सत्य होता है। परंतु जब दो प्रतिज्ञप्तियां प और फ तर्कतः तुल्य होती हैं, अर्थात् जब प से फ और फ से प अनुलग्न होती हैं, तब यह जरूरी नहीं होता कि प और फ का एकही अर्थ हो, कि वे दो प्रतिज्ञप्तियां नहीं

हैं बल्कि एक है। हमारी समस्या यह है : यह पता रहने पर कि 'तथ्य' और 'सत्य प्रतिज्ञप्ति' तर्कतः तुल्य हैं (अर्थात् यह कि एक का प्रयोग करनेवाले किसी भी कथन से दूसरे का प्रयोग करनेवाला कथन अपेक्षित सबंध की दृष्टि से सवाद रखता है) क्या हम यह भी कह सकते हैं कि वे एकात्म हैं? साधारण प्रयोग में वे निस्सदेह एकात्म हैं, इस बात में कि जब भी हम कहते हैं कि कोई बात एक तथ्य है तब हम अर्थ को न बदलते हुए यह भी कह सकते हैं (और प्राय कहते हैं) कि वह सत्य है (अथवा, अधिक तकनीकी रूप में, एक सत्य प्रतिज्ञप्ति है)। "क्या यह एक तथ्य है कि हिटलर मर गया है?" और "क्या यह सत्य है कि हिटलर मर गया है?" इन दो वाक्यों में अथवा "स्पष्ट तथ्य यह है कि मैं बर्बाद हो गया" और "स्पष्ट सत्य यह है कि मैं बर्बाद हो गया," इन दो वाक्यों में, अथवा "मैं इसे एक तथ्य जानता हूं कि मेरे बटुए में एक-एक रुपए के छः नोट थे" और "मैं इसे सत्य जानता हूं कि मेरे बटुए में एक-एक रुपए के छः नोट थे," इन दो वाक्यों में क्या अंतर है?

'तथ्य' और 'सत्य प्रतिज्ञप्ति' ('सत्य', 'सत्यता'), जैसा कि हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं, सामान्यतः *वर्णनात्मक* अर्थ में अभिन्न होते हैं, अर्थात् जो बात एक के प्रयोग से कही जाएगी वह वही होगी जो दूसरे के प्रयोग से कही जाएगी। 'तथ्य' की जगह 'सत्य' को और 'सत्य' की जगह 'तथ्य' को रख देने से प्रसग के अनुसार वाक्यों का *संवेगात्मक* अर्थ बदल सकता है। यदि मैंने जो कहानी आपको बताई है उस पर आपको सदेह है और मैं उसकी सत्यता का आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ, तो मैं शायद 'तथ्यों' की बात करूंगा, जैसे कि मानो इससे मैं यह प्रकट करूंगा कि जिसे आप सदेहास्पद मान रहे हैं वह मेरा कोई निजी मत नहीं है (जो कि असत्य भी हो सकता है), बल्कि ऐसा कुछ है जो वास्तव में घटित हुआ है और मेरी निजी और शकास्पद रायों से बिल्कुल स्वतंत्र है। सामान्य रूप से 'तथ्य' शब्द से सख्ती और अपरिहार्यता झलकती है, जिससे ऐसे प्रसगों में प्रयोग के लिए जब हम अपने कथन की सत्यता पर जोर देना चाहते हैं, यह एक उपयोगी शब्द बन जाता है। दूसरी ओर, ऐसे प्रसग भी हो सकते हैं (और मेरी समझ से होते ही हैं) जिनमें जोर अधिक प्रभावकारी ढग से 'तथ्य' के बजाय 'सत्य' का प्रयोग करने से प्रकट होता है। परंतु मुख्य बात यह है कि अंतर केवल ज़ोर का होता है, दोनों ही मामलों में कही जानेवाली चीज एक ही होती है, और यदि हम जोर को दुगुना करना चाहते हैं तो हम "वस्तुतः और सचमुच", यह संयुक्त प्रयोग कर सकते हैं। बोलचाल में किसी कथन की सपुष्टि

करवाने के लिए हम "वास्तव में ?", "क्या ऐसी बात है ?", "क्या यह सच है ?" इत्यादि पूछते हैं।

10 प और प सत्य है में अंतर

यह निष्कर्ष कि एक सत्य प्रतिज्ञप्ति एक तथ्य से अभिन्न होता है और कि इसलिए सत्यता उनके मध्य संवाद-जैसा कोई संबंध नहीं हो सकती, एक थोड़े भिन्न तरीके से प्रकट किया जा सकता है। क्या "प सत्य है" कहने से प के कथन में कोई नई बात जुड़ जाती है ? उदाहरणार्थ, "बिल्ली चटाई पर बैठी है" और "यह सत्य है कि बिल्ली चटाई पर बैठी है" में क्या अंतर है ? ज्यादातर मामलों में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों कथनों से मेरा मतलब हूबहू वही होता है, और दूसरे कथन में 'सत्य है' जोड़ना मेरे इस कथन पर जोर देने के लिए है कि बिल्ली चटाई पर बैठी है। (जब आप संदेह प्रकट करते हैं और मैं जोर देकर कहता हूं "पर यह सत्य है, मैं आपको बताता हूं" तो मैं किस बात का आग्रह करता हूं ? निश्चय ही इस बात का कि बिल्ली चटाई पर बैठी है, अथवा, यदि आपको पसंद हो तो, इस बात का कि बिल्ली चटाई पर *बैठी है*।) फिर भी, मुझे इस बात का पक्का निश्चय नहीं है कि कुछ मामलों में प और "प सत्य है" भिन्न अर्थ नहीं रखते, और कि बहुत-से लोगों का यह मानना कि वे सदैव भिन्न होते हैं, और फलत उनका एक में कथित और दूसरे में अकथित संवाद या ससक्तता के संबंध को ढूंढना, इस बात की वजह से नहीं है। जब मैं कहता हूँ "प" तब मैं सदैव प का अभिकथन करता हूँ। जब मैं कहता हूँ "प सत्य है," तब मेरा मतलब यह हो सकता है कि "यदि आप प का अभिकथन करते हैं, तो जिसका आप अभिकथन करते हैं वह सत्य है," अथवा यह कि "यदि आप उसका अभिकथन करना चाहते हैं जो सत्य है, तो आप प का अभिकथन कीजिए।" कहने का मतलब यह है कि पहले मामले में तो मैं वास्तव में प का अभिकथन कर रहा हूँ, जबकि दूसरे मामले में मैं प के बारे में एक प्रतिज्ञप्ति का अभिकथन कर रहा हूँ, अर्थात् एक द्वितीयकोटिक प्रतिज्ञप्ति का अभिकथन कर रहा हूँ।

यद्यपि ऐसी द्वितीयकोटिक प्रतिज्ञप्तियों का इस्तेमाल अन्यों की अपेक्षा दार्शनिकों के द्वारा अधिक किया जाता है, तथापि हम अवश्य ही अदार्शनिकों की हैसियत में भी कभी-कभी उनका इस्तेमाल करते हैं, जैसे बात को शिष्ट बनाने के लिए उसे घुमा-फिराकर कहने में या वहाँ सत्य की ओर संकेत करने में जहां सीधी बात कहने में हिचकिचाहट हो, उदाहरणार्थ "यदि आप ... कहें तो ..."

अधिक गलत नहीं होगा," इत्यादि। इस प्रयोग में भी, जिसमें प और "प सत्य है" अभिन्न नहीं हैं, ये फिर भी तर्कतः तुल्य हैं। लेकिन चूंकि ये सदैव अभिन्न नहीं होते, इसलिए हम सरलता के साथ यह नहीं कह सकते कि 'सत्य' और 'असत्य' शब्द किसी गुण के सूचक नहीं होते बल्कि वाक्य में केवल विधान और निषेध के सूचकों का काम करते हैं"।[1] "प सत्य है" के दूसरे प्रयोग में हम मात्र प का अभिकथन नहीं करते होते अथवा केवल यह भी अभिकथन नहीं करते होते कि 'यदि आप प का अभिकथन करते हैं तो जिसका आप अभिकथन करते हैं वह वही है जिसका मैं अभिकथन करता हूँ।" हम एक प्रतिज्ञप्ति और एक तथ्य, जो प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनाता है, के तादात्म्य की ओर ध्यान खींचते होते हैं, और यह ऐसी चीज है जिसे हम प का अभिकथन करते समय या पहले प्रयोग में "प सत्य है," यह अभिकथन करते समय नहीं करते होते।

निषेधक प्रतिज्ञप्तियों, न-प या "प असत्य है," की भी इसी तरह की व्याख्या दी जा सकती है। दूसरी का या तो हूबहू वही मतलब होगा जो पहली का, और उस दशा में, मैं समझता हूँ वह प के बारे में कोई अभिकथन नहीं करती होगी, बल्कि भिन्नता का संबंध बताती होगी (जैसे 'क ख नहीं है' का मतलब है "क ख से भिन्न है"), अथवा वह एक द्वितीय-कोटिक प्रतिज्ञप्ति होगी जिसका अर्थ होगा, "यदि आप न-प का अभिकथन करते हैं तो जिसका आप अभिकथन करते हैं वह सत्य है" या "यदि आप प का अभिकथन करते हैं तो जिसका आप अभिकथन करते हैं वह असत्य है"।

संक्षेप में, प सत्य है यदि प है और यदि केवल प है। "बिल्ली चटाई पर बैठी है," यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है यदि बिल्ली चटाई पर बैठी है और यदि केवल बिल्ली चटाई पर बैठी है, और यदि बिल्ली चटाई पर बैठी है, तो यह प्रतिज्ञप्ति कि वह वहाँ बैठी है इस तथ्य से भिन्न नहीं है कि वह वहाँ बैठी है। यदि सत्यता-विषयक इतने भारी-भरकम सिद्धांतों के प्रस्तुत किए जाने और उन पर वाद-विवाद किए जाने के बाद सत्यता की समस्या का यह समाधान निराशाजनक रूप से सीधा प्रतीत होता है, तो दोष उन सिद्धांतों को बनानेवालों का है जिन्होंने समस्या को पैदा किया और उसे फुलाकर वह रूप दे दिया जो सबको ज्ञात है। सत्यता के बारे में एक समस्या अब भी बाकी है लेकिन वह वह नहीं है जिसे प्रारंभ में हमने अपने सामने पाया था। अब प्रश्न यह नहीं है कि एक प्रतिज्ञप्ति सत्य कब होती है,

---

1. ए० जे० एयर, लैंग्वेज, ट्रुथ ऐंड लॉजिक, पृ० 122

बल्कि यह है कि *हमें उसमें विश्वास कब करना है, अर्थात् प्रश्न सत्यता के स्वरूप* के बारे में नहीं बल्कि उसे जानने के उपाय के बारे में, स्वीकृति के मानकों के बारे में, सत्यापन के बारे में है। इस प्रश्न के दो पक्ष हैं : (अ) विश्वास (और अविश्वास) तथा ज्ञान का विश्लेषण और उनका अंतर; तथा (ब) किसी विश्वास की वैधता की शर्तें। इनमें से (ब) आगमनमीमांसा से संबंधित है और इस पुस्तक के दायरे से बाहर है, तथा (अ) की चर्चा हम अगले अध्याय में कर रहे हैं।

अष्टम अध्याय

जानना और विश्वास करना

१. ज्ञान और विश्वास का परंपरागत अंतर

दर्शन मे इस धारणा का एक लंबा इतिहास रहा है कि हमारी संज्ञानात्मक क्रियाएँ एक-दूसरे से आधारभूत भिन्नता रखनेवाले प्रकारो मे साफ-साफ विभक्त की जा सकती है, जैसे एक ओर जानना और दूसरी ओर विश्वास करना, और इसकी परंपरा उतनी उलट-फेर वाली नही रही जितनी इतनी ही पुरानी अधिकतर दार्शनिक धारणाओ की रही। परंपरागत मत के अनुसार, जो कि प्लेटो मे शुरू हुआ, ज्ञान और विश्वास मानसिक शक्तियां है, और प्रत्येक अपने प्रकार की अकेली है। जैसे प्रेम और मैत्री को एक-दूसरे के द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता, वैसे ही इनको भी नही। ये प्रेम और मैत्री की तरह ही परस्पर संबद्ध है, और प्रत्येक संशय या प्रेम या इच्छा की अपेक्षा दूसरे के अधिक निकट है। वे परस्पर समान इस बात मे है कि एक आदमी जो कुछ जानता है उसे वह एक विधायक या निषेधक वचन मे व्यक्त करता है और जो कुछ वह विश्वास करता है उसे भी इसी रूप मे व्यक्त करता है। फिर, एक आदमी के अनेक कथनो से कोई आगे सवाल पूछे बिना यह नही बता सकता कि जो कुछ वह कहता है वह ऐसी बात है जिसे जानने या जिस पर विश्वास करने का वह दावा करता है।

यदि एक आदमी बहुत ही सावधान हुआ तो वह कहेगा, "मै जानता हूँ कि वर्षा हो रही है" (और शायद यहा भी वह काफी सावधान नहीं है), या "मुझे विश्वास है कि 'तूफान' दौड मे प्रथम आएगा", परंतु अधिक प्राय वह यह कहेगा, "वर्षा हो रही है" या " 'तूफान' दौड मे प्रथम आएगा"। तो, ज्ञान और विश्वास परस्पर इस बात मे सादृश्य रखते है कि जो जाना जाता है या विश्वास किया जाता है वह सामान्यतः एक विधायक या निषेधक वचन (" 'बिजली' ने 'तूफान' मे जीतने

की आशा नही है") मे व्यक्त किया जा सकता है, जिसमे 'जानना' या 'विश्वास करना' या इनके किसी पर्याय का प्रयोग नही होता। दूसरी ओर, सशय को (किसी भी विकल्प से अपने को बाँधना न चाहने के अर्थ मे) यह कहे बिना कि "मुझे सशय है.... ", अथवा इसी तरह का काम करनेवाली ऐसी पदावली का प्रयोग किए बिना जैसे "हो भी सकता है और नहीं भी," "शायद", 'सभवतः" इत्यादि, व्यक्त नही किया जा सकता।

परतु यद्यपि इस बात मे वे समान है (इस बात को मोटे तौर पर दोनो ही को निर्णय-शक्तियाँ कहकर प्रकट किया जा सकता है), तथापि दोनो ज्ञान और विश्वास, को अन्यथा प्रकारत भिन्न माना गया है। हम उन्हे अभिन्न समझने की गलती कर सकते है, और करते ही है, क्योकि एक आदमी यह मान सकता है कि वह जानता है जबकि असल मे वह जानता नही है, परंतु फिर भी इस मत के अनुसार वे एक अकेले पैमाने के ऐसे समीपवर्ती अश नही है कि एक का सीमा-रेखा के, जो अस्पष्ट, बदलती रहनेवाली, और परिपाटी के द्वारा निश्चित हो सकती है, दूसरी ओर स्थित दूसरे अश मे विलय हो जाए। उनमे ठीक-ठीक क्या अतर है, इस बारे मे उन्हे प्रकार की दृष्टि से भिन्न क्रियाएँ माननेवाले दार्शनिकों का विचार सदैव उतना स्पष्ट या सहायक नही रहा जितना अपेक्षित था। उदाहरणार्थ, यह कहना कि जानने मे मन तथ्यो को ग्रहण करता है लेकिन विश्वास करने मे उसके विषय प्रतिज्ञप्तिया होते है, बिल्कुल भी जानकारी को बढाने वाला नही है, जैसा कि तथ्यो और प्रतिज्ञप्तियों की हमारी पिछली चर्चा से प्रकट हो गया होगा, और यह बताने का एक घुमावदार तरीका मात्र है कि जानने मे एक आदमी जानता है लेकिन विश्वास करने मे वह विश्वास करता है।

यह तो नहीं कह सकते कि यह अतर सभी ने माना है, पर मुख्यतः यह माना गया है और यह भी प्लेटो से ही चला है जिसने यह माना था कि किसी आदमी को ज्ञान केवल अनिवार्य सत्यों का, जैसे गणित या तर्कशास्त्र के सत्यो का, ही हो सकता है, जबकि शेष सब बातें अधिक से अधिक विश्वास के विषय ही हो सकती है। तदनुसार मैं यह जान सकता हूँ कि एक ही आधार-रेखा वाले और एक ही समातर रेखाओ के मध्य स्थित दो त्रिभुज क्षेत्रफल मे तुल्य होते है, और मैं यह जान सकता हूँ कि यदि अ ब से बडा है और ब स से बडा है, तो अ स से बडा है। यह माना जाता है कि ये अनिवार्य सत्य है जिनके अन्यथा होने की कल्पना नहीं की जा सकती, और जिन्हे समझने मात्र से कोई भी यह देख सकेगा कि वे अनिवार्यतः सत्य है। दूसरी ओर जो आम तौर पर ज्ञान बताया जाता है वह अधिकाश मे

यथार्थत ज्ञान बिल्कुल होना ही नहीं—जैसे ये विशिष्ट बातें कि आप इस समय मेरे द्वारा लिखी हुई किताब पढ रहे है, कि आपने आज सुबह नाश्ते मे दो प्याले चाय पी थी, और कि 1950 मे ईस्टर का रविवार अप्रैल की नौ तारीख को पडा था, और जैसे ये सामान्य बातें कि खिड़की से बाहर फेंकी गई बोतलें नीचे गिरती है न कि ऊपर उठती है (अथवा इससे भी अधिक सामान्य यह बात कि भौतिक वस्तुए एक-दूसरी को आकर्षित करती है), कि रेलगाड़ी मे अनावश्यक रूप से जजीर को खीचना दडनीय अपराध है और कि अधिकतर क्रिकेट के खिलाड़ी दाहिने हाथ से बल्ला मारते है।

ये प्रतिज्ञप्तिया ज्ञान के विषय नही है इसलिए नहीं कि वे सत्य नहीं है (क्योंकि वे सत्य हो सकती है, और प्रस्तुत सिद्धान्त का उनके सत्य होने से इन्कार करने से मतलब नहीं है) बल्कि इसलिए कि वे आपातिक सत्य है जिनके असत्य होने की कल्पना की जा सकती है। उनके साथ ऐसी कोई गारन्टी नहीं जुड़ी हुई है जो उनके असत्य होने के विरुद्ध शत-प्रतिशत विश्वास दिलाए, और यदि उनका असत्य होना सभव है, भले ही ऐसी सभावना बहुत कम हो, तो वे ज्ञान के विषय नही हो सकती क्योंकि ज्ञान असत्य नहीं हो सकता। आपातिक प्रतिज्ञप्तियों के अनिश्चायक स्वरूप से प्रभावित होकर डेकार्ट ने एक व्यवस्थाबद्ध जाच के द्वारा साहस के साथ ऐसे यथार्थ ज्ञान का पता लगाने का प्रयत्न किया था जो उनकी सपुष्टि करता, परतु वह इसमे बुरी तरह असफल रहा, और इस असफलता के फलस्वरूप ह्यूम ने सब साधारण विश्वासो के अनिश्चायक स्वरूप पर जोर दिया जो प्रत्यक्ष से सबधित समस्याओं को हाल मे जो प्रधानता मिली है बहुत-कुछ उसकी वजह से चला आ रहा है।

ज्ञान और विश्वास वृत्तिया है।

मैं आगे यह सिद्ध करने की आशा करता हूँ कि सज्ञान का ज्ञान और विश्वास इन दो तत्वत. भिन्न प्रकारो मे पारस्परिक विभाजन गलत है और एक बुद्धि-विपर्यय पर आश्रित है। परतु एक अन्य गलती भी इस सिद्धान्त मे बनाई जाती है जिसकी चर्चा मैं नहीं करूंगा, हालाकि अधिक विस्तृत अध्ययन मे उसकी चर्चा को टाला नहीं जा सकता। जानने और विश्वास करने को ऊपर क्रियाए बनाया गया है, और यही या इससे मिलती-जुलती बात ही सामान्यत और शायद अविचारपूर्वक इनके बारे मे कही जाती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि (अथवा यह स्वय ही शायद इस बात का परिणाम है कि) किसी चीज को जानना (और विश्वास करना) एक ऐसा मानसिक काम समझा जाता है जिसका कोई विषय होता है और जो किसी

समय पर किया जाता है। इसका कारण संभवतः यह भी हो सकता है कि चूंकि 'जानना' एक सकर्मक क्रिया है जिसका कोई कर्म होता है, इसलिए हम अपने मन में जानने को उन अन्य कामों के समान समझ बैठते हैं जो स्वयं को कर्म बनानेवाली सकर्मक क्रियाओं के नाम से पुकारे जाते हैं।

उदाहरण के बतौर 'मारना' को लीजिए। यदि हम यह सुनते हैं कि अ ने ब को मारा, तो हम पूछना चाहेंगे कि उसने उसे कब मारा या कितनी देर तक वह उसे मारता रहा। मारना एक घटना या प्रक्रम है, जिसके बारे में यह पूछना उचित होता है कि वह कब हुआ, कब शुरू हुआ, या कितने समय तक चला। परंतु जानने के बारे में हम इस तरह की बातें नहीं पूछ सकते। जानने और विश्वास करने को काम कहना बिल्कुल भी उचित नहीं है। ये असल में वृत्तियां हैं। अर्थात् यदि मैं जानता हूँ कि (और जानता ही हूँ) छ नमें पव्वन होना है या 1948 की फरवरी के अंत में चेकोस्लोवाकिया में साम्यवादी क्रांति सफल हो गई थी, तो इस बात का होना जरूरी नहीं है कि मेरे मन के अंदर इस समय कोई घटना चल रही है या मैं कोई मानसिक काम कर रहा हूँ। मेरी लड़की यह विश्वास करती है कि मैं चीजों की मरम्मत करने में कुशल हूँ, हालांकि इस समय वह यह सोच नहीं रही है। मेरी पत्नी जानती है कि दूध उबलकर आसानी से बाहर गिर जाता है हालांकि वह ऐसा इस समय सोच नहीं रही है और जब वह दूध को उबालती रहती है तब प्रायः कभी भी ऐसा नहीं सोचती।

फिर भी, यह कहने से पूरी बात नहीं आती कि ज्ञान और विश्वास क्रियाएं या अवस्थाएं नहीं हैं बल्कि वृत्तियां हैं, क्योंकि वह भी होता है जिसे पहले-पहल जानना और पहले-पहल विश्वास करना कहते हैं ("मुझे एकाएक पता चला......", "केवल जब उसका मुंह लाल पड़ गया तब मुझे विश्वास हुआ कि वह झूठ बोल रही है" इत्यादि)। अर्थात्, इस तरह के सवाल पूछना मायने रखता है, जैसे "आपने पहले-पहल कब जाना ...?" और "आपने यह विश्वास कब छोड़ा...... ?" और यद्यपि इनका यह अर्थ लगाया जा सकता है कि कुछ वृत्तियां कब शुरू हुईं, तथापि इन वृत्तियों की शुरुआत कुछ घटने से होती है और वह कुछ जिस व्यक्ति के साथ घटता है वह उसके बाद जानता है या किसी विश्वास को छोड़ देता है, जैसे जो महिला अपने ब्लाउज को सफेद समझती थी उसने अपनी पड़ोसिन के ब्लाउज को देखने के बाद ऐसा समझना छोड़ दिया। समझना, विश्वास छोड़ना इत्यादि जो कुछ भी हो, है, वे निश्चय ही मन में होनेवाली कुछ घटनाएं। और इसलिए यद्यपि ज्ञान और विश्वास की वृत्यात्मकता पर जोर देना सही हो सकता है, जैसा कि मैं समझता हूँ है

तथापि इससे वे समस्याए अपने-आप खत्म नहीं हो जातीं जिन्होंने जानने और विश्वास करने को गलती से भिन्न और विशिष्ट प्रकार के काम समझनेवाले दार्शनिकों को परेशानी में डाला था। अतः इस शर्त के साथ और वृत्ति क्या होती है, इस बात का विश्लेषण करने की आवश्यकता के बगैर हम ज्ञान और विश्वास का अंतर निर्धारित करने की मुख्य समस्या में लौट सकते हैं।

3 प्रागनुभविक और इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों का अंतर।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है ज्ञान और विश्वास के प्रकारात्मक भेद पर जोर देने की परंपरा प्रागनुभविक और इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों में अंतर करने की परंपरा से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। इनमें से पहले प्रकार की प्रतिज्ञप्ति ज्ञेय मानी जाती है और दूसरे प्रकार की केवल विश्वसनीय। प्रागनुभविक और इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों के अंतर को और ज्ञान तथा विश्वास के तथाकल्पित अंतर के साथ इसकी संबद्धता को दो तरीकों से प्रकट किया जा सकता है, और ये दोनों ही प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्यता तथा इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों की आपातिकता पर जोर देते हैं। पहला, वह अंतर जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है, यह है कि एक सत्य प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। "3+4=7", इस वाक्य के द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति गणित में इसी प्रकार की एक प्रतिज्ञप्ति है, इस या किसी अन्य दुनिया में किसी ऐसी स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें यह प्रतिज्ञप्ति असत्य हो सकती हो। निस्संदेह हम अपने प्रतीकों में परिवर्तन करके जहां अब तक '4' लिखते थे वहां '2' लिख सकते हैं और इसके बाद "3+2=7" कहना सही होगा। परंतु तब "3+2=7" का मतलब ठीक वही होगा जो "3+4=7" का अब है, न कि वह जो "3+2=7 का इस समय है।

प्रतीकों का पूर्ववत् प्रयोग करते हुए जब हम "3+4=7" कहते हैं तब यह वाक्य एक आवश्यक सत्य को व्यक्त करता है, और तब "7, 3 और 4 का योग नहीं है" कहना आवश्यक रूप से असत्य होगा। दूसरी ओर, पृथ्वी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, यह एक ऐसी प्राक्कल्पना है जिसके असत्य होने की कल्पना की जा सकती है। यह केवल एक इंद्रियानुभविक तथ्य है कि वह उस तरह घूमती है। अर्थात् यह प्राक्कल्पना इतनी अधिक सुस्थापित है कि व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए इसे ज्ञान माना जा सकता है, परंतु अनिवार्यता इसमें नहीं है। हम आसानी से पृथ्वी के पूर्व से पश्चिम की ओर घूमने की कल्पना कर सकते हैं। अर्थात् "3+2

=7" तो केवल हमारे भाषाई प्रयोग में तबदीली होने से सत्य बन सकता है, और तब इस वाक्य के द्वारा प्रकट तथ्य वही होगा जो पहले "3+4=7" के द्वारा प्रकट किया जाता था, परतु "पृथ्वी पूर्व से पश्चिम की ओर घूमती है" पृथ्वी के व्यवहार के बदलने से ही सत्य बन सकता है।

प्रागनुभविक और इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों के अतर पर जोर देने का दूसरा तरीका उन्हे सिद्ध करने के हमारे तरीको के अतर की ओर सकेत करना है। एक बार किसी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को हृदयगम कर लेने के बाद हम उसके समर्थन के लिए और प्रमाण नही खोजते, और वास्तव मे यदि उसका कोई नया उदाहरण या अनुप्रयोग देखने मे आता है तो उसे हम उसके प्रमाण के रूप में बिल्कुल नही लेते। हम यह नही कहेगे कि यदि एक आदमी को तीन और चार बराबर सात के अधिकाधिक मामले मिलते गए है तो उसके 3+4=7 के ज्ञान मे किसी तरह का सुधार हुआ है या वह ज्ञान अधिक प्रमाणित हुआ है। वस्तुतः हम कुछ प्रागनुभविक सत्यो की इस तरीके से जानकारी कर सकते है। उदाहरणार्थ, मुझे पक्का यकीन है कि मैंने यह कि, एक वृत्त के व्यास से उसकी परिधि के किसी बिंदु पर जो कोण बनता है वह समकोण होता है, पहले-पहल अनेक रेखाकृतिया बनाकर और बारबार उनके कोण को नापकर (या अदाज से) सीखा था, और केवल बाद मे समद्विबाहु त्रिभुजो के गुणधर्मो के पहले से सिद्ध ज्ञान का उपयोग करके उक्त निष्कर्ष की उपपत्ति मुझे मालूम हुई थी या मुझे सिखाई गई थी। परतु यूक्लिडी ज्यामिति के अंदर एक बार उपपत्ति के द्वारा इसके सिद्ध हो जाने के बाद मेरे लिए और उदाहरण जुटाने की कोई आवश्यकता नही रहती। जब निष्कर्ष निश्चित हो गया तब नए प्रमाण के सग्रह से उसकी निश्चितता मे कोई वृद्धि नही होगी।

दूसरी ओर, यदि "सब घोडे तृणाहारी होते हैं," इस तरह के किसी इंद्रियानुभविक सामान्यीकरण को हम लें, तो हम देखेंगे कि न केवल यह आगमन से जाना गया था बल्कि यह सिद्ध या प्रमाणित भी केवल आगमन से ही किया जा सकता है। जितने अधिक घोडे हम देखेंगे और उन्हे तृणाहारी पाएंगे, अपने सामान्यीकरण के समर्थन मे उतना ही अधिक प्रमाण हम जुटाएगे और उसकी प्रसभाव्यता उतनी ही अधिक होगी। किसी इंद्रियानुभविक सामान्यीकरण की सत्यता मे हमारा विश्वास अधिक उदाहरणों या अधिक अनुप्रयोगो के सचय मे बढ जाता है, जबकि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति के उदाहरणों या अनुप्रयोगो की वृद्धि से उसमे हमारे विश्वास मे कोई वृद्धि नहीं होती।

4 ज्ञान और विश्वास मे ऐसा अंतर मानना गलत है

अब, इसका ज्ञान और विश्वास की समस्या पर क्या असर पड़ता है ? सिर्फ यह कि इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियो को ज्ञान के विषय इस वजह से नही माना जाएगा कि वे अनिवार्य नही होती और कि उन्हे अधिक से अधिक बहुत ऊची मात्रा वाली प्रसभाव्यताओ के रूप मे ही सिद्ध किया जा सकता है। एक इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति के असत्य होने की सदैव सभावना बनी रहती है, भले ही वह कितनी ही कम हो, और इसलिए हम सचाई के साथ यह नही कह सकते कि उसका हमे ज्ञान है, क्योकि हमने 'ज्ञान' शब्द को केवल निश्चित बातो के लिए, जो असत्य नही हो सकती उनके लिए, रखा है। इस सदेहास्पदता या असत्य होने की सभावना से न केवल "सब घोड़े तृणाहारी होते हैं," इस तरह के सामान्यीकरण, जिनमे यह शामिल रहता है कि भविष्य मे क्या होगा, ग्रस्त होते है, बल्कि सब इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तिया ग्रस्त होती हैं।

यह बात भविष्यविषयक कथनो ("सूर्य कल पूर्व मे उदय होगा") पर जितनी लागू होती है उतनी ही वर्तमानविषयक कथनो ("मै इस समय आक्सफोर्ड मे हू") पर भी लागू होती है, और उतनी ही भूतविषयक कथनो ("रोमेल को रेगिस्तानी फोड़े-फुसिया हो गई थीं") पर भी। आक्सफोर्ड मे मेरी उपस्थिति पर यह इसलिए लागू होती है कि चाहे जितनी अधिक जाँच मे यह निश्चित करने के लिए करू कि मैं आक्सफोर्ड मे हूँ, यह सभावना फिर भी बनी रहती है कि मैं किसी बहुत बड़े धोखे का शिकार बना होऊं, जिसका पता मेरी जाच मे पर्याप्त रूप से नही चलता : जो कुछ मैं जानता हूँ उसके बावजूद *हो सकता है* कि पिछली रात सोते समय किसी मुझको सब बातो मे हू-ब-हू आक्सफोर्ड जैसे बने हुए किसी अन्य शहर मे पहुचा दिया हो। हम यह कि हम जानते है कि रोमेल को रेगिस्तानी फोड़े-फुसिया हो गई थी, इसलिए कहते है कि हमारे पास इस घटना के प्रमाणो का सग्रह है, पर क्या हम वाकई जानते हैं ? ऐसी सभावना भी है कि यद्यपि डाक्टरो के सहित सब सबधित व्यक्तियो का यह यकीन था कि उसे फोड़े-फुसिया हुई, तथापि वे गलती मे रहे हों, क्योकि उसे कोई और ही मिलती-जुलती बीमारी हुई हो, और अन्य सभावनाए भी हो सकती हैं जिनकी सख्या आसानी से बढ़ाई जा सकती है।

इन उदाहरणो से पर्याप्त रूप से वह अतर प्रकट हो जाना चाहिए जिसका ज्ञान और विश्वास के बीच होना कहा जाता है। इस मत के अनुसार ज्ञान उपपत्ति-प्रधान तत्रो तक ही सीमित होता है और वह साध्य है जिसे विज्ञान अपना लक्ष्य बना सकता है, जिसके अधिकाधिक निकट वह पहुँच सकता है पर जिसे वह प्राप्त

कभी न कर सकेगा। विश्वास, चाहे वह आपतिकता और प्रसंभाव्यता के बंधनों से कितना ही हल्का बंधा हो, होता ज्ञान से, जो निश्चितता के दायरे के अंदर पक्का बंद रहता है, वह प्रकारतः भिन्न है।[1]

अब, जैसा कि मैंने पहले कहा था, ऐसा सख्त अंतर गलत है और इसकी वजह एक घपला है जो बड़ी आसानी से किया जा सकता है। क्योंकि ज्ञान उसका होता है जो सत्य है और जिसका असत्य होना असंभव होता है, और क्योंकि एक इन्द्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति का असत्य होना कुछ सम्भव होता है, इसलिए यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि इन्द्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियां ज्ञान के विषय नहीं हो सकतीं, बल्कि अधिक से अधिक केवल सही विश्वास के ही विषय हो सकती हैं। परन्तु इस

---

1. ज्ञान और विश्वास के विरोध को प्रागनुभविक और इंद्रियानुभविक का विरोध माननेवाला यह मत एक अन्य मत से उलझाया जा सकता है जो सब प्रतिज्ञप्तियों को शंकातीत और शंकास्पद में विभाजित करता है। इस मत के अनुसार ज्ञान का क्षेत्र शंकातीत प्रतिज्ञप्तियों का क्षेत्र होगा जिसमें कुछ वे इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियां भी शामिल होंगी जिन्हें मूल, आद्य, आधारिक इत्यादि नामों से पुकारा जाता है। उदाहरणार्थ, यह माना गया है कि यद्यपि मेरा यह कहना हो सकता है कि जो मैं देख रहा हूँ वह एक मेज है, तथापि मेरा यह कहना गलत नहीं हो सकता है कि वह एक मेज की तरह लगता है; अथवा तकनीकी शब्दावली में, यद्यपि मेरा यह मानना गलत हो सकता है कि मैं एक हरी भौतिक वस्तु का प्रत्यक्ष कर रहा हूं तथापि मेरा यह मानना गलत नहीं हो सकता कि मुझे एक हरे इंद्रिय-दत्त का संवेदन हो रहा है। इस प्रकार कुछ इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियां एक प्रकार से अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियां होती हैं (हालांकि तर्कतः अनिवार्य या प्रागनुभविक नहीं), और इनका, पर अन्यों का नहीं ज्ञान होना कहा जा सकता है। इस अंतर के आधार पर ज्ञान या एक प्रकार के ज्ञान (अनानुमानिक परिचय) के विभिन्न सिद्धांत रचे गए हैं। मैं इस अध्याय में उनकी चर्चा इसलिए नहीं कर रहा हूँ कि मैं स्वयं इस अंतर को स्वीकार नहीं करता। शायद यह मानने में मैं जितनी गलती करूंगा कि जो मैं देखता हूँ यह एक मेज है उससे कम गलती यह मानने में करूंगा कि जो मैं देखता हूँ वह एक मेज की तरह है अथवा जो गलती यह मानने में करूंगा कि मैं एक हरी पत्ती देख रहा हूं उससे कम गलती यह मानने में करूंगा कि मुझे एक हरे इंद्रियदत्त का संवेदन हो रहा है। परंतु दोनों ही मामलों में दूसरे विकल्प की कोई विशेष श्रेष्ठता नहीं है। निश्चय ही, यदि मैं अपने बचाव को ध्यान में रखकर इतनी अस्पष्ट बात कहूं कि इंद्रियदत्त हरा है तो मेरे गलत होने की बहुत कम संभावना होगी। परंतु यदि मैं अधिक स्पष्ट बात कहना चाहूं और यह मानूं कि वह मरकत-जैसा हरा है, या फल जैसा हरा है या पत्ते-जैसा हरा है, तो मैं गलत हो सकता हूं और प्रायः होता हूं (और गलत केवल शब्दों के प्रयोग में नहीं)। और यह अनुभव इतना अधिक आम है कि ज्ञानविषयक जो मत इसे अस्वीकार करने पर आश्रित हो उसकी यहां चर्चा न करना ही उचित है।

युक्ति में "संभव" के दो भिन्न अर्थो को परस्पर उलझाया गया है। जिस अर्थ में एक अनिवार्य सत्य का असत्य होना सम्भव नहीं है वह तार्किक रूप से सम्भव होने का अर्थ है; 3+4 का 8 के बराबर होना तार्किक रूप से असम्भव है यदि "3+4=8" को एक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति के रूप में लिया जाए। यदि सब घोड़े तृणाहारी है, और यदि ब्राउन जैक एक घोड़ा है, तो ब्राउन जैक का तृणाहारी न होना तार्किक रूप से असम्भव है। हम यह कि सब घोड़े तृणाहारी हैं, जान सकते हों या नहीं, यह तो हम जान ही सकते है कि यदि सब घोड़े तृणाहारी हैं और ब्राउन जैक एक घोड़ा है तो ब्राउन जैक तृणाहारी है, और यहां हम जो जानते हैं वह प्रागनुभवतः उतना ही अनिवार्य है जितना हमारा यह जानना कि 3+4=7। 'सम्भव" के इस अर्थ में एक इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति का असत्य होना हमेशा सम्भव होता है। यह तार्किक रूप से असम्भव नहीं है कि कल सूर्य पश्चिम में उदय होगा या पानी 50 अंश फारेनहाइट पर जमेगा।

परंतु यद्यपि एक इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्ति का असत्य होना तार्किक रूप से संभव होता है—उसे *इंद्रियानुभविक* प्रतिज्ञप्ति कहने के अर्थ में ही यह शामिल है कि ऐसा संभव है—तथापि संभव का एक और अर्थ है जिसमें कुछ इंद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियों का असत्य होना संभव नहीं होता। इस अर्थ में यह संभव नहीं है कि गांधी की हत्या नहीं की गई थी, कि मैं इस समय आक्सफोर्ड में नहीं हूं, कि सूर्य कल पश्चिम में उदय होगा। एक दूसरा उदाहरण लीजिए : आप मानते हैं कि आप इस समय अपनी कुर्सी पर बैठे इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं, और आपके मन में इसमें संदेह करने की बात पैदा होती है कि आप अपनी कुर्सी पर बैठे इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं। आप इस संदेह का निवारण करने, अपनी बात के गलत होने की संभावना को दूर करने, के लिए क्या करेंगे ? निस्संदेह आप ऐसा करने के लिए अपनी चुटकी काटकर यह जांच करेंगे कि आप जाग रहे हैं, कुर्सी को छुएंगे, उठकर उसे देखेंगे, फिर उसपर बैठ जाएंगे, पुस्तक में से अपनी मुट्ठी गुजारने की चेष्टा करेंगे और ऐसा नहीं कर पाएंगे, सामने बैठे आदमी से पूछेंगे कि क्या यह किताब है, यह कुर्सी है इत्यादि, और जब तक चाहे आप ऐसा करते रह सकते हैं। इन सब परीक्षणों के पूरे होने पर क्या आप फिर भी इस बात में संदेह करेंगे कि यह एक किताब है और यह एक कुर्सी है ? यदि हां, तो आपका संदेह ऐसा नहीं है जिसे कोई भी इंद्रियानुभविक परीक्षण, चाहे वह कितना ही सफल और कितना ही लंबा हो, दूर कर सके, और यदि वह इस प्रकार का संदेह नहीं है तो किस प्रकार का है ?

तथ्य स्पष्टतः यह है कि यदि आप, कुर्सी और किताब के ऊपर के सब

परीक्षणों में सफल हो जाते हैं (जिनकी संख्या को अनिश्चित रूप से बढ़ाया जा सकता है, परंतु व्यवहार में बहुत अल्प संख्या से ही आप संतुष्ट हो जाएंगे), तो आपका गलती करना संभव नहीं है, और आप जानते हैं कि आप कुर्सी पर बैठे हुए इस किताब को पढ़ रहे हैं। दूसरी ओर, आपकी पत्नी बाहर कहीं ब्रिज खेल रही है, यह आप विश्वास मात्र कर रहे हैं, क्योंकि यद्यपि वह बाहर गई है और सप्ताह के इस दिन शाम को वह अवश्य ही ब्रिज खेला करती है, तथापि वह कभी-कभी ब्रिज खेलने के बजाय सिनेमा भी चली जाया करती है। तब यह वस्तुतः संभव है कि वह सिनेमा देख रही हो। आप जानते हैं कि आप स्वयं इस समय क्या कर रहे हैं, पर आप नहीं जानते कि आपकी पत्नी इस समय क्या कर रही है।

5. ज्ञान उस तक सीमित नहीं है जो अनिवार्यतः सत्य होता है।

जिस मत की हम आलोचना कर रहे हैं वह हमें यह करने के लिए कह रहा है कि 'जानना' शब्द को हम अनिवार्य तथ्यों तक ही सीमित रखें, और यह इस आधार पर कि यदि एक तथ्य अनिवार्य नहीं है तो उसका एक तथ्य न होना कुछ सम्भव होता है। परंतु उसका तथ्य न होना सम्भव नहीं है, और यह कहना कि ऐसा सम्भव है, एक बेतुकी बात है। ज्ञान निश्चय ही उसका होता है जो जैसा है उसमें उसका भिन्न होना सम्भव नहीं होता, परंतु, जैसा कि मैं सिद्ध करने का प्रयत्न कर चुका हूं, 'सम्भव' शब्द निश्चय ही अनेकार्थक है और मैं समझता हूं कि अस्पष्ट भी है। तार्किक रूप से यह सम्भव है कि आप इस समय इस किताब को नहीं पढ़ रहे हैं, इस दृष्टि से कि "मैं इस समय इस किताब को नहीं पढ़ रहा हूं" एक स्वव्याघाती प्रतिज्ञप्ति नहीं है। परंतु यह सम्भव नहीं है कि आप इस समय इस किताब को नहीं पढ़ रहे हैं, और आप इस बात को जानते हैं। यह सम्भव हो सकता है कि आप तुरंत इस किताब को पढ़ना बंद कर देंगे, परंतु यह नहीं कि आप इस समय इसको नहीं पढ़ रहे हैं। जब यह सम्भव नहीं होता कि घ नहीं हो रहा है, तब आप जान सकते हैं कि घ हो रहा है; और यद्यपि दार्शनिक रूप से इस तरह किसी चीज के होने के सम्भव होने या न होने की शर्तों को निर्धारित करना कठिन सिद्ध हो सकता है, तथापि सामान्यतः व्यवहार में हमारे लिए ऐसा सम्भव होना या न होना पहचानना कठिन नहीं होता। इसलिए यह मानने का कोई ठोस आधार नहीं है कि ज्ञान उपपत्तिप्रधान तत्वों तक ही सीमित होता है।

यदि हम चाहें तो बात को इस ढंग से कह सकते हैं कि 'जानना' शब्द के एक से अधिक अर्थ हैं। परंतु हम केवल मूर्ख ही समझे जाएंगे, यदि हम यह दिखाने

की कोशिश करें कि हम इस तरह की बातो को वास्तव मे नही जानते जैसे गाधी की हत्या की गई थी, दूसरा महायुद्ध 1945 में समाप्त हुआ, फ्रास के लोग अग्रेजो से भिन्न भाषा बोलते है, हवाई जहाज घोघो से तेज भागते है, इत्यादि। न केवल हम ऐसे तथ्यों को और इस तरह के हजारो तथ्यो को जानते है, बल्कि हम यह भी सीख चुके होते हैं कि 'जानना' शब्द का ऐसे तथ्यो के सबध मे सही प्रयोग कैसे करना है। इस शब्द का अनिवार्य सत्यो के लिए प्रयोग एक बाद की अवस्था मे शुरू होता है और सामान्यतः उस अवस्था की ओर हमारा ध्यान भी इसलिए नही जाता कि अनिवार्य और आपातिक सत्यों का भेद एक कृत्रिम भेद होता है जिसे करने का अवसर थोडे ही लोगो को मिलता है।

6. ज्ञान और विश्वास के विषय एकही हो सकते है।

तो अब तक हम देख चुके हैं कि ज्ञान को विषयो के भेद के आधार पर विश्वास से पृथक् नही किया जा सकता। हम अनिवार्य सत्यो का आपातिक या इ द्रियानुभविक सत्यों से भेद कर सकते है, परतु हमे यह कहने का अधिकार नही है कि ये बाद वाले सत्य ज्ञान के विषय नही हो सकते। फिर, इस बात से इन्कार करने का कोई ठोस आधार नही लगता कि अनिवार्य और आपातिक दोनो ही प्रकार के सत्यो के मामलो मे उन्ही विषयो का हमें क्रम से पहले विश्वास और बाद मे ज्ञान हो सकता है। जिस काल मे मैं वृत्त के व्यास के द्वारा परिधि के विभिन्न बिदुओ पर बनाए गए कोणो की आकृतिया खीचा करता था उस काल मे मेरा यह विश्वास हो गया था कि ऐसे सब कोण समकोण होते है, और बाद मे जब मैंने इसकी उपपत्ति सीखी तब मुझे यह ज्ञान हो गया कि ऐसे सब कोण समकोण होते है। जब मैं आग बुझानेवाले इ जन की घटिया सुनता हू और अपनी खिडकी से उन इ जनो को भागते देखता हू तब मैं विश्वास करता हू कि मुहल्ले में कही किसी मकान मे आग लगी है; जब आग बुझानेवाले इ जनो के पीछे जाकर मैं उन्हे एक धधकते हुए मकान के सामने पाता हू और उनके कर्मचारियों को लपटो पर पानी छोडते देखता हू तब मैं जान लेता हूं मुहल्ले के एक मकान मे आग लगी है। सामान्यतः विचार विश्वास से ज्ञान मे पहुंचता है: पहले हम विश्वास मे शुरू करते हैं (पर सदैव नहीं) और फिर ज्ञान में पहुंचते हैं। अर्थात् विश्वास सम्पुष्ट होने पर ज्ञान बन जाता है।

इसका ठीक उल्टा क्रम संभव नहीं है: हम नही कह सकते कि ज्ञान असंपुष्ट होने पर (अर्थात् निश्चित सिद्ध न हो पाने पर) विश्वास बन जाता है, क्योकि ज्ञान की हमारी धारणा (अथवा 'ज्ञान' शब्द का हमारा प्रयोग) हमें ऐसा कहने से रोकती

है। हमारी ज्ञान की धारणा ऐसी है कि उसके अनुसार एक आदमी को तब तक ज्ञान नहीं होता जब तक जिसका उसे ज्ञान हो वह सत्य ही नहीं बल्कि निश्चित रूप से भी सत्य न हो। फलत. यदि एक आदमी ने जिसे एक बार निश्चित रूप से सत्य माना था वह निश्चित रूप से सत्य सिद्ध नही पाया जाता, तो हम यह नहीं कहेंगे कि पहले उसे उसका ज्ञान था, पर अब उसे उसका विश्वास मात्र है। हम यह कहेंगे कि पहले उसने *समझा था* कि उसे ज्ञान है, परंतु उसका ऐसा समझना अवश्य ही गलत था, क्योंकि जिसे उसने ज्ञान समझा था वह निश्चित रूप से सत्य नही था और इसलिए उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

इसके बावजूद एक दूसरा प्रक्रम ऐसा है जिससे ज्ञान विश्वास की अवस्था में लौट सकता है, और वह है विस्मरणशीलता से या प्रमाण के भूल जाने से। ज्यामिति से मैंने जो उदाहरण दिया है वह यहा भी काम देगा: जब मैं पृ० 190 के अपने इस कथन को समझाने के लिए कि एक प्रागनुभविक सत्य आगमन से सीखा जा सकता है, अपने मन मे एक उदाहरण की तलाश करता हू, तब मुझे यही उदाहरण सूझ जाता है। परंतु क्योंकि पिछले बीस वर्षों मे मुझे व्यासों के द्वारा परिधियो के बिंदुओ पर बनाए गए कोणो के बारे मे सोचने का अवसर नहीं मिला, इसलिए न केवल मैं यह सिद्ध करना भूल गया था कि वे समकोण होते हैं, बल्कि मुझे यह पक्का विश्वास भी नही रहा था कि उनके समकोण होने की बात सत्य है, हालाकि ऐसा सोचने की मेरी तीव्र चाह थी। अतः मेरी स्थिति उस बात पर विश्वास करने की हो गई थी जिसे मैं एक बार जानता था (हालाकि विश्वास करने के समय मै नही जान सकता था कि मै एक बार जानता था)। यह विश्वास अब एक बार फिर ज्ञान मे बदल गया है, क्योंकि इस प्रमेय को सिद्ध करना, जिसे कि मै भूल चुका था, अब मुझे फिर याद आ गया है। इस प्रकार उस प्रमेय की सत्यता के सबध मे मेरा इतिहास यह है कि एक समय मेरा उसमे विश्वास था, बाद मे मुझे उसका ज्ञान हुआ, फिर बाद में मुझे उसमे विश्वास हुआ, और अब एक बार फिर मुझे उसका ज्ञान है। मुझे यह मानने का कोई अच्छा हेतु नही दिखाई देता कि मेरा वर्तमान ज्ञान पुनः शीघ्र विश्वास की अवस्था में नही लौटेगा।

7. अंतर्निरीक्षण से यह पता नहीं चलता कि किसी को ज्ञान है।

हमारी प्रवृत्ति जानने और विश्वास करने को मन की क्रियाएं या अवस्थाएं कहने की होती है। परंतु अब यह साफ हो जाना चाहिए कि कोई मन कुछ तथाकथित अवस्थाओ के स्वरूप को अंतर्निरीक्षण से निर्धारित कर सके या नहीं, वह अंत-

निरीक्षण से यह नही बता सकता कि मन की एक निर्दिष्ट अवस्था ज्ञान की अवस्था है। यदि आप यह जानने का दावा करते है कि आपकी पत्नी रसोई मे है और कोई आपके दावे को चुनौती देता है, तो आप अंतर्निरीक्षण से नही बता सकते (और आप वास्तव मे इस तरह पता करना चाहते भी नही) कि आप सचमुच जानते है। यह जानने के लिए कि क्या आप वास्तव मे जानते है, अपने मन का तथाकथित निरीक्षण (शायद स्मृति का मामला इसका अपवाद है) अपने मन के उस निरीक्षण से बहुत ही भिन्न होता है जो आप यह मालूम करने के लिए करते हैं कि आपको इस समय खेद की अनुभूति हो रही है या अनुताप की। शायद आप अतर्निरीक्षण से यह बता सकते है कि आप एक चीज के बारे में नि शंक है, बशर्ते नि शंक होने का मतलब इस समय आपको उस चीज के बारे मे दृढ विश्वास की अनुभूति होना हो। परतु यहा भी अनेकार्थकता की जोखिम है, क्योकि सामान्यत: जब आपको पूछा जाता है कि क्या आप नि शक है, जैसे कि आप तब हो सकते है जब आप यह जानने का दावा करें कि आपकी पत्नी रसोई मे है, तब आप प्रश्न को इस अर्थ मे नही लेते कि आपको अपनी दृढ विश्वास की अनुभूति को जाचना या मापना है, बल्कि इस अर्थ मे लेते है कि जिस प्रतिज्ञप्ति को जानने का आपका दावा है उसे तथा सबंधित साक्ष्य को आपको यह निर्धारित करने के लिए जाचना है कि क्या आप अब भी नि.शक हैं और अब भी आप यह जानने का दावा करेंगे।

यदि आपके यह कह चुकने के बाद कि वर्षा हो रही है, आपसे यह पूछा जाए कि क्या आप नि.शंक है, तो आप इस प्रश्न का यह मतलब लगाते है कि आपको दुबारा खिडकी से बाहर देखना है और शायद पहले से अधिक सावधान होकर देखना है। "क्या आप नि:शंक है ?" के अन्य अर्थ भी होते है, और उदाहरण के बतौर एक यह अर्थ हो सकता है कि आपको उक्त प्रतिज्ञप्ति और उसके साक्ष्य की पुनः जाच नहीं करनी है, बल्कि अपने दृढ विश्वास को बताना है जैसे शर्त लगाकर। "आप कितने नि:शक है ?" का प्राय. और सही उत्तर यह बताकर दिया जाता है कि प्रतिज्ञप्ति की सत्यता पर कितने की शर्त लगाने के लिए कोई तैयार है। सक्षेप मे, अंतर्निरीक्षण से हम कदापि यह निर्धारित नही कर सकते कि हम जानते है, और अतर्निरीक्षण से यह निर्धारित करने की कोशिश हम शायद ही कभी करते हों कि क्या हम नि:शंक हैं।

8 जानने और नि:शक होने में अंतर।

जानना और नि:शक होना चाहे परस्पर कितने ही संबधित क्यो न हो, उनका

एक-दूसरे से भिन्न होना दो बिल्कुल मामूली बातों के विचार से सिद्ध किया जा सकता है। पहली बात, कोई आदमी निःशंक हो सकता है और साथ ही गलत भी, परंतु ऐसा नहीं हो सकता कि वह जाने भी और गलत भी हो। इस तथ्य से कि आप इस समय वर्षा होने के बारे में निःशंक है, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वाकई वर्षा हो रही है; परंतु इस तथ्य से कि आप इस समय वर्षा का होना जानते है, यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि वर्षा हो रही है। निस्संदेह, यह निष्कर्ष इस तथ्य से नहीं निकलता कि आप *कहते है* कि इस समय वर्षा का होना आप जानते हैं, क्योंकि आप कह सकते हैं कि आप जानते हैं और साथ ही आप इस बारे में गलती भी कर सकते है, इसलिए कि आप जानते नहीं है। यदि एक आदमी यह कहता है कि इस समय वर्षा हो रही है, इस बारे में वह निःशंक है (और यदि हम यह न मानते हो कि वह झूठ बोल रहा है) और हम पाते हैं कि वास्तव में वर्षा नहीं हो रही है, तो हम कहते है कि वह निःशंक तो था पर गलत भी था। परंतु यदि उसने यह न कहा हो कि वह निःशंक है, बल्कि यह कहा हो कि वह इस समय वर्षा का होना जानता है, और हमने यह पाया हो कि वर्षा नहीं हो रही है, तो हम कहेंगे कि उसने समझा कि वह जानता है पर यह उसकी गलती थी। पहले मामले में, हम नहीं कहते कि "उसने समझा कि वह निःशंक है पर वह निःशंक नहीं था"[1] (यह इस बात से भिन्न है कि हम "उसने समझा कि वह जानता है पर वह जानता नहीं था," ऐसा अवश्य कहते है); और दूसरे मामले में हम यह नहीं कहते कि "वह जानता था पर यह उसकी गलती थी" (यह इस बात से भिन्न है कि "वह निःशंक था पर वह गलती में था," ऐसा हम अवश्य कहते हैं)।

जानने और निःशंक होने में एक अन्य अंतर यह है कि "मैं जानता हूँ ...." कहने में एक ऐसी गारंटी मिलती है जैसी "मैं इस बात में निःशंक हूँ ......"कहने से नहीं मिलती। मान लीजिए कि एक दावत में आप मुझसे पूछते हैं कि मेजबान से कौन आदमी बात कर रहा है, और मैं जवाब देता हूँ कि वह डा० ब्राउन है, और

1. हम कभी-कभी यह अवश्य कहते है कि एक आदमी ने समझा कि वह निःशंक है, पर वह निःशंक नहीं था, परंतु ऐसा इस आधार पर नहीं कहते कि जिस बात के बारे में वह निःशंक था वह गलत निकली। जिस बात के बारे में उसने समझा था कि वह निःशंक है वह सचमुच सत्य निकल सकती है। उदाहरणार्थ, एक आदमी कह सकता है कि वह इस बारे में निःशंक है कि वह एक करतब दिखा सकता है, और इसके बावजूद जिस तरह से उसने वह करतब दिखाया उससे शायद यह पता चले कि वह उतना निःशंक था नहीं, भले ही उसे दिखाने में वह ऐसे-वैसे सफल हो गया हो।

यह मान लीजिए कि आपकी और अधिक जिज्ञासाओं के उत्तर में (क्योंकि शायद आप डा० ब्राउन को नहीं जानते और बहुत दिनों से उनसे मिलने के लिए उत्सुक रहे हैं) मैं आग्रह के साथ कहता हूँ कि मैं जानता हू कि वे डा० ब्राउन ही हैं। यदि इस आग्रह के बल पर आप उन्हें अपना परिचय देते हैं और यह पाते हैं कि वे डा० ब्राउन नहीं हैं, तो आप मेरी बात की अविश्वसनीयता के कारण गुस्से से मुझे घेर लेंगे, जबकि उस दशा मे आप इतने गुस्से मे न हुए होते जब मैंने सिर्फ यह कहा होता कि मैं उस आदमी के डा० ब्राउन होने के बारे मे निःशंक हू। यह कहना कि मैं जानता हू, मुझे उस तरह से वचनबद्ध कर देता है जिस तरह से यह कहना नहीं करता कि मैं निःशंक हूं, और साथ ही इसमें इस बात पर भी बल पड़ता है कि जिसे जानने की बात मैं कह रहा हू वह एक पक्का, निर्वैयक्तिक तथ्य है जो मुझसे बिल्कुल स्वतंत्र है। यह कहना कि मैं निःशंक हूँ, उस तरह की शत-प्रतिशत गारन्टी नहीं देता, और इससे इस बात को बल नहीं मिलता कि तथ्य मुझसे अलग है।[1] फिर, निःशंकता के साथ एक विशेषण जोड़ने के लिए कोई भी तैयार होगा ('मैं काफी निःशंक हू', "उतना निःशंक नहीं हूँ", 'लगभग निःशंक हू' इत्यादि), परन्तु ज्ञान के साथ कोई विशेषण जोड़ने के लिए उतना तैयार नहीं होगा।[2]

इसके बावजूद निःशंक होना ज्ञान के लिए आवश्यक है, क्योंकि यह कहना बेमायने होगा कि "मैं जानता हू कि वर्षा हो रही है, पर मैं इस बारे मे निःशंक नहीं हू।" अतः अब तक की चर्चा के बाद हम कह सकते है कि ज्ञान मे ये बातें शामिल होती हैं .

(i) जिसका ज्ञान होता है वह सत्य होता है,

(ii) ज्ञाता इस बारे मे निःशंक होता है कि वह सत्य है।

लेकिन यद्यपि ये आवश्यक शर्तें है, तथापि पर्याप्त नहीं है, क्योंकि ऐसी परिस्थितियों की कल्पना करना कठिन नहीं होगा जिनमे ये दोनो शर्तें पूरी होती हों

---

1. 'मैं जानता हू' कि ' में जो प्रामाणिकता या गारन्टी देने की विशेषता है वह जे० एल० ऑस्टिन की *सप्लिमेंटरी प्रोसिडिंग्स ऑफ दि अरिस्टोटेलियन सोसाइटी*, जिल्द XX. पृ० 170–4 में हुयी एक चर्चा में साफ बताई गई है।

2. 'मैं लगभग जानता हूँ ···· ", इस प्रकार का विशेषण युक्त प्रयोग तब किया जाता है जब ज्ञान 'कैसे' संबंधी ज्ञान होता है, और यह प्रयोग "लगभग निःशंक" जैसा नहीं है। एक अभिनेता अपनी भूमिका को लगभग जान सकता है, अथवा एक छोटा लड़का नौ के पहाड़े को लगभग जान सकता है, इस अर्थ में कि वे गलतियां किए बगैर उन्हें लगभग ज़बानी दोहरा सकते हैं।

पर फिर भी यह कहना सही न हो कि आदमी जानता है। उदाहरणार्थ, प्रोफेसर हवुल इस बारे मे निःशक हो सकते हैं कि विश्व का किसी भी साधारण विस्फोट की अपेक्षा ऊ'ची गति से विस्तार हो रहा है, और शायद यह सही भी हो, परंतु वे इस बात को जानते नहीं है कि विश्व का उस गति से विस्तार हो रहा है, क्योकि जिन बातो का उन्होंने प्रेक्षण किया है, जैसे सुदूरस्थ नीहारिकाओ के प्रकाश का लाल की ओर विस्थापन, उनकी उनकी अपनी प्राक्कल्पना से भिन्न प्राक्कल्पनाओ के साथ भी सगति है। अथवा एक निराशावादी इस बारे मे निःशंक हो सकता है कि क्योंकि वह आज एक बडी आतिशबाजी वाली दावत दे रहा है इसलिए आज रात को वर्षा होगी और उसका कहना सही निकल सकता है, क्योकि आज रात को वर्षा जरूर हो रही है, परंतु यह शायद ही कहा जाएगा कि वह वर्षा का होना पहले से जान गया था। एक हत्या के मुकदमे मे इस्तगासे की रिपोर्ट अखबार मे पढ़कर मै इस बारे मे निःशक हो सकता हूँ कि प्रतिवादी दोषी पाया जाएगा, और मैं सही हो सकता हूं (क्योंकि बाद मे वह दोषी पाया जाता है), परंतु निश्चय ही मैं यह जानता नही कि वह दोषी पाया जाएगा। ऐसा होने के लिए जूरी के लोगों की निष्पक्षता या उनके निर्णय की निर्दोषता से संबंधित प्रश्नो के अलावा यह भी कम से कम जरूरी है कि मैंने बचाव-पक्ष को सुन लिया हो या उसका एक अच्छा संक्षिप्त विवरण मैंने अखबार मे पढ लिया हो।

9. ज्ञान की शर्तें।

(9) यदि प प्रश्नाधीन प्रतिज्ञप्ति है, तो एक आदमी प को निम्नलिखित अवस्थाओ मे नही जानता, भले ही वह प के बारे मे निःशंक हो और भले ही प सत्य हो :

(अ) प का उसके पास कोई प्रमाण नहीं है;

(ब) प्रमाण के बारे मे वह गलती कर रहा है;

(स) वह प्रमाण के प से सबध के बारे मे गलती कर रहा है।

जो निराशावादी यह जानने का दावा करता है कि उसकी आतिशबाजी वाली दावत वर्षा से बिगड़ जाएगी, वह जानता नहीं है, क्योंकि उसके पास इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसा हो जाएगा; वह शर्त (अ) के अंदर आता है। शर्ते (ब) और (स) प्रमाण की गलतियों से सबंधित हैं, परंतु वे गलतियां भिन्न प्रकारों की हैं। (ब) के अंदर आनेवाली गलतियों मे उन दत्तो के बारे मे गलत सूचना शामिल होती है जिनका कोई प्रमाण के रूप में उपयोग करता है, जैसे आकाश में

अधेरे का बढ़ना जिसे वर्षा करनेवाले बादलों के इकट्ठे होने का सूचक समझा जाता है जबकि वास्तव मे ऐसा तेल की टकियों मे आग लग जाने से धुए के बादलों के कारण हो सकता हैं। इस गलतफहमी के कारण मेरी यह भविष्यवाणी गलत हो सकती है कि आज रात वर्षा मेरी बागिचबाजी वाली दावत को बिगाड देगी। यदि एक खगोलशास्त्री यह मानता है कि दूरस्थ नीहारिकाओ से आनेवाले प्रकाश का लाल की ओर विस्थापन प्रकट होना है जबकि असल मे ऐसा होता नही है, तो वह इसी किस्म की गलती करेगा। और एक अखबार पढनेवाला भी ऐसी ही गलती करेगा यदि "महारानी एलिजाबेथ को यान की खराबी के कारण रुक जाना पडा," इस शीर्षक को पढकर उसने यह मान लिया हो कि लाइनर के पहुँचने मे विलब हो गया है, जबकि वास्तव मे जिस रेलगाडी मे ब्रिटेन की महारानी यात्रा कर रही थी वह रेल मे आगे खराबी आने के कारण रोक दी गई। ऐसी परिस्थितियो मे खगोलशास्त्री यह नही जान सकता कि विश्व का एक विस्फोट की गति से विस्तार हो रहा है (भले ही वह सही रहा हो, और बात सही थी), और अखबार का पाठक यह नही जान सकता था कि लाइनर नियत समय के बाद साउथैम्प्टन के बदरगाह मे पहुँचेगा (भले ही वह सही था, और लाइनर देर मे पहुँचेगा)।

शर्त (स) के अदर आनेवाली गलतिया अधिक आम होती है। यहां कोई स्वयं प्रमाण के बारे मे गलती नही करता, बल्कि उसका प्रमाण का काम देने के बारे मे, निष्कर्ष से उसके सम्बन्ध के बारे मे गलती करता है, और उसका कारण या तो यह होता है कि वह निष्कर्ष का प्रमाण नही है या यह कि निष्कर्ष का प्रमाण होने के बावजूद वह पर्याप्त नही है।

पहले का एक उदाहरण दो हस्ताक्षरो की जल्दी मे तुलना करके यह मान लेने के आधार पर जालसाजी का आरोप लगाना होगा कि दोनो एक ही आदमी के बनाए हुए हैं, जबकि अधिक सावधानी से की गई जाच से यह पता चल गया होता कि वे एक ही आदमी के बनाए हुए नही हैं। दूसरे का, जो कि अधिक आम है, एक उदाहरण जिस कमरे मे शव पडा था उसके दरवाजे के हत्थे पर प्रतिवादी की उगलियों की छाप होने के आधार पर उसपर हत्या का आरोप लगाना होगा। उंगलियों की छाप निश्चय ही कुछ प्रमाण है, पर पर्याप्त कतई नहीं है, क्योंकि हत्या के समय के आसपास अनेक अन्य लोगो को उस कमरे मे आने का अवसर मिला होगा और हत्या करने का उद्देश्य उनका भी उतना ही हो सकता है जितना प्रतिवादी का, तथा अन्य लोग प्रतिवादी पर शंका करवाने के लिए (जो निश्चय ही कमरे मे गया था) शायद दस्ताने पहनने या दरवाजे के हत्थे को न छूने की सावधानी बरते

होंगे। इन मामलों में से प्रत्येक में आरोप सही हो सकते हैं, क्योंकि प्रतिवादियों ने क्रमशः जालसाजी और हत्या के अपराध किए थे, परंतु किसी भी मामले में ऊपर उल्लिखित तथ्यों के प्रमाण के बल पर यह नहीं जाना जा सकता था कि प्रतिवादी दोषी था।

अतः जानने के लिए आदमी

(अ) के पास प्रमाण होना चाहिए;

(ब) प्रमाण को सही होना चाहिए, और

(स) प्रमाण का निष्कर्ष से सम्बन्ध सही होना चाहिए।

उसे इस बारे में भी निःशंक होना चाहिए कि (ब) और (स) सही हैं। प को जानने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि आदमी (ब) और (स) के अंतर्गत स्वयं से प्रश्न पूछने की दीर्घ और स्पष्ट क्रिया में से गुजरे। एक आदमी का यह जानने का दावा कि गांधी मर चुका है, वैध है, यदि वह इस समय इस बात को सिद्ध कर सकता हो; यह जरूरी नहीं है कि वह उसे अभी सिद्ध कर चुका हो।

10. विश्वास की शर्तें।

जो कुछ ऊपर ज्ञान के बारे में कहा जा चुका है उसमें कुछ जोड़ते हुए अब हम विश्वास के बारे में कह सकते हैं, और पिछली चर्चा की रोशनी में आगे जो कहना है उसे काफी संक्षिप्त बनाया जा सकता है। प में विश्वास करने में ये दो बातें सम्मिलित होती हैं (i) प्रश्न प के उत्तर में निःशंकता की विभिन्न मात्राओं के साथ 'हां' कहने के लिए तैयार होना; (ii) प के पक्ष में कुछ प्रमाण पास होना। जब प्रमाण में वृद्धि होने से निःशंकता में वृद्धि होती है (और प्रमाण कई दृष्टियों से बढ़ सकता है), तब विश्वास युक्तियुक्त होता है। हम इस विश्वास को अयुक्तियुक्त कह सकते हैं कि आज रात केवल इसलिए वर्षा होगी कि किसी आदमी ने आतिशबाजी का आयोजन किया है, और इस विश्वास को युक्तियुक्त कह सकते हैं कि आज रात वर्षा होगी क्योंकि मौसम-विशेषज्ञों ने आज रात वर्षा होने की भविष्यवाणी की है। विश्वास प्रमाण के विस्तार, स्वरूप और महत्व के अनुसार युक्तियुक्तता और अयुक्तियुक्तता के बीच के पूरे परास में कहीं भी स्थान रख सकता है; परंतु मैं नहीं समझता कि जिसे कोई प्रमाण मानता है (भले ही किसी का उसे प्रमाण मानना बिल्कुल गलत हो) ऐसी किसी चीज़ के नितांत अभाव की दशा में हम कभी विश्वास करते हैं।

कुछ मामलो मे हमे इस तरह काम करना पड सकता है जैसे कि मानो हम विश्वास कर रहे हो, जैसे किसी भी खिलाडी के बारे मे कुछ न जानते हुए क्रिकेट टीम की बल्लेबाजी का क्रम निर्धारित करने मे। परतु इस तरह से काम करने के लिए तैयार होना जैसे कि मानो एक आदमी को विश्वास हो, विश्वास करने से भिन्न होता है, और इस तरह काम करना जैसे कि मानो कोई विश्वास कर रहा हो, विश्वास होने के आधार पर काम करने से भिन्न होता है। ऐसे भी मामले होते है जिनमे किसी को अत.प्रज्ञा-जैसी कोई अनुभूति होती है, या कोई कारण बता सकने के बगैर ही किसी बात मे दृढ विश्वास करता है, परतु यदि उसे प्रमाण बताने के लिए कहा जाए तो वह बहुत परेशानी महसूस करेगा। लेकिन मै सोचता हूँ कि यहा परेशानी इस बोध मे महसूस नहीं होती कि आदमी प्रमाण प्रस्तुत करने मे असमर्थ है, बल्कि इस बोध से होती है कि यदि उसे प्रस्तुत किया जाए तो वह प्रमाण के रूप मे अपेक्षाकृत या बिल्कुल बेकार होगा। अत. आदमी अहेतुक अत प्रज्ञा की शरण लेता है या यह आग्रह करता है कि "यह मेरा सौभाग्य का दिन है।"

युक्तियुक्त विश्वास मे वृद्धि होकर वह तब ज्ञान बन सकता है (और प्राय बन ही जाता है), जब प्रमाण पुष्ट होते-होते निश्चायक हो जाता है। सामान्य प्रमाण कब निश्चायक हो जाता है, इस बारे मे क्या सचमुच कोई समस्या है, यह चर्चा करना मेरा काम नहीं है। मेरा झुकाव यह सोचने की ओर है कि ऐसी कोई समस्या है नहीं, और मुझे निश्चय है कि यदि ऐसी समस्या हो भी तो भी वह ऐसी नहीं हो सकती कि जब तक उसका समाधान न निकले तब तक हमारा विशेष मामलो मे यह कहना उचित न हो कि हमारे पास निश्चायक प्रमाण है। असंख्य एकव्यापी, अंशव्यापी और सर्वव्यापी इद्रियानुभविक प्रतिज्ञप्तियो का हमारे पास निश्चायक प्रमाण होता है, और जब किसी प्रतिज्ञप्ति का हमारे पास निश्चायक प्रमाण होता है तब हम जानते है कि वह सत्य है।

अतः विश्वास के अतर्गत निम्नलिखित पाच मामले आते है :

(i) ऐसे प्रमाण के आधार पर जो निश्चायक नही है नि.शक होना और सही होना।

(ii) ऐसे प्रमाण के आधार पर जो निश्चायक नही है नि:शक होना और गलत होना।

(iii) ऐसे प्रमाण के आधार पर जो निश्चायक नहीं है सशंक होना और सही होना।

(iv) ऐसे प्रमाण के आधार पर जो निश्चायक नहीं हैं सशंक होना और गलत होना।

(v) ऐसे प्रमाण के आधार पर जो निश्चायक है सशंक होना और सही होना।

यह अंतिम मामला :[1]

(vi) ऐसे प्रमाण के आधार पर जो निश्चायक है निःशंक होना और सही होना, विश्वास का मामला नहीं है बल्कि ज्ञान का मामला है। तब प को जानने में यह शामिल है कि हम प में पक्का विश्वास करते हैं, प सत्य है, और हमारे विश्वास के आधार के रूप में हमारे पास प का निश्चायक प्रमाण है। प का निश्चायक प्रमाण हमारे पास होने का मतलब यह होगा कि वह स्पष्ट रूप से हमारे ध्यान में है और हम बोधपूर्वक उसे प्रमाण के बतौर इस्तेमाल कर रहे हैं तथा प का उससे अनुमान कर रहे हैं, या यह कि यदि हमसे पूछा जाए तो हम स्पष्ट रूप से उसे ध्यान में ला सकते हैं इत्यादि, अर्थात् प को उससे अनुमान के रूप में प्राप्त करना हमारे लिए संभव है। इस प्रकार ज्ञान का विश्लेषण करके यह बता दिया गया है कि वह विश्वास से कोई प्रकारतः भिन्न चीज नहीं है, बल्कि विश्वास का ही एक सीमांत मामला है, यानी विश्वास का वह रूप है जो प्रमाण के काफी अच्छे होने पर विश्वास के द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है।

क्योंकि मैं नहीं जानता कि जो चीज मेरे सामने है और टेलीफोन की तरह दिखाई देती है उसका टेलीफोन होना तर्कतः असंभव है (वास्तव में मैं जानता हूँ कि यह तर्कतः संभव है), इसलिए यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि मैं उसका टेलीफोन होना नहीं जानता। वास्तव में, मैं अवश्य जानता हूँ कि वह टेलीफोन है, क्योंकि उसके अंदर वे विशेषताएं मौजूद हैं जिनसे मैंने सदैव अपने टेलीफोन को पहचाना है, और क्योंकि मैंने अभी उसपर बात की है। यदि एकाएक उसका लोप हो जाए या मैं उसकी जगह एक रेडियो पड़ा देखूं जिसे मैंने पहले कभी नहीं देखा, तो मुझे बहुत ही ज्यादा अचंभा होगा। मुझे जिज्ञासा होगी कि उसका लोप कैसे हो गया या उसके स्थान पर मेरे ध्यान में बात के आए बिना रेडियो कहां से आ गया। मुझे यहां तक जिज्ञासा हो सकती है कि उसकी जगह पर रेडियो रख दिया गया या टेलीफोन ही स्वयं रेडियो में बदल गया? परंतु इसमें मुझे शक नहीं होना चाहिए और न शक करने का मेरे पास कोई कारण होना चाहिए कि इस क्षण से पहले वहां जो चीज थी वह टेलीफोन था। वास्तव में मैं जानता हूँ कि टेलीफोन मेरे साथ ऐसा कोई

1. दो अन्य संयोग संभव है, पर यहाँ कोई लागू नहीं होता।

पारिभाषिक शब्दावली (हिंदी-अंग्रेजी)

आद्य प्रतिज्ञप्ति	primitive proposition
आधारिक प्रतिज्ञप्ति	protocol proposition
आधारिका	premise
आपाततः	prima facie (adv.)
आपातसत्यता	plausibility
आपातिकता	contingency
आपादन	implication
इंद्रिय-दत्त	sense-datum
इंद्रियानुभववाद	empiricism
इंद्रियानुभविक	empirical
उद्दीपन	stimulus
उपनिगमन	corollary
उपपत्तिप्रधान तंत्र	demonstrative system
उभयतःपाश	dilemma
एकव्यापी प्रतिज्ञप्ति	singular proposition
एकव्यापी वाक्य	singular sentence
एकैक-संबंध	one-to-one relation
कथन	statement
कर्म	accusative
कल्पना	imagination
कसौटी	criterion
कालनिरपेक्ष वर्तमान सूचनार्थक	timeless present indicative
कुलक	set
गुण	attribute, quality

गुणधर्म	property
घटना	event
ज्ञान	knowledge
ज्ञानमीमांसा	theory of knowledge, epistemology
टोकन-शब्द	token word
डायरी-प्रणाली	diary method
तंत्र	system
तटस्थता	neutrality
तत्त्वमीमांसा	metaphysics
तथ्य	fact
तादात्म्य	identity
द्रव्य	substance
द्रव्यक	substantive
द्रव्यकल्प	substantive
द्वितीयकोटिक प्रतिज्ञप्ति	second-order proposition
द्विपदी संबंध	dyadic relation
द्वैतवाद	dualism
नामवाद	nominalism
निःशंक	sure
निगमन	deduction
निरीक्षण	inspection
निर्णय	judgment
निश्चायक	conclusive
न्यून (कथन)	elliptical (statement)
पद	term
परमतत्व	absolute
परामानसिकी	'psychical research'
परिचय	1. acquaintance 2. introduction
परिपाटी	convention
परिभाषा	definition
परीक्षण	test
पश्चसज्ञान	retrocognition

प्रकृत द्वैतवाद	naive dualism
प्रकृत वस्तुवाद	naive realism
प्रतिज्ञप्ति	proposition
प्रतिनिधान	representation
प्रतिमा	image
प्रतिमावली	imagery
प्रतीक	symbol
प्रतीत वर्तमान	specious present
प्रत्यक्ष	perception
प्रत्यय	idea
प्रत्ययवाद	idealism
प्रत्याह्वान	recall
प्रमिति	knowledge
प्रमेय	theorem
प्रयोग	1. experiment 2. usage, use
प्रयोगनिष्ठ परिभाषा	'definition in use'
प्ररूप-शब्द	type word
प्रसभाव्य	probable
प्रसभाव्यीकरण	probabilification
प्राक्कल्पना	hypothesis
प्रागनुभवतः	a priori (adv.)
प्रागनुभविक	a priori (adj.)
प्रागुक्ति	prediction
प्राग्ग्राह्य	prehensum
प्रेक्षण	observation
फाइल-पद्धति	filing system
बहुपदी सबंध	multiple relation
बुद्धिनिरपेक्ष	objective
बुद्धिसापेक्ष	subjective
भविष्योक्ति-प्रणाली	prediction method
भाव	1. being 2. feeling
भ्रम	illusion

मन.निरपेक्ष	objective
मन.सापेक्ष	subjective
मनस्तंत्र	subjective
महासामान्य	arch-universal
मानक	standard
मानसिक दर्शन	'mental philosophy'
मूल प्रतिज्ञप्ति	basic proposition
राद्धांत	dogma
लाघव	economy
वर्णन	description
वस्तुनिष्ठ	objective
विपर्यय	error
विमा	dimension
विवृत कथन	open statement
विवृत.वर्ग	open class
विशेष	*particular* (*n.* & *adj.*)
विश्लेषण	analysis
विश्वास	belief
विषय	object
विषयिनिरपेक्ष	objective
विषयिसापेक्ष	subjective
विषयी	subject
वस्तूकरण	hypostatization
वृत्ति	disposition
वैधता	*validity*
व्यष्टि	individual
व्यष्टिक प्रयोग	distributive use
व्याख्या	explanation
व्याघात-प्रदर्शन	reductio ad absurdum
शंकातीत	*incorrigible*
शंकास्पद	corrigible
संगति	consistency

संज्ञान	cognition
संप्रत्यय	*concept*
सभ्रम	confusion
संवाद	*correspondence*
संवित्त	sensum
संवृत वर्ग	closed class
संवृतिवाद	phenomenalism
सवेदन	sensing, sensation
संशयवादी	sceptic
संशोधनापेक्ष	corrigible
संशोध्य	corrigible
ससक्तता	coherence
सस्कार	*impression*
सकर्मक क्रिया	transitive verb
सजीवता	vividness, vivacity
सत्य	true; truth (com. n)
सत्यता	truth (abs. n)
सत्यापन	verification
समष्टिक प्रयोग	*collective use*
सर्वगोचरता	'publicity'
सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति	*universal (general) proposition*
सशंक	unsure
सादृश्य	resemblance, similarity
सामान्य	universal (n.), normal (adj.)
सामान्य बुद्धि	common sense
सामान्यीकरण	generalization
सुपरिचितता	familiarity
स्मरण	remembering
स्मृति	memory
स्वयंसिद्ध	axiom
स्वव्याघात (स्वतोव्याघात)	self-contradiction
हेतुफलात्मक निर्णय	hypothetical judgment

ज्ञानमीमांसा-परिचय

(Theory Of Knowledge : An Introduction)

लेखक

ए० डी० वूज़ले

अनुवादक

डॉ० गोवर्धन भट्ट

वरिष्ठ-अनुसंधान-अधिकारी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी
शब्दावली आयोग, शिक्षा तथा युवा-सेवा-मंत्रालय,
भारत सरकार, नई दिल्ली

पुनरीक्षक

प्रो० हरिमोहन झा

भूतपूर्व प्राध्यापक तथा अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
पटना विश्वविद्यालय

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

भारत सरकार की विश्वविद्यालय-स्तरीय ग्रंथ-निर्माण-योजना के अन्तर्गत बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी द्वारा प्रकाशित यह ग्रंथ ए० डी० वूजले के 'थियोरी ऑफ नॉलिज : ऐन इंट्रोडक्शन' का अनुवाद है, जो भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय के शत-प्रतिशत अनुदान से प्रकाशित है।

प्रथम संस्करण : १९७१

२०००

मूल्य : सात रुपये

प्रकाशक

बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना-३

मुद्रक

रचना प्रेस, पटना-६

प्रस्तावना

शिक्षा-संबंधी राष्ट्रीय नीति संकल्प के अनुपालन के रूप मे विश्वविद्यालयो मे उच्चतम स्तरो तक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के लिए पाठ्य-सामग्री सुलभ करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने इन भाषाओं मे विभिन्न विषयों के मानक ग्रंथो के निर्माण, अनुवाद और प्रकाशन की योजना परिचालित की है। इस योजना के अंतर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रंथो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे है। यह कार्य भारत सरकार विभिन्न राज्य सरकारों के माध्यम से शत-प्रतिशत अनुदान देकर तथा अशतः केंद्रीय अभिकरण द्वारा करा रही है। प्रत्येक हिंदी-भाषी राज्य मे इस योजना के परिचालन के लिए भारत सरकार के शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य सरकार द्वारा स्वायत्तशासी-निकाय की स्थापना हुई है। बिहार मे इस योजना का कार्यान्वयन बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी के तत्वाधान मे हो रहा है।

योजना के अंतर्गत प्रकाश्य ग्रंथो मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत मानक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जाता है, ताकि भारत की सभी शैक्षणिक संस्थाओ मे समान पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

प्रस्तुत ग्रंथ ए० डी० वूज़ले के "थियोरी ऑफ नॉलिज" का अनुवाद है। यह अनुवाद डॉ० गोवर्धन भट्ट (वरिष्ठ-अनुसंधान-अधिकारी, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा तथा युवा-सेवा-मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली) ने किया है। इसका पुनरीक्षण प्रो० हरिमोहन झा, भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष दर्शन विभाग, पटना विश्वविद्यालय ने किया है।

आशा है, अकादमी द्वारा मानक ग्रंथो के प्रकाशन-संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रो मे स्वागत किया जाएगा।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु
अध्यक्ष
बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी

पटना
दिनांक १४-४-७१

प्राक्कथन

मैं नही जानता कि कोई पुस्तक तब तक कैसे अ-दार्शनिको को दर्शन का परिचय कराने मे उपयोगी हो सकती है जब तक वह प्रारंभिक न हो। इसलिए मै खेद प्रकट किए बिना यह मानता हूँ कि यह पुस्तक प्रारभिक है और बहुत-कुछ वही बताती है जो पहले ही दूसरो के द्वारा बहुत अच्छी तरह से बताया जा चुका है। इसके काफी बडे भाग मे उन सिद्धांतो और दलीलो की चर्चा की गई है जिन्हे मै गलत मानता हू, और यह दिखाया गया है कि मै उन्हे गलत क्यो मानता हूं। मैने निश्चित निष्कर्षों को प्राप्त करने की अपेक्षा अधिक महत्व दार्शनिक चिंतन और वाद-विवाद के तरीको को प्रदर्शित करने का समझा है (भले ही उन तरीको मे से कुछ को अब फैशन के बाहर मान लिया गया हो)। इस शृंखला की पुस्तको का मुख्य उद्देश्य मैंने पाठको को यह बताना समझा है कि दर्शन की कुछ समस्याएं क्या हैं और उनको सुलझाने की प्रणालिया क्या हैं। इस प्रोग्राम को कार्यान्वित करना और साथ ही उठाए गए प्रश्नो के सावधानी के साथ रचे गए समाधानो को देना भी निर्धारित सीमाओ के अंदर सभव नही हो पाया है। जहां उत्तर दिए भी गए है वहां उनके पहले दिए जा चुके उत्तरो से अधिक अच्छे होने की आशा नही करनी चाहिए। यदि वे नौसिखिए की उच्च कोटि के दार्शनिक चिंतन मे रुचि पैदा करने मे सहायक सिद्ध हुए तो इस पुस्तक का प्रयोजन पूरा हो जाएगा। अनुभवी दार्शनिको को इसे पढने से कोई लाभ न होगा

मैं प्रोफेसर एच० जे० पैटन, मि० एच० एच० कॉक्स और मि० एच० पी० प्राइस का आभारी हूँ, जिन्होने पुस्तक की पाडुलिपि को पूर्णतः या अशतः पढा और जिनकी अनेक उपयोगी आलोचनाओ से मैंने लाभ उठाने की कोशिश की है। मि० वी० जी० मिचेल का भी मै आभारी हू, जिन्होने अनुक्रमणिका तैयार करने के श्रमसाध्य काम से मुझे मुक्ति दी।

फरवरी, 1949 — ए० डी० डब्ल्यू०

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

1 सिद्धान्त प्रश्न-सापेक्ष होते हैं।

प्रत्येक सिद्धान्त किसी प्रश्न या प्रश्नो के किसी समुच्चय का एक उत्तर या उत्तरो का एक समुच्चय होता है, और उत्तर इस कारण अनुपयोगी हो सकते हैं कि वे सही नही है, या सही होते हुए भी साफ नही है, अथवा वे प्रश्न ही साफ नही है जिनके वे उत्तर हे। यदि कोई माँ अपने बच्चे की चित्तियो को देखकर यह कहती है कि उसे खसरा हो गया है, तो इस तरह वह एक सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, यदि वह बच्चे को खसरा होने की बात इस कारण मानती है कि उसे उसके स्कूल मे ऐसे अन्य बच्चो के सपर्क में आने की जानकारी है जिन्हे खसरा निकल आया है, तो इस प्रकार वह अपने सिद्धान्त के पक्ष में हेतु प्रस्तुत करती है। अब मान लीजिए कि डाक्टर की राय मे चित्तियाँ खसरे के नही बल्कि अम्लता के लक्षण है। यह एक प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त हुआ। यदि डाक्टर के ऐसी राय देने का कारण यह है कि बच्चे मे खसरे के अन्य लक्षण प्रकट नही होते, पर कुछ दिनो मे वह अत्यधिक मात्रा मे अलूचे खाता रहा है, तो यह डाक्टर का अपने सिद्धान्त के समर्थन मे हेतु प्रस्तुत करना है, और यदि इस निदान के अनुसार चिकित्सा करने के बाद, उदाहरणार्थ बच्चे को सोडा-बाइकार्बोनेट की मात्राएँ देने और अलूचो तथा सम्भवतः अन्य फल का सेवन बद करने के बाद चित्तियाँ दूर हो जाती है, तो सामान्यत. हम कहेगे कि डाक्टर का सिद्धान्त सही सिद्ध हो गया है और माँ का सिद्धान्त गलत।

यह एक सीधा-सादा मामला है जिसमे प्रश्न, 'मेरे बच्चे की चित्तियों का क्या कारण है?' साफ था और परस्परविरोधी उत्तर, 'खसरा' और 'खसरा नही बल्कि अम्लता', भी साफ थे, और जिसमे परस्परविरोधी उत्तरो मे से कौन सही

है, इस बात का निर्णय अधिक कठिनाई के बिना किया जा सकता है। अन्य मामले कहीं अधिक जटिल हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसा हो सकता है कि लक्षण दिखाई न देते हों बल्कि आन्तरिक हों तथा रोगी उनका इतना स्पष्ट वर्णन न कर सकता हो कि डाक्टर को जिस प्रश्न का उत्तर देना है वह ठीक-ठीक क्या है, यही पता उसे न चल सके। जब जानकारी बहुत थोड़ी हो और वह भी शायद भ्रामक हो, तब डाक्टर बुद्धि का उपयोग करके थोड़ी-बहुत अटकल लगाएगा और बारी-बारी से एक-एक अटकल को तब तक आजमाता रहेगा जब तक बीमारी साफ नहीं हो जाती। हो सकता है कि बीमारी के साफ हो जाने के बाद भी डाक्टर उसके बारे में कोई सन्तोष-प्रद सिद्धान्त प्रस्तुत न कर सके और इसका कारण यह हो कि जो विभिन्न उपचार उसने आजमाए उनमें से कौन सफल रहा (अथवा कोई सफल रहा भी), इस बारे में वह आश्वस्त न हो, अथवा वह ठीक-ठीक कौन-सा करतब था जो उसके हाथों से हो गया, इस बारे में वह अभी तक आश्वस्त न हो।

अब, जो भी दर्शन की शुरुआत कर रहा है उसके सामने आनेवाली प्रमुख कठिनाइयों में से एक यह जानना है कि प्रश्न हैं क्या। और वास्तव में, बहुत-सी ऐसी कठिनाइयाँ जिनमें प्रशिक्षित और अनुभवी दार्शनिक स्वयं को उलझा देते हैं, उनके सिद्धांतों की आलोचना करनेवाले साथी-दार्शनिकों के मतानुसार, प्रथमतः इस बात से पैदा हुई होती हैं कि जिन प्रश्नों का वे उत्तर देने चले हैं वे ठीक-ठीक *क्या हैं, इस बारे में उनकी बुद्धि पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं होती।* इन आलोचकों का मत आगे यह है कि यदि उन दार्शनिकों की बुद्धि इस संबंध में अधिक स्पष्ट भर रही होती तो वे जान गए होते कि जिन प्रश्नों का उत्तर देने का वे यत्न कर रहे हैं वे उन प्रश्नों से भिन्न हैं जिनका वे **समझते** हैं कि वे उत्तर देने की कोशिश कर रहे हैं, अथवा यह कि *वस्तुतः प्रश्न है ही कोई नहीं और जिस चीज़ ने उन्हें यह सोचने* को बाध्य किया कि कोई प्रश्न है वह उनकी अपनी ही मानसिक गड़बड़ी थी। जैसा कि हम आगे (पृ० 63) देखेंगे, यह आलोचना एक बड़े अंश में सही है। वास्तव में, दर्शन उसके अध्येताओं को कभी-कभी साँप और सीढ़ी के दुःस्वप्न-जैसे खेल की तरह लगता है, जिसमें, आपके पीछे बोर्ड का नक्शा बराबर बदलता रहता है और फलतः जब आप एक साँप के ऊपर आते हैं और उसके साथ नीचे एक ऐसे वर्ग में उतर आते हैं जिसमें आप पहले थे तब आपको यह देखकर परेशानी होती है कि वह वर्ग तब से भिन्न हो गया है जब आप पिछली बार उसमें थे और इसी तरह आस-पास के भी सारे वर्ग भिन्न हो गए हैं।

2. ज्ञान के बारे में प्रश्न क्या है ?

तो फिर, वे प्रश्न क्या है जिनका उत्तर देना दर्शन की उस शाखा का काम है जो सामान्यतः ज्ञान-सिद्धान्त या ज्ञानमीमासा के नाम से जानी जाती है ? अथवा, यह कहना ठीक होगा कि दर्शन की इस शाखा के परस्पर विरोधी सिद्धातो का उद्देश्य जिन प्रश्नो का उत्तर देना है वे क्या हैं ? इस रूप मे पूछने का कारण यह है कि यहाँ मात्र एक सिद्धात नही है बल्कि बहुत बड़ी सख्या मे परस्पर बहुत भिन्न प्रतिद्वद्वी सिद्धात है जो इस बात मे समानता रखते हैं कि वे एक ही विषय-वस्तु से संबधित होने (और किसी भी अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा उसकी अधिक अच्छी व्याख्या करने) का दावा करते है, हालाकि उस विषय-वस्तु की व्याख्या करने मे ठीक-ठीक जिन प्रश्नो को पूछना वे उचित समझते हैं वे सिद्धांत-सिद्धात मे भिन्न हो सकते है और होते ही है। अतः प्रश्नो को उठाने के विषय मे विवाद से बचे रहना *असभव है । और यह भी आशा नही की जा सकती कि जो भी विवाद पैदा* होगा उसका इस पुस्तक की सीमाओ के अदर अतिम रूप से फैसला कर दिया जाएगा। परन्तु विवाद तो वाछनीय होता है, बचना केवल अविचारपूर्ण पूर्वग्रह और चुपचाप सहमत हो जाने से है।

अब, चूँकि प्रश्न तो पूछा ही जाना है, इसलिए मै उसे इस रूप मे पूछता हूँ : 'जब मैं सोचता हूँ तब मेरे मन मे चीज़ क्या प्रस्तुत रहती है ?' तुरन्त ही यह कह देना भी ठीक होगा कि *यह प्रश्न का एक पहला और बहुत ही सामान्य रूप मान है* जिसे अब काट-छाँटकर एक अधिक उपयोगी शक्ल मे रखना आवश्यक है। प्रश्न को उक्त रूप मे रखने के बारे मे जो बात तुरन्त ही असतोषप्रद लगती है वह है *असाधारण रूप से यह मान लेना कि ज्ञान के सिद्धात के* विषय मे पूछे गए (या पूछे जानेवाले) मूलभूत प्रश्न को सोचने से सबधित प्रश्न होना चाहिए। निश्चय ही, यह आपत्ति उठाई जाएगी कि जानना और सोचना मूलत भिन्न और विषम बौद्धिक व्यापार है। 'मैं सोचता हूँ कि बात यह है', ऐसा हम केवल तभी कहते हैं जब 'मैं जानता हूँ कि बात यह है,' ऐसा हम विश्वासपूर्वक कहने के अधिकारी स्वय को नही पाते। साधारणतः 'मैं सोचता हूँ कि वर्षा हो रही है,' ऐसा तब कहा जाता है जब खिडकी से बाहर झाकने पर बूदों का गिरना तो मैं नही देख पाता पर सड़क पर लोगो को छाते ताने हुए चलते मैं देख सकता हूँ। केवल इतने प्रमाण के आधार पर साधारणतः मेरा यह कहना ठीक न होगा कि 'मैं जानता हूँ कि वर्षा हो रही है,' क्योकि, सभव है, वर्षा अभी-अभी बंद हुई हो, पर छाता तानकर चलते

लोगो मे से किसी का भी ध्यान अभी इस ओर न गया हो। 'मैं जानता हूँ कि वर्षा हो रही है,' ऐसा साधारणतः मुझे तभी कहना चाहिए जब खिडकी से बाहर झांकने पर मैं बूँदो को सडक पर गिरते या छितराते देखूँ, अथवा जब बाहर निकलने पर मैं उन्हे अपने चेहरे और हाथो पर महसूस करूँ। वास्तव मे, 'मे जानता हूँ कि .....', ऐसा हम तब नही कहते जब शक की थोडी-भी गुंजाइश होती है; इसके बजाय हम कहते हैं, 'मैं सोचता हूँ कि......'।

(1) इस आपत्ति के जवाब मे शायद दो चीजें कही जाएँगी। पहली, 'ज्ञान-सिद्धात' या 'ज्ञानमीमासा' एक अपनाम है। कोई ज्ञान-सिद्धात केवल ज्ञान के स्वरूप-और ज्ञान की वस्तु-विषयक सिद्धात नही होता। यदि वह पूर्णता का कोई दावा करता है तो उसे ज्ञान के परास और उसकी सीमाओ को तथा उन सीमाओ के परे जो कुछ होता है उसको अपने दायरे के अदर लेना होगा। जैसा कि हम देखेगे, अधिकतर समस्याएँ हमारे आगे ठीक इस कारण से आती है कि बहुत-बडी संख्या ऐसी चीजों की होती है जिनका हमे किसी अर्थ मे बोध रहता है और जिनके बारे मे हम निर्णय करते हैं, पर जो बिल्कुल ही ज्ञान के विषय नही होती। निस्संदेह, यदि हमारा सबध केवल जानने की अपनी योग्यता से ही होता, तो ज्ञानमीमासा दर्शन का एक छोटा और काफी नीरस क्षेत्र होती। पर उत्तेजक समस्याएँ पैदा करनेवाली चीजें तो दो ही है, एक न जानने की हमारी योग्यता और दूसरी गलतियाँ करने की हमारी क्षमता। अत, जब तक स्पष्टीकरण न हो तब तक 'ज्ञानमीमासा' इस विषय का एक भ्रामक नाम रहेगा, परतु एक बार स्पष्ट कर दिए जाने पर इस नाम से आगे भ्रम नही होना चाहिए, और चूँकि यह सर्वाधिक प्रचलित नाम है, इसलिए मैं इसका प्रयोग जारी रखूँगा।

दूसरी बात यह कही जाएगी कि 'जब मैं सोचता हूँ तब कौन-सी चीज मेरे मन मे प्रस्तुत रहती है ?', यह प्रश्न पूछते हुए मैंने 'सोचना' शब्द का प्रयोग जितना अधिक व्यापक इसका अर्थ हो सकता है उसमे किया है। दर्शन मे एक पहला पाठ जो प्रत्येक को सीख लेना होता है, यह समझ लेना है कि एक शब्द का सदैव एक और केवल एक अर्थ नहीं होता। दर्शन मे और साथ ही अन्य विषयो मे भी, चाहे वे सैद्धांतिक हो या व्यावहारिक, विवाद बहुत बडी संख्या मे इस तथ्य से पैदा होते हैं कि वादी एक ही शब्द का (अर्थात् यदि वे बात कर रहे है तो एक ही ध्वनि का अथवा यदि सब लिखित रूप मे चल रहा है तो कागज पर अकित एक ही चिह्नो का) अव्यक्त अर्थ-भेद के साथ प्रयोग कर रहे होते हैं।

अब, 'सोचना' शब्द का प्रयोग विविध अर्थों मे किया जाता है : उदाहरणार्थ, 'विश्वास करने' या 'निर्णय करने' के पर्याय के रूप मे, जैसे 'मै सोचता हूँ कि हमारी रोटी समाप्त हो गई है', इस वाक्य मे, 'विमर्श' के पर्याय के रूप मे, जैसे, 'मै सोचता रहा हूँ कि बचाए हुए पैसो का क्या उपयोग करूँ', 'इस वाक्य मे, और फिर इनसे कही अधिक सामान्य अर्थ मे, जैसे किसी साथी से यह पूछते समय कि 'तुम क्या सोच रहे हो ?' साथी इसके उत्तर मे यह बता सकता है कि वह अमुक बात को याद कर रहा है, अथवा यह कि वह अमुक बात की कल्पना कर रहा है, या अमुक बात के बारे मे उसे कुतूहल हो रहा है, इत्यादि। हमे यह नही मान लेना चाहिए कि 'तुम क्या सोच रहे हो ?', हमारे इस प्रश्न का उसका एकमात्र सही उत्तर 'कुछ नही' होगा, बशर्ते वह सचाई के साथ यह न कह सकता हो कि वह सोच रहा है कि मामला ऐसा है (जैसे यह कि हमारी रोटी समाप्त हो गई है), अथवा कि वह किसी बात के बारे में सोच रहा है अर्थात् किसी व्यावहारिक या सैद्धांतिक समस्या का समाधान निकालने का यत्न कर रहा है। काफी सम्भव है कि वह इन बातो मे से कोई भी न कर रहा हो, और फिर भी, यदि वह थोडा भी होश मे हो तो, हमारे प्रश्न का सचाई के साथ यह उत्तर न दे सके कि 'कुछ भी नही (सोच रहा हूँ)'। यह सत्य है कि प्राय. 'क्या सोच रहे हो ?' का 'कुछ भी नही' उत्तर दिया जाता है। परन्तु इसे यथार्थत सचाई के साथ दिया हुआ उत्तर नही कह सकते; और प्रायः इसका पता उत्तर के 'वास्तविक रूप से कुछ भी नही', इस कमजोर रूप से चल भी जाता है।

कोई आदमी यह कि वह कुछ भी नही सोच रहा है, प्रायः इसलिए कहता है कि या तो ऊपर उल्लिखित दो अर्थों मे से किसी मे भी वह नहीं सोच रहा है, या इस तथ्य के साथ-साथ वह अपने मन की बात को पूछनेवाले को बताना भी नही चाहता। 'कुछ भी नही' कहना इस बात से कम कठिन है कि कोई ऐसे विचारो का वर्णन करने की कोशिश करे जो काफी रोचक न हो और इसलिए वर्णन के योग्य न हो, अथवा जो इस प्रकार के हो कि वह पूछनेवाले को उनके अपने मन मे होने का पता देना पसद न करे। परन्तु जब तक किसी आदमी को यह चेतना रहती ह कि उसके मन मे कुछ चल रहा है, भले ही वह विचारो या प्रतिमाओं की एक असबद्ध शृंखला मात्र हो, तब तक वह 'तुम क्या सोच रहे हो ?' इस प्रश्न का सचाई के साथ यह उत्तर नही दे सकता कि 'कुछ भी नहीं'। कहने का अभिप्राय यह है कि इस अर्थ मे जब भी किसी आदमी को किसी चीज की चेतना रहती है—उसको चेतना विधान, निषेध, प्रश्न, सशय, स्मरण, कल्पना, दिवा-स्वप्न इत्यादि किसी के

भी निश्चित रूप मे क्यो न हो, सक्षेप मे, जब भी उसका मन शून्य नही होता, तब वह सोच रहा होता है। हमे यहाँ इस झमेले मे पड़ने की जरूरत नहीं है कि डेकार्ट का यह मानना ठीक था या नही कि यथार्थतः आदमी का मन कदापि शून्य नही रह सकता, अथवा उस बूढ़े का मत ठीक था या नही जिसने कहा था कि कभी-कभी वह बैठा रहता है और सोचता रहता है और कभी-कभी वह केवल बैठा रहता है। जिस बात से शायद कोई भी आदमी इन्कार नही करेगा वह यह है कि हममे से अधिकतर लोगो के मन मे अधिकाश समय मे जब हम सोए नही होते चेतना की कोई-न-कोई शृखला चलती रहती है; अधिकाश समय मे हमारे मन के 'अंदर' कोई-न-कोई चीज बनी रहती है। अतः अब यह स्पष्ट हो गया है कि 'जब मैं सोचता हूँ तब मेरे मन मे कौन-सी चीज़ प्रस्तुत रहती है?', यह मूल प्रश्न चेतना की ('चेतना' शब्द का अधिकतम व्यापक अर्थ मे प्रयोग किया जा रहा है) वस्तुओं की बात पूछता है।

लेकिन, यह नही मान लेना चाहिए कि जिस चीज की हम खोज मे है वह 'चेतना की वस्तुएँ' नाम की वस्तुओ का एक विशिष्ट वर्ग है। भूतकाल मे अनेक दार्शनिक ठीक यही गलती कर चुके है। यह गलती कर बैठना आसान है, पर इससे बचना बहुत जरूरी है। हो सकता है कि ऐसी वस्तुओ का एक विशिष्ट वर्ग हो जो किसी और की न होकर चेतना की ही वस्तुएँ हो, परन्तु जहाँ तक हमने विचार किया है ऐसी वस्तुओ का वर्ग होने की बात सोचने का हमे कोई कारण नही मिला है। फिर, चूँकि चेतना के विभिन्न रूपो की वस्तुएँ शायद अलग-अलग हो ही, इसलिए हमारा यह मानकर चलना ठीक नही होगा कि वे अलग-अलग होती ही नही। निश्चय ही, साधारण भाषा यह मान लेती है कि अपने चारो ओर देखने पर मुझे जिन चीजो की चेतना होती है वे उन चीजो से अलग प्रकार की होती है जिनकी चेतना मुझे कल्पना करते अथवा स्वप्न देखते समय होती है।

इस प्रकार शुरू मे ही हमे यह नही मान लेना चाहिए कि चेतना की वस्तु एक विशिष्ट प्रकार की वस्तु होती है। शायद यह ज्ञात हो जाए कि एक से अधिक प्रकार की वस्तुएँ चेतना के विभिन्न रूपो के विषय होती हैं, अथवा यह कि करीब-करीब हर चीज चेतना का विषय हो सकती है, बशर्ते चेतना का विषय होने का मतलब मन के साथ किसी एक सबध मे स्थित होना मात्र हो, ठीक वैसे ही जैसे कोई भी व्यक्ति भाई हो सकता है बशर्ते वह पुरुष हो और उसके माता-पिता के सबध मे कुछ जीवशास्त्रीय शर्तें पूरी होती हो। भाई होने का मतलब एक विशेष प्रकार का अथवा विशेष लक्षणो से युक्त मनुष्य होना नही है, जब कि, इसके विप-

रीत, गंजा या तोंद होने का मतलब ऐसा मनुष्य होना होता है। एक विशेष संब रखनेवाला किसी भी प्रकार का मनुष्य भाई हो सकता है। इसी प्रकार, एक वि. सबंध, अर्थात् किसी मन को अनुभूत होने का सबध, रखनेवाली किसी भी प्रकार व वस्तु चेतना का विषय हो सकती है।

चूँकि 'सोचना' शब्द को बहुत प्राय: ऊपर बताए गए दो अर्थो मे से कि एक मे, अर्थात् विश्वास करने या विमर्श करने के अर्थ मे लिया जाता है, इसलि मैं इसके स्थान पर 'संज्ञान' शब्द का, इसे व्यापक अर्थ मे ग्रहण करते हुए, प्रय करने का प्रस्ताव करता हूँ—यह शब्द इतना अधिक तटस्थ और अनियतार्थक है इसके प्रयोग के संबंध मे कोई पूर्व धारणाएं या पूर्वग्रह हो ही नही सकते। अब . कह सकते है कि ज्ञानमीमांसा दर्शन की वह शाखा है जो सज्ञान और उसके विष के स्वरूप का अध्ययन करती है।

3 ज्ञानमीमासा और मनोविज्ञान

एक और बात जिसका यहाँ पर, कम से कम एक प्रारंभिक तरीके से, स्पष्ट करण हो जाना आवश्यक है, यह है कि ज्ञानमीमासा और मनोविज्ञान के मध्य . सबध है। ज्ञानमीमासा कहां समाप्त होती है और मनोविज्ञान कहाँ शुरू होता है और इस बात का निर्णय कोई कैसे करे कि मन और उसके विषयों के बारे मे वि ष्ट एक समस्या के दार्शनिक समाधान की जरूरत है या मनोवैज्ञानिक समाधान की उत्तर यह है कि कोई स्पष्ट उत्तर दिया ही नही जा सकता, अर्थात् कम से कम समय तो दोनो के बीच मे कोई ऐसी नितान्त स्पष्ट सीमा-रेखा खीची ही नहीं सकती जो दोनो को पृथक् करे। जिस प्रकार अन्य प्राकृतिक विज्ञान 'दर्शन' क लानेवाले अव्यवस्थित ज्ञान-पुंज से पृथक् होकर स्वतंत्र बन गए, ठीक उसी प्रक मनोविज्ञान भी इस समय अपने अस्तित्व को दर्शन से स्वतंत्र करने मे लगा हुआ

इंगलैंड में यह प्रक्रम सत्रहवी शताब्दी के अत मे जॉन लॉक के साथ शुरू हु जिनका 'एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अडरस्टैंडिंग' (मानवीय बुद्धि-विषयक निबंध) ना ग्रंथ 'मानवीय ज्ञान के उद्गम, निश्चितता और क्षेत्र का पता लगाने के उद्देश्य लिखा गया था और जिसमें 'एक ऐतिहासिक, सुगम प्रणाली' का अनुस करने का दावा किया गया था (एसे, I, 1, 2)। उस समय 'मानसिक दर्शन' . मे प्रसिद्ध विषय के अतर्गत वे सारे प्रश्न आ जाते थे जो अब ज्ञानमीमासा, वैज्ञा

प्रणाली, नैतिक दर्शन और मनोविज्ञान के अलग अलग शीर्षकों के अंतर्गत आते है।[1] अभी भी जब कोई आदमी यह कहता है कि उसकी मनोविज्ञान मे रुचि है तब यह कथन स्वत श्रोताओ को यह नहीं बताता कि उसका अभिप्राय क्या है, और श्रोता बाध्य होकर यह पूछ सकते हैं कि 'आपका मतलब दार्शनिक मनोविज्ञान से है या प्रयोगात्मक मनोविज्ञान से ? क्या आप अपने अध्ययन-कक्ष मे बैठकर अतर्निरीक्षण करते हैं अथवा आप लोगो, बदरो और चूहों को प्रयोगशाला मे समस्याओ मे उलझाते हैं ?'

इसके बावजूद, एक अतर बताया जा सकता है जो हमारे प्रयोजन के लिए उपयुक्त होगा (मनोविज्ञान एक इद्रियानुभविक विज्ञान है जो यह पता लगाने की चेष्टा करता है कि हमारे मन किस प्रकार काम करते है—अर्थात् विभिन्न मानसिक प्रक्रम क्या है और उनके अदर कौन-से कारण-नियम काम करते है—और इसके पीछे यह उद्देश्य होता है कि सामान्य और अपसामान्य दोनो ही प्रकार की मानसिक घटनाओ की यथासंभव पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की जाए। इसकी अध्ययन-प्रणालिया वही है जो प्राकृतिक विज्ञान की होती है। लेकिन एक सख्त बाधा इसके अध्ययन मे यह है कि इसकी विषय-वस्तु का सीधा निरीक्षण नही किया जा सकता (उस अवस्था को छोडकर जब विषय स्वय प्रयोगकर्त्ता के मन के अदर की घटनाएं होता है), बल्कि उसका मनुष्यो (या कभी-कभी मनुष्येतर प्राणियो) के शरीरो के बाह्य रूप और व्यवहार का प्रेक्षण करके अनुमान करना होता है। इस प्रकार, मनोविज्ञान का सबध कारण-सबधी प्रश्नो से, यह पता करने से कि मन किस प्रकार काम करते है, है। इसके विपरीत, ज्ञानमीमांसा का संबंध मन किस चीज के ऊपर काम करते हैं, उनकी सामग्री क्या है, उस सामग्री का बाह्य जगत् की वस्तुओ से क्या सबध है, अन्य व्यक्तियो के मनो से क्या सबध है, इतिहास की घटनाओ से क्या सबध है, इत्यादि प्रश्नो से है।)

अत यह स्पष्ट है कि वैसा प्रश्न जैसा लॉक ने पूछा था ('हमारे प्रत्ययो का मूल क्या है ?') जननिक मनोविज्ञान का एक प्रश्न हो सकता है अथवा ज्ञानमीमांसा का भी प्रश्न हो सकता है; कि जिस सदर्भ से इस प्रश्न का सबध है उसे जाने बिना कोई इसका उत्तर नही दे सकता; और एक क्षेत्र मे इस प्रश्न का उत्तर देना दूसरे क्षेत्र मे इसका उत्तर पाने मे सहायक हो सकता है। मनोविज्ञान और

1. आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान मे सबसे पुराने पद का अधिकृत नाम है 'मानसिक दर्शन मे वाइल्ड रीडर-पद' ("The Wilde Readership in Mental Philosophy")।

ज्ञानमीमासा की सीमाएं परस्पर कहा मिलती हैं, इसका निर्णय केवल परिपाटी ही कर सकती है। और चूंकि सीमावर्ती क्षेत्र मे इनकी रुचिया तथा प्रणालिया मिलती-जुलती होगी, इसलिए स्पष्ट परिपाटी पर जोर देने का कोई लाभ नही होगा, हालाकि बाद मे ऐसा समय आ सकता है जब मनो- विज्ञान अपने अदर एक उच्चतर स्तर की सूक्ष्मता ले आया होगा और जब नितात स्पष्ट विभाजन आवश्यक हो जाएगा।

मनोविज्ञान और ज्ञानमीमासा के बीच, 'कैसे' पूछने और 'क्या' पूछने के बीच, जो सामान्य अतर है उसे स्मृति का उदाहरण देकर समझाया जा सकता है, जिसकी कुछ समस्याओ पर हम जल्दी ही विचार करेंगे। मान लीजिए कि इस क्षण मुझे दस वर्ष पूर्व उत्तरी स्पेन के एक गांव मे तेलयुक्त समुद्री मछली खाने की याद हो आती है। मनोवैज्ञानिक को इस स्मृति मे दो तरह से दिलचस्पी हो सकती है शायद वह यह जानना चाहेगा कि जो घटनाए एक आदमी के अतीत मे, अब से कम या अधिक पहले, घट चुकी हैं वे कैसे स्मृति मे हूबहू प्रकट होने में समर्थ हो जाती हैं, वह इस बात के कारण के बारे मे प्रश्न पूछेगा कि कैसे मेरे अतीत की घटनाएँ भावी उपयोग के लिए मन में इस तरह सुरक्षित बनी रहती है जैसे कि मानो फाइल के अदर हो। उसे यह भी जिज्ञासा हो सकती है कि उस क्षण-विशेष मे कोई अन्य स्मृति होने या उसी स्मृति के किसी अन्य समय मे होने के बजाय वही स्मृति मुझे कैसे हुई। यहाँ उसके द्वारा पूछा जानेवाला कारण-विषयक प्रश्न पिछले प्रश्न से भिन्न होगा। इस बात को मानते हुए कि सामान्यतः मेरे अतीत अनुभवों के इस समय उपलब्ध होने की कारणपरक व्याख्या दी जा सकती है, अब वह पूछता होगा कि मेरी वर्तमान स्थिति (मेरी मानसिक और शारीरिक अवस्था, मेरे आसपास की चीजें, हमारे वार्तालाप का विषय इत्यादि) मे वे कौन-से हेतु ह जो इस स्थान पर और इस समय उस स्मृति को जगाने के लिए समर्थ है ?

दूसरी ओर, दार्शनिक की स्मृति मे दिलचस्पी इससे भिन्न, पर साथ ही इससे सबद्ध भी, होती है। वह यह जानना चाहता है कि स्मरण करते समय वह करता क्या है। वह विशेष रूप से इस प्रकार के प्रश्न पूछता होता है : स्मृति-प्रतिमा क्या होती है ? स्मरण करते समय की प्रतिमा तथा स्मृत अनुभव के मध्य क्या सबध है ? क्या स्मरण करना जानने का एक तरीका है ? वह कौन-सी कसौटी है जो स्मरण को कल्पना से अलग करती है ? इत्यादि। दार्शनिक इस बात पर सदेह कर सकता है कि स्मृति अतीत के बारे मे जानकारी देती है, और तब वह इस सदेह को एक या अन्य तरीके से मिटाने का प्रयत्न करेगा। मनोवैज्ञानिक को इस

प्रश्न में कोई दिलचस्पी नहीं होती। वह स्मरण को एक ऐसी प्राकृतिक घटना के रूप में लेता है जिसकी कारणात्मक व्याख्या देनी है, ऐसी बात के रूप में नहीं जो अतीत का साक्षात् ज्ञान करानेवाली हो या अतीत के बारे में एक नितान्त अयुक्ति-युक्त विश्वास हो। अनुपगत., जैसा कि हम बाद में देखेंगे, स्मृति का उदाहरण न केवल मनोविज्ञान और ज्ञानमीमांसा के अंतर को स्पष्ट कर देता है, बल्कि सीमांत क्षेत्र में उनकी एकता को भी दिखा देता है, क्योंकि अपने कुछ प्रश्नों का उत्तर देने के लिए दार्शनिक को मनोवैज्ञानिक के दो प्रश्नों में से पहले का—अर्थात् इसका कि अतीत के अनुभव भविष्य की स्मृतियों के लिए कैसे उपलब्ध होते हैं—उत्तर देना होगा।

4. दो प्रारम्भिक प्रश्न

अब हम ज्ञानमीमांसा की कुछ समस्याओं की ओर ध्यान दे सकते हैं। इन समस्याओं को बताने के लिए हम दो प्रश्न पूछेंगे और उनके ऐसे उत्तरों को ध्यान में रखेंगे जो कोई भी सामान्य व्यक्ति जो दार्शनिक चिंतन की प्रवृत्ति नहीं रखता, दे सकता है, तथा उसके बाद हम यह विचार करेंगे कि ये उत्तर हमें कहाँ पहुँचाते हैं। वे दो प्रश्न ये हैं :

(1) इंद्रिय-प्रत्यक्ष में हमें चेतना किसकी होती है ?

(2) ज्ञान या विश्वास में हमें किस चीज की चेतना होती है ?

इन पर मैं एक-एक करके विचार करूँगा।

5. इंद्रिय-प्रत्यक्ष में हमें चेतना किसकी होती है ?

साधारण आदमी इस प्रश्न का उत्तर अधिकांशत यह देगा कि उसे भौतिक वस्तुओं की चेतना होती है। यदि वह कुछ चतुर हुआ, तो वह इतना और जोड़ सकता है कि सामान्यत: तो उसे भौतिक वस्तुओं की चेतना होती है, पर कुछ मामले इसके अपवाद भी होते हैं। उदाहरणार्थ, वह कहेगा कि जब वह कमरे के बाहर अपनी पत्नी को देखता है तब तो उसे चेतना एक भौतिक वस्तु की होती है, परंतु जब वह शीशे में अपनी पत्नी के प्रतिबिंब को देखता है तब वह जो कुछ देखता है वह एक भौतिक वस्तु नहीं है (हालांकि शीशा स्वयं वैसी ही एक भौतिक वस्तु है जैसी उसकी पत्नी)। उसे परछाइयों के बारे में, तथा ऊष्मा की धुंध और उससे पैदा होनेवाले भ्रमों के बारे में भी संदेह हो सकता है। परंतु इस तरह के अपवादों को छोड़कर अन्य मामलों में जिस चीज की उसे इंद्रिय-प्रत्यक्ष में चेतना होती है उसे

वह भौतिक वस्तु बताएगा। (हममे से अधिकतर, जो अधे नही है, प्रत्यक्षविषयक प्रश्नों का उत्तर देते समय चाक्षुष प्रत्यक्ष की बात सोचते है, क्योकि हमारी इद्रियो मे से आंखो का ही प्रयोग सबसे अधिक होता है। जब तक कोई यह मान लेने की गलती नही करता कि आँखो के बारे मे जो बात सही है वह अवश्य ही अन्य इद्रियो के बारे मे भी सही होगी, अथवा विलोमत जो बात अन्य इद्रियो के बारे मे सही है वह आंखो के बारे मे भी अवश्य सही होगी, तब तक ऐसा सोचना अधिक हानिकारक नही है।)

यदि जिस चीज की उसे इद्रिय-प्रत्यक्ष मे चेतना होती है उसको और अधिक विशिष्ट करके कहने के लिए उसे कहा जाए, तो वह भौतिक वस्तु की परिभाषा देने का प्रयत्न करने के बजाय शायद उदाहरण देगा और कहेगा कि भौतिक वस्तुएँ इस तरह की चीजें है जैसे मेज-कुर्सी, फूल, हाथी, टाइपराइटर इत्यादि। वास्तव मे अपने चारो ओर दृष्टि डालने से जो भी चीजें वह देखता है (ऊपर बताए हुए अपवादो को छोडकर) उन्हे वह भौतिक बताएगा। और यदि उससे यह पूछा जाए कि क्या अपने चारो ओर देखने पर उसे कभी एक मेज या कुर्सी दिखाई दी तो उसका उत्तर 'हाँ' मे होगा, बशर्ते वह इस प्रश्न को उत्तर देने के योग्य समझता हो।

अब मान लीजिए कि हम और अधिक विशिष्टीकरण के लिए उसके ऊपर दवाव डालते है। मान लो कि हम उसके आगे एक साधारण ताश खेलने की मेज रख देते है और कहते है कि जो कुछ वह देख रहा है उसका वर्णन करे। वह यह उत्तर दे सकता है कि वह एक ताश की मेज देख रहा है जिसका वर्गाकार ऊपरी भाग हरे रग की बनात से ढका है और हर ओर तीन-तीन फुट है, जिसकी चार टागें सीधी और लकडी की बनी है, और लकडी का रग सब जगह गहरा भूरा है। यह पूछे जाने पर कि जो कुछ वह देख रहा है उसके बारे मे क्या वह आश्वस्त है, वह कहेगा कि वह आश्वस्त है। और निश्चय ही, यदि हम कोई व्यावहारिक मजाक उसके साथ नही कर रहे है, तो साधारण रूप से उसका कहना सही ही होगा। यही वह देख रहा है—एक ताश खेलने की मेज जिसका ऊपरी भाग वर्गाकार है, इत्यादि। परतु देखना उतनी आसान और सीधी-सादी बात नही है जितनी एक साधारण आदमी मान लिया करता है। मामला मात्र इतना नही है कि आदमी अपनी आँखो को खुली रखे और अपने ध्यान को सजग रखे और इस प्रकार प्रत्येक चीज को वह हूबहू वैसी ही देख लेगा जैसी वह वास्तव मे है। देखने की क्रिया मे अन्य बातो के साथ-साथ दिए हुए रूप का अपने पिछले अनुभव के प्रकाश मे अर्थ लगाने की क्रिया भी शामिल रहती है।

इस प्रकार अर्थ लगाने की क्रिया अनुमानाश्रित हो सकती है अथवा ज्यों-का-त्यों मान लेने के समान हो सकती है, परन्तु हर दशा में वह होती व्यक्ति के अनुभव पर आश्रित ही है। उदाहरणार्थ, मेज को ताश की मेज के रूप में देखना ऐसा तथ्य नहीं है जो प्रकृत रूप में आँखों को उपलब्ध हो। कोई मेज को ताश की मेज के रूप में इसलिए पहचानता है कि उसकी शक्ल और आकार तथा उसका बनात से ढका ऊपरी भाग उन अन्य मेजों से मिलते-जुलते है जिन्हें पहचाननेवाले ने पहले ताश खेलने के लिए इस्तेमाल किए जाते देखा था। निस्सदेह, सामान्यत. जब चीजें काफी परिचित होती हैं तब जो कुछ व्यक्ति को दीखता है उसका अर्थ लगाने में उसे तर्क की किसी चेतन प्रक्रिया में से नहीं गुजरना पड़ता। उसे मन-ही-मन यह कहने की आवश्यकता नहीं होती कि 'यहाँ एक बनात से ढके वर्गाकार ऊपरी भाग वाली मेज है, इससे मिलते-जुलते रूप, आकार, और उपादान वाली जो अन्य मेजें *मैंने भूतकाल में देखी थी वे ताश खेलने की मेजें थी, अत: यह एक ताश खेलने की* मेज है।' पहचानना एक आदत की बात बन जाता है, और जीवन जितना छोटा और व्यस्त होता है उसे देखते हुए यह एक अच्छी ही बात मालूम पड़ती है। जो वस्तुएं इतनी सुपरिचित नहीं है, उनके सम्बन्ध में अनुमान की जरूरत होगी। उदाहरणार्थ, एक यांत्रिक इजिनियर जिसके सामने ऐसी मशीन हो जिसे उसने पहले कभी न देखा हो, उसके पुरजों और सबधनों का अध्ययन करके यह पता लगाने में समर्थ हो सकेगा कि वह कौन-सी मशीन है और उसका काम क्या है।

फिर, जो कुछ एक आदमी देखता है—इस अर्थ में कि वह प्रतीत होनेवाली आकृति का क्या अर्थ लगाता है, वह अशत: उसकी अभिरुचि पर निर्भर होगा। एक ताशबाज या ब्रिज का दीवाना हमारी मेज को एक ताश की मेज के रूप में देखेगा, परन्तु शायद वे टांगों की आकृति या बनात से ढके ऊपरी भाग के वास्तविक रंग की ओर ध्यान न दें। एक बढई टांगों, जोडों और लकड़ी की किस्म की ओर ध्यान देगा, परन्तु शायद यह बात उसके ध्यान में कतई न आए कि वह ताश की मेज है। एक कपड़े की दुकान में काम करनेवाला आवरण के रंग, रोओं और किस्म को तथा एक कोने में कीडों के बनाए हुए छिद्रों को ठीक-ठीक देख लेगा। सभी उसे एक मेज के रूप में देखेंगे। परन्तु प्रत्येक का देखना अन्यों की अपेक्षा न्यूनाधिक रूप से भिन्न होगा।

अब हम अपने आदमी को मेज के ऊपरी भाग की आकृति बताने को कहेंगे। उसका उत्तर स्वभावत: यह होगा कि वह वर्ग है; और यदि पूछा जाए कि वह उसे वर्ग क्यों समझता है, तो वह उत्तर देगा कि 'क्योंकि वह वर्ग दिखाई देता है।' अब,

क्या वह वर्ग दिखाई देता है ? हाँ, हो सकता है, इस अर्थ मे कि देखनेवाले के निर्णय या धारणा के अनुसार उसकी आँखो के सामने प्रस्तुत रूप एक वर्गाकार मेज का रूप है। पर, क्या वास्तविक रूप स्वय वर्ग दिखाई देता है ? निश्चय ही, प्रायः कभी नही। वह वर्ग केवल तभी दिखाई देता है जब देखनेवाले की दृष्टि-रेखा मेज के ऊपरी भाग के साथ पूरा या करीब-करीब पूरा समकोण बनाती है, जो केवल तभी सभव होता है जब या तो देखनेवाला मेज के ऊपर लटका हो या मेज ही उलटकर उसकी ओर मुड गई हो। वस्तुतः जब मेज कमरे के मध्य मे अपनी चारो टाँगो पर खडी रहती है तब देखनेवाले के देखने के विभिन्न कोणो और दूरियो के अनुसार मेज का ऊपरी भाग न्यूनाधिक रूप मे समातर भुजाओ के जोडे वाली चतुर्भुजी आकृतियाँ आश्चर्यजनक विविधता के साथ प्रस्तुत करता है। यदि देखनेवाले दो हैं और वे कही भी खडे है पर एक-दूसरे के बहुत निकट नही है, तो वही मेज एक साथ उनमें से प्रत्येक के आगे अलग-अलग आकृतियाँ प्रस्तुत करेगी।

ऐसी बात नही है कि हमारी मेज मे केवल आकृति को ही बदलने की विचित्रता हो। देखनेवाले की उससे जो दूरी होती है उसके और दोनो के मध्य जो पदार्थ होता है उसकी प्रकृति के अनुसार मेज का आकार भिन्न दिखाई देगा : हम सब जानते है कि जब हम किसी वस्तु को कुहरे मे से या धुएँ से भरे कमरे मे मे अस्पष्ट-सी देखते है तब वह कैसे 'बडी' दिखाई देती है। बनात या लकडी का रग विभिन्न प्रकाशो मे, विभिन्न माध्यमो (यदि देखनेवाला धूप का चश्मा पहने है तो उसके वर्ण की आभा भी इनमे शामिल है) मे से देखे जाने पर, अथवा स्वय देखनेवाले के शरीर की विभिन्न अवस्थाओ मे अलग-अलग दिखाई देगा। पीलिया मे चीजें कुछ पीली-सी दिखाई देती है, और सेन्टोनिन-जैसी औषधो के सेवन से रग बहुत ही विचित्र दिखाई देते है।

(2) 6. सवेदन और प्रत्यक्ष में अतर

इन बातो मे यह प्रकट होता है कि इन्द्रियानुभव मे हमे अव्यवहित रूप से जिसकी चेतना होती है (हरी-सी समातर-चतुर्भुजी आकृति) उसमे और जिसका प्रत्यक्ष करने का हम दावा करते हैं (एक ताश खेलने की मेज का बनात से ढका वर्गाकार ऊपरी भाग) उसमे हमे शायद कोई भेद करना होगा। इन बातो का अन्य बातों से भी समर्थन किया जा सकता है : इसमे कोई सदेह नही करेगा कि घोर पियक्कड़ को गुलाबी रग के चूहे दिखाई देते हैं जबकि चूहे वहाँ होते ही नहीं।

आँखों को भेंगा करने या एक नेत्र-गोलक को दबाने से चीजें दो दिखाई देती हैं, लेकिन यह नहीं माना जाएगा कि इससे सचमुच की एक दूसरी ताश खेलने की मेज पैदा हो गई है जो अस्पष्ट रूप से पहली मेज को अंशत: आच्छादित किए है या थोड़ा उसमें घुसी हुई है। यदि एक व्यक्ति गलती से सडक पर एक अन्य व्यक्ति को जो वास्तव में एक बिल्कुल ही अपरिचित ब्राउन नामक व्यक्ति है, वर्षों पहले देखा जोन्स नामक मित्र समझकर पुकारता है, तो उसका भ्रम उतना ही है जितना रेगिस्तान में यात्रा करनेवाले उस व्यक्ति को होता है जो एक नखलिस्तान देखता है पर वहाँ जाकर पाता है कि वह तो मरीचिका मात्र था।

ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे इन बातों में अन्तर करने की आवश्यकता प्रकट होती है कि इन्द्रियानुभव में दत्त क्या है और दत्त का हम अर्थ क्या लगाते हैं, पर केवल एक ही और पर्याप्त होगा। स्कूल में एक लडका जल्दी ही यह सीख लेता है कि तारे पृथ्वी से बहुत ही विशाल दूरी पर स्थित हैं और एक रात जब वह ध्रुवतारे की ओर देखता है तब उसे जो आकृति दिखाई देती है वह प्रकाश की बहुत बड़ी चाल के बावजूद ध्रुवतारे की उस समय की आकृति नहीं होती बल्कि लगभग चार सौ वर्ष पहले की होती है। जिस आयु में पहले-पहल हमें यह जानकारी होती है उसमें हममें से बहुत कम यह पूछने की पर्याप्त उत्सुकता रखते हैं कि फिर आकाश की ओर देखकर तत्काल जिस चीज की हमें चेतना होती है उसका स्वयं ध्रुवतारे से क्या संबंध होगा। यदि हमें ऐसी जिज्ञासा हो तो हम समझ लेंगे कि जिस चीज की हमें प्रकृत रूप में चेतना होती है वह ध्रुवतारा ही है, ऐसा दावा करना कठिन होगा, क्योंकि यदि ध्रुवतारा एकाएक इस समय निष्प्रभ हो जाए तो उसके निष्प्रभ होने की जानकारी हमें चार सौ से कुछ अधिक वर्ष बाद से पहले नहीं हो सकेगी। ✗

सौभाग्य से, जो वस्तुएँ मुख्यत: हमारे ध्यान में रहती हैं उनकी हमसे दूरियाँ अधिकांशत (यदि हम खगोलज्ञ नहीं हैं तो) इतनी कम होती हैं कि प्रकाश के उनसे हम तक पहुँचने में व्यावहारिक रूप से क्षण-भर ही लगता है। सिद्धांतत: ऊपर वाली पेचीदगी तो बनी रहती है, पर चूँकि इससे कोई द्रष्टव्य अंतर नहीं आता इसलिए हम उसकी उपेक्षा कर देते हैं। वास्तव में, मानव-जाति में बहुत ही विशाल संख्या ऐसे लोगों की है जो इसकी उपेक्षा करने की स्थिति तक पहुँचे ही नहीं होते, बल्कि इसके बारे में बिल्कुल अज्ञान की आदिम अविक्षुब्ध स्थिति में ही पड़े रहते हैं।

जिसका एक आदमी को संवेदन होता है और जिसका उसे प्रत्यक्ष होता है, उनमें ऊपर के जैसे अंतर कोई नए नहीं हैं। चौथी शताब्दी ई० पू० में प्लेटो ने काफी स्पष्टता के साथ इनकी ओर ध्यान खींचा था (जैसे, थिएटेटस में), और डेकार्ट तथा उसके बाद के आधुनिक दार्शनिकों ने इनकी ओर बहुत ध्यान दिया है—कुछ तो ऐसे हुए जिन्होंने अधिक ध्यान इन्हीं पर दिया है। बहुत प्राय एक या दूसरे रूप में इनकी द्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। लॉक का मत यह था कि इंद्रियानुभव में जिस चीज की हमें अव्यवहित रूप से चेतना होती है वह है 'प्रत्यय'—ये प्रत्यय पूर्ण रूप से मन पर आश्रित होते हैं परंतु बाह्य जगत् की वस्तुओं का भी प्रतिनिधित्व करते हैं (एसे, II, 1) और इनका दो प्रकारों में विभाजन किया जा सकता है, एक वे जो वस्तुओं का प्रतिनिधित्व ही नहीं करते बल्कि उनमें सादृश्य भी रखते हैं और दूसरे वे जो वस्तुओं का प्रतिनिधित्व तो करते हैं पर उनसे सादृश्य नहीं रखते (वही II, 8, 15)। बर्कली ने यह तो स्वीकार किया कि इंद्रियानुभव के साक्षात् विषय 'प्रत्यय' होते हैं, परन्तु प्रत्ययों और उन भौतिक वस्तुओं के संबंध के बारे में जिनके वे प्रत्यय हैं उसका मतभेद था। लॉक के मत से यह संबंध कुछ वैसा ही है जैसा एक नक्शे का उस प्रदेश के साथ होता है जिसका वह नक्शा है; बर्कली के अनुसार यह संबंध वही है जो परिवार के एक सदस्य का स्वयं परिवार के साथ होता है। परिवार अपने संबंधित सदस्यों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता, और एक भौतिक वस्तु भी अपने अंशभूत परस्पर संबंधित प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[1] बर्कली के तुरंत बाद ह्यूम आया जिसने अपने पूर्ववर्तियों से कुछ भिन्न शब्दावली का प्रयोग करते हुए—जिसे उन्होंने प्रत्यय (आइडिया) कहा उसे ह्यूम ने संस्कार (इम्प्रेशन) कहना अधिक पसंद किया (ट्रीटिज ऑफ ह्यूमन नेचर, I, 1, 1)—बर्कली के मत (वही, I, 4, 3) और उससे भी अधिक अतिवादी इस मत के बीच का असुविधाजनक रास्ता अपनाया कि हमारा परस्पर पृथक् और आनुक्रमिक संस्कारों के बजाय भौतिक वस्तुओं के माध्यम से सोचना महज एक गलती है जिसके हम सभी दोषी हैं और जो कल्पना पर अविचारपूर्वक भरोसा रखने का परिणाम है (ट्रीटिज ऑफ ह्यूमन नेचर I, 4, 2 और 6)।

आजकल के दार्शनिकों ने फिर शब्दावली बदल दी है। चूंकि यह कहना कि जब हम एक मेज की ओर देखते हैं तब हमारे मन में 'उसका एक प्रत्यय' पैदा

---

1 "एक विशेष रंग, स्वाद, गंध, आकृति और ठोसपन एक साथ देखे जाने पर एक पृथक् वस्तु, जिसे सेब का नाम दिया जाता है, माने जाते हैं।" (प्रिंसिपल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज, 1; I, 8 और 9 भी देखिए।)

होता है, हमारे आजकल के सामान्य भाषा-प्रयोग के अनुरूप नहीं होगा—वस्तुतः इन शब्दों का प्रयोग हम केवल उस अवसर पर करना अधिक पसंद करते हैं जब हम मेज की अनुपस्थिति में उसकी बात सोचते हैं (जैसे, तब जब हम उसका स्मरण करने या उसकी कल्पना करने की चेष्टा करते हैं)—इसलिए वे प्राय. इंद्रिय-दत्त और उसके विषय में भेद करते हैं। मैं समझता हूँ कि 'इंद्रिय-दत्त' *(सेन्स डेटम)* शब्द का प्रयोग पहले-पहल बर्ट्रेन्ड रसेल ने किया था और इसपर पहले ही विशाल साहित्य उपलब्ध है। आजकल के दार्शनिक को इस बात का निश्चय करना होता है कि प्रत्यक्षविषयक सिद्धांतों की घबरा देनेवाली विविधता में से किसको अपनाए। इन सिद्धांतों में से प्राय. सभी का केन्द्र-बिन्दु इंद्रिय-दत्त (इसके अन्य पर्याय भी है, जैसे 'संवित्त'—सेन्सम, 'दृष्टि-प्राग्ग्रह—विजुअल प्रिहेन्सम, इत्यादि) और उसके विषय के सम्बन्ध की पुरानी समस्या है। लगभग सभी यह स्वीकार करते हैं कि इंद्रिय-दत्त का सदैव उस भौतिक वस्तु के अंश के साथ जिससे वह सम्बद्ध है, तादात्म्य नहीं किया जा सकता, और कि किसी का इस प्रकार उसका उससे तादात्म्य करना कभी उचित सिद्ध किया भी जा सकता है, यह बात संदेहास्पद है।[1]

एक विरोधी मत के अनुसार—मैं समझता हूँ कि इसमें यदि पूरा नहीं तो थोड़ा औचित्य अवश्य है—दार्शनिकों ने इंद्रिय-दत्तों के बारे में इस प्रकार बात करके जैसे कि मानो वे विचित्र प्रकार की ठोस वस्तुएं हों जिनका येन-केन प्रकारेण भौतिक वस्तुए कहलानेवाली अन्य वस्तुओं से संबंध जोड़ना ही है, स्वयं को प्रत्यक्ष को लेकर अनावश्यक समस्याओं में बांध दिया है, और यह प्रश्न कि इंद्रिय-दत्तों का अस्तित्व है या नहीं, एक अवास्तविक प्रश्न है। यदि कोई प्रात्यक्षिक अनुभव का *वर्णन इंद्रिय-दत्तों के माध्यम से करना पसंद करता है तो यह भाषाई सुविधा की* बात है। इंद्रिय-दत्तों वाली भाषा न किसी समस्या का हल करती है और न किसी नई समस्या को पैदा ही करती है।[2]

संवेदन और प्रत्यक्ष की जटिलताओं पर और अधिक विचार ऐसी पुस्तक में ही किया जा सकता है जो विशेष रूप से प्रत्यक्ष के विषय पर लिखी गई हो, जब कि यह पुस्तक ऐसी नहीं है। आशा है कि जितना कहा जा चुका है वह यह बताने के लिए पर्याप्त होगा कि 'इंद्रिय-प्रत्यक्ष में हम चेतना किस चीज की होती है ?', इस

1 इस विषय पर जो कुछ बहुत विशाल पैमाने पर लिखा जा चुका है उसमें उल्लेखनीय हैं: एच० एच० प्राइस, पर्सेप्शन; सी० डी० ब्रॉड, माइण्ड ऐंड इट्स प्लेस इन नेचर, *अध्याय 4*; जी० ई० मूर, फिलासोफिकल स्टडीज, अध्याय 2, 5, 7।

2. देखिए, ए० जे० एयर, फाउन्डेशन्स ऑफ एम्पिरिकल नॉलेज, अध्याय १।

प्रश्न का उत्तर उतना सीधा नही है जितना अविमर्शी सामान्यबुद्धि को लगता है कि इंद्रियो को होनेवाली प्रतीति के तथा जिस वस्तु की वह प्रतीति है उसके बीच भेद करना आवश्यक है। इससे आपाततः द्वैतवाद का, अर्थात् इस मत का कि इंद्रिय-दत्त, यानी जिनकी हमें अव्यवहित रूप से चेतना होती है, किसी रूप मे हमारे मन और भौतिक वस्तुओं के मध्यस्थ होते हैं, समर्थन होता है। यहा हम इस चर्चा मे नही पड़ेगे कि मध्यस्थता का सबध ठीक-ठीक क्या है। इतनी तक चर्चा हम नही करेंगे कि यह सबध सभी परिस्थितियो मे एक ही होता है या नही। फलतः मैं 'इंद्रिय-दत्त' शब्द का प्रयोग उस चीज के अर्थ मे करूंगा 'जिसकी सवेदन मे मुझे अव्यवहित रूप से चेतना होती है', और इस प्रश्न को खुला छोड दूंगा कि इंद्रिय-दत्त कभी या सदैव उन वस्तुओं से पृथक् पदार्थ होते है या नही जिनसे उनका सबध होता है। कम से कम यह तो स्पष्ट लगता है कि कोई अपने सभी इंद्रिय-दत्तो का, यहा तक कि अपने सभी सामान्य इंद्रिय-दत्तो का भी, भौतिक वस्तुओं के अंशो के साथ उस तरह से तादात्म्य नही कर सकता जिस तरह से हम अ-दार्शनिको के रूप मे चुपचाप तादात्म्य करने की प्रवृत्ति रखते हैं।

7. जानने या विश्वास करने में हमें चेतना किसको होती है ?

ऊपर मैंने जिन दो प्रश्नो का उल्लेख किया था उनमे से यह दूसरा है। हम देखेंगे कि जिस दिशा मे पहले प्रश्न के उत्तर हमे पहले ही ले जा चुके हैं उसमें मिलती-जुलती दिशा में ही इस प्रश्न के उत्तर भी हमे ले जाएंगे। प्रश्न को इस रूप मे पूछा जा सकता है . जब भी हम जानते या विश्वास करते हैं तब कोई ऐसी चीज होती है जिसे हम जानते है या जिसपर हम विश्वास करते हैं। मात्र जानने या मात्र विश्वास करने जैसी कोई बात होती नही। ये तो मन की अवस्थाएं है और इनके कोई विषय या कर्म होने ही चाहिए। तो इनके क्या कर्म हैं ? फिर प्रारभ मे ही हमें ऐसा मान लेने का कोई अधिकार नही है कि ये कर्म सब-के-सब एक ही प्रकार के होते है, और जांच-पड़ताल से भी इस बात का जोरदार सुझाव मिलेगा कि वे एक प्रकार के नही है।

8. ज्ञान के विषय

पहले जानने को ही लें और देखें कि हम इसके क्या कर्म बताना चाहेंगे। जानने से कम से कम दो भिन्न प्रकार प्रतीत होते हैं जिनके दो भिन्न विषय होते हैं।

(i) मैं कह सकता हूँ कि मैं 'विलियम्स को जानता हूँ' या 'मैं लार्ड्स को जानता हूँ'; इस अर्थ में कि मैं इनसे परिचित हूँ। परिचय के अर्थ में, जानने के कर्म साधारणतः व्यक्ति और वस्तुएं बताए जाएंगे। वस्तुओं में से स्थानों का जानने के कर्मों के रूप में प्रयोग सर्वाधिक सामान्य रूप से किया जाता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है कि केवल उन्हीं का प्रयोग हो। कोई पशु भी कर्म हो सकता है, जैसे एक कुत्ता। एक आदमी यह पूछे जाने पर कि क्या वह रोबिन्सन के कुत्ते को जानता है, यह उत्तर दे सकता है कि वह जानता है (या नहीं जानता)। साधारणतः वह यह नहीं कहेगा कि प्रश्न उसकी समझ में नहीं आया। कर्म एक निर्जीव वस्तु भी हो सकता है। एक आदमी यह कह सकता है कि ब्राउन की पुरानी कार को वह जानता है, पर अभी तक उसकी नई कार उसने नहीं देखी। अब, यह कहना निश्चित रूप से पूरी बात नहीं है कि परिचय के अर्थ में जानने के कर्म व्यक्ति और वस्तुएं होते हैं। पहली चीज यह है कि परिचय ठीक-ठीक क्या होता है और किन स्थितियों में हम किसी व्यक्ति या वस्तु से परिचित होने का दावा कर सकते हैं, यह स्पष्ट करने के लिए और अधिक व्याख्या आवश्यक होगी। हम बार-बार इस तरह बात किया करते हैं जैसे कि मानो परिचय एक सीधा-सादा सम्बन्ध न होकर एक जटिल सम्बन्ध हो जिसमें परिवर्तन या मात्रा-भेद हो सकते हों। हम कहते हैं कि 'विलियम्स से एक या दो बार मिला हूँ, पर वास्तव में उसे जानता नहीं', कि 'जानता-भर हूँ, बस इतना ही', कि 'लार्ड्स को थोड़ा ही जानता हूँ, पर ओल्ड ट्रैफर्ड को खूब अच्छी तरह', इत्यादि। दूसरी बात यह है कि यदि बर्ट्रेन्ड रसेल की बात सही है तो यह कहना सही नहीं है कि व्यक्ति और वस्तुएं परिचय के कर्म होते हैं, क्योंकि हम वास्तव में परिचित केवल (अ) व्यक्तियों और वस्तुओं की इंद्रियानुभव में प्राप्त विशेष प्रतीतियों से, तथा (ब) उनके मध्य जो संबंध होते या हो सकते हैं उनसे ही होते हैं।[1] जो भी हो, इनमें से किसी की भी चर्चा में उलझने की हमें यहाँ जरूरत नहीं है। हमारे प्रयोजन के लिए इतना भर कह देना पर्याप्त होगा कि जानने का एक प्रकार परिचय है जिसके कर्म व्यक्ति और वस्तुएं होते हैं। इस बात का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है कि परिचय का सम्बन्ध और उसका कर्म शायद जितने सीधे दिखाई देते हैं उससे कहीं कम सीधे हों।

(ii) मैं कह सकता हूँ कि 'मैं जानता हूँ कि विलियम्स बाहर गया हुआ है' अथवा 'मैं जानता हूँ कि लार्ड्स में 'मैच समाप्त हो गया है'। इसका मतलब

1. प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी, अध्याय V; मिस्टिसिज्म ऐंड लॉजिक, अध्याय X

ह नही है कि मैं विलियम्स या लार्ड्‌स से परिचित हूँ, बल्कि यह कि इनके बारे न मैं कुछ जानता हूँ। इस अर्थ मे जानने की विशेषता यह है कि जाननेवाला एक तथ्य को जानता है। यहाँ कर्म एक व्यक्ति या वस्तु नही है, बल्कि उसके बारे मे एक तथ्य है। और जिस व्यक्ति या वस्तु के बारे मे किसी तथ्य को जानने का मैं दावा करता हूँ, उससे बहुधा मैं परिचित हो सकता हूँ। फिर भी यह आवश्यक नही है कि मैं उससे परिचित होऊँ। हम साधारणत: यह नही कहेंगे कि एटली को जानना यह जानने के लिए आवश्यक है कि वह लेबर पार्टी की तरफ से पार्लियामेन्ट मे लाइम-हाउस का प्रतिनिधि था, कि वह १९४५ मे पहले-पहल प्रधान-मंत्री बना, कि वह विन्स्टन चर्चिल के बाद नं० १० डाउनिंग स्ट्रीट मे रहा, इत्यादि। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई अर्थ (I) मे न जानते हुए भी अर्थ (II) मे जान सकता है। परतु इसका उल्टा सही नही है। मैं एटली के बारे मे कोई भी तथ्य न जानते हुए एटली को नही जान सकता। हो सकता है कि मैं बहुत ही थोडे तथ्य जानता होऊँ: उदाहरणार्थ, शायद मैं एटली के राजनीतिक जीवन से बिल्कुल ही अनभिज्ञ होऊँ; शायद मैं उसका नाम तक न जानता होऊँ, परन्तु कम-से कम इतना तो मुझे जानना ही चाहिए कि उसकी शक्ल-सूरत कैसी थी। यह कहना सार्थक न होगा कि मैं एटली को जानता हूँ पर उसके बारे मे कुछ भी नहीं जानता।

लेकिन जानने के ये दो तरीके परस्पर सबधित होते हुए भी मूलत: भिन्न है। यह दुर्भाग्य की बात है कि अग्रेजी मे इन दोनो के लिए सामान्यत: एक ही शब्द ('नो') का प्रयोग होता है, क्योकि इससे इनका अतर छिप जाता है। अन्य भाषाएँ अधिक सपन्न है, उदाहरणार्थ फ्रेंच ('कोनैत्र' और 'सव्वार'), जर्मन ('केनेन' और 'विस्सेन') और इटालियन ('कोनोशेरे' और 'सापेरे')। इनमे से प्रत्येक जोड़े के दूसरे शब्द का कर्म एक तथ्य होता है जो विशेष काल और स्थान वाला (जैसे, 'मैं इस समय ट्राफलगर स्क्वायर के बीच मे हूँ') हो सकता है या सार्वभौम अर्थात् काल और देश मे कोई विशेष स्थिति न रखनेवाला (जैसे, 'यदि अ ब से बड़ा है और ब स से बड़ा है, तो अ स से बडा है') हो सकता है। परिचय के अर्थ मे जानने और तथ्य को जानने मे इतना अधिक अतर है कि कुछ दार्शनिको ने बाध्य होकर परिचय को ज्ञान का एक रूप मानने से ही इन्कार कर दिया है। परिचय ज्ञान का एक रूप नही है, ऐसा कहना शायद उस घपले का एक ठेठ उदाहरण है जिसमे कोई व्यक्ति अपनी अविचारपूर्ण शब्दनिष्ठा के कारण और यह मानने से पड सकता है कि एक शब्द को एक और केवल एक वस्तु का अथवा केवल एक ही प्रकार की वस्तुओं का नाम होना चाहिए।

परिचय को ज्ञान का एक रूप न मानना उस दशा में हानिरहित भी है और सही भी जब इसका मतलब यह हो कि परिचय तथ्य को जानने से भिन्न होता है। परतु यदि ऐसा माननेवाला आगे यह कहे, जैसा कि प्रायः वह कहता भी है, कि इस-लिए 'जानना' शब्द का परिचय की बातो के लिए प्रयोग गलत है, तो उसका कथन बिल्कुल ही अनुचित होगा। 'जानना' शब्द का उन बातो के लिए प्रयोग सही है, बशर्ते ऐसा प्रयोग करते समय इसका अभिप्रेत अर्थ ध्यान मे रहे। मतलब यह निकला कि 'जानना' शब्द के कम से कम दो अर्थ है और कि जो दार्शनिक इनमे से एक अर्थ (परिचय) को गलत बताता है उसके दिमाग मे एकदम गड-बड़ी है।

9. विश्वास के विषय

अब यदि हम जानने की बात को छोड़कर विश्वास की बात को लें और यह पूछें कि विश्वास के कर्म क्या है, तो हम पाएँगे कि यहाँ भी कुछ अतर है जो महत्व-पूर्ण होते हुए भी अप्रत्याशित नही है। पहली चीज यह है कि परिचय के अनुरूप कोई विश्वास नही होता। विश्वास सदैव किसी बात का होता है। निस्सदेह हम कहते हैं कि हम अमुक व्यक्ति का विश्वास करते हैं, परन्तु यहाँ हमारा मतलब यह होता है कि जो कुछ वह कहता है उसकी सत्यता मे हम विश्वास करते हैं। फिर, किसी व्यक्ति या चीज (जैसे, कोई कार्य-नीति या कोई धार्मिक मत) मे विश्वास करने की बात कहना भी काफी आम है, जैसे एक आदमी का यह कहना कि 'मैं पाँच दिन के सप्ताह मे विश्वास नहीं करता।' यहाँ कहनेवाले का अभिप्राय केवल यह होता है कि वह किसी बात से सबधित विश्वास को स्वीकार या अस्वीकार करता है। उपर्युक्त उदाहरण मे आदमी यह विश्वास नही करता कि पाँच दिन के सप्ताह से देश का सबसे अधिक हित होगा। हो सकता है कि उसके पास अपने विश्-वास का समर्थन करने के लिए हेतु हो, अथवा शायद वह यह मानेगा कि उसका विश्वास हेतुओ से परे है, और इस दशा मे वह उसे 'विश्वास' न कहकर 'आस्था' कहना अधिक पसद करेगा। परतु सभी मामलों में वह यह विश्वास करता है कि बात ऐसी है; और इसलिए यदि विश्वास किसी तरह से ज्ञान से संवाद रखता है तो यह संवाद ज्ञान के दूसरे यानी उस रूप से होना चाहिए जिसमे कोई तथ्य ज्ञान का कर्म होता है।

तो क्या हम कह सकते हैं कि विश्वास का कर्म कोई तथ्य होता है? स्पष्ट है कि हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि बहुधा आदमी जो कुछ विश्वास करता है

वह तथ्य नही होता। यह कोई तथ्य नही है कि पृथ्वी की सतह चपटी है, या दूसरा महायुद्ध १९४४ मे समाप्त हुआ, अथवा पानी जमने पर सिकुड़ जाता है। इसके बावजूद कि इनमे से कोई भी तथ्य नही है, हमे यह कल्पना करने मे कोई कठिनाई नही है कि कोई व्यक्ति ऐसा विश्वास करता है। विश्व के इतिहास मे एक तिथि ऐसी है जिससे पहले प्राय: सभी पहली बात मे विश्वास करते थे; और इसमे कोई सदेह नही है कि समय-समय पर कोई न कोई व्यक्ति गलती से दूसरी या तीसरी बात पर विश्वास करता पाया जाएगा। वास्तव मे, विश्वास को ज्ञान से पृथक् करनेवाली मुख्य बात यह है कि विश्वास गलत हो सकता है जबकि ज्ञान [1] गलत नही हो सकता; और कोई भी ज्ञान-सिद्धात जो गलत और सही दोनो ही प्रकार के विश्वासो की व्याख्या नही करता, पूर्ण होने का दावा नही कर सकता। सही विश्वास का कर्म चाहे जो भी हो, गलत विश्वास का कर्म तथ्य नही हो सकता और इसलिए कोई और ही चीज उसका कर्म होनी चाहिए। यह पूछने से पहले कि यह और चीज क्या है, हमे सक्षेप मे यह विचार कर लेना चाहिए कि सही विश्वास क्या है और उसका कर्म क्या है। अनेक कारणो से यह माना गया है कि इसके कर्म भी तथ्य नहीं हो सकते। इन कारणो मे से चार यहाँ बताए जाएँगे।

पहला कारण यह बताया गया है कि यदि सही विश्वास के कर्म के रूप मे कोई तथ्य मन के सामने माना जाए तो सही विश्वास का ज्ञान से अतर मिट जाएगा, जब कि इन दोनो मे अतर करना हमे स्पष्टत: आवश्यक लगता है, और इसलिए तथ्य उसका कर्म नही हो सकता। हो सकता है कि एक आदमी को उस बात का पहले से ज्ञान रहे जिसपर दूसरा विश्वास करता हो, जैसे, एक को वर्षा होने का ज्ञान हो क्योंकि वह अभी-अभी बाहर से आया है और दूसरे को इस बात पर सही विश्वास हो क्योकि पहला भीगी बरसाती पहने अदर आया है। अथवा, हो सकता है कि एक ही व्यक्ति को पहले किसी बात का सही विश्वास हो और बाद मे उसी बात का उसे ज्ञान भी हो जाए। अब, सही विश्वास का ज्ञान से भेद करने की आवश्यकता का विरोध न करते हुए भी मुझे यह युक्ति दिए हुए रूप मे निर्दोष बिल्कुल नही लगती। पहली बात यह है कि ज्ञान और सही विश्वास अपने विषयो के एक होने के बावजूद भिन्न हो सकते हैं, क्योकि ज्ञान का सबध विश्वास के सबध से भिन्न होगा।

---

1 अग्रेजी के 'नॉलेज' शब्द का सही अनुवाद 'प्रमिति' है, परंतु इस अर्थ मे 'ज्ञान' शब्द के प्रचुर प्रयोग को देखते हुए यहां इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। पाठक इस बात को कृपया ध्यान में रखे।—अनुवादक

और दूसरी बात यह है कि किसी तथ्य का मुझे बोध होना और साथ ही उसे तथ्य के रूप में न पहचानना मेरे लिए संभव है, जैसे किसी अमरीकी से मुलाकात होना पर यह न पहचानना कि वह अमरीकी है। फिर भी, इस युक्ति में कुछ बल अवश्य है : सही विश्वास का विषय वस्तुतः कोई तथ्य चाहे हो या नहीं, यह निश्चित है कि वह तथ्य के रूप में उस समय नहीं पहचाना जाता, क्योंकि यदि पहचाना जाता तो विश्वास करनेवाला जान लेता कि उसका विश्वास सही है; परन्तु कोई भी विश्वास (स्वयं विश्वास करनेवाले के द्वारा विश्वास करते समय) सही नहीं जाना जा सकता, क्योंकि ऐसा होने पर वह सही विश्वास न होकर ज्ञान कहलाएगा। अतः सही विश्वास के विषय को किसी एक संदर्भ में तथ्य चाहे कहें या नहीं, विश्वास के कर्म के रूप में उसे तथ्य कहना ठीक नहीं है।

दूसरी और तीसरी युक्तियाँ भविष्यत् और भूत काल के बारे में पैदा होनेवाली कठिनाइयों को सामने लाती हैं। मेरे मन में भविष्य से संबंधित सत्य विश्वास हो सकते हैं, जैसे मेरा यह वर्तमान विश्वास कि कल किसी समय वर्षा होगी, सत्य होगा यदि कल किसी समय अवश्य वर्षा हो। परन्तु कहा जाता है कि कल वर्षा होने के तथ्य का इस समय मेरे मन में होना कैसे संभव है? यह संभव है ही नहीं, क्योंकि यह बात तब तक तथ्य नहीं है जब तक वर्षा नहीं होती और वर्षा कल से पहले होगी नहीं। इसी प्रकार भूतकाल के बारे में भी मेरे मन में कुछ सत्य विश्वास हो सकते हैं, जैसे यह कि महारानी विक्टोरिया १८८६ में इंगलैंड के सिंहासन पर थी। परन्तु इस तथ्य का मेरे विश्वास के कर्म के रूप में मेरे मन में होना संभव नहीं है, क्योंकि यह तथ्य तो गुजर चुका है और साठ से अधिक वर्ष के अतीत से संबंध रखता है। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि १८८६ में मेरा जन्म ही नहीं हुआ था। एक तथ्य जो मेरे जन्म से भी वर्षों पहले का है मेरे वर्तमान विश्वास का विषय कैसे बन सकता है? मैं समझता हूँ कि ये दोनों युक्तियाँ गलत हैं, क्योंकि ये तथ्यों का घटनाओं से भेद नहीं करतीं। घटनाएँ काल में घटती हैं और उनके घटने की तिथियाँ होती हैं; परन्तु तथ्यों में यह बात लागू नहीं होती। मैं तथ्य की परिभाषा देने से जान-बूझकर बचता आया हूँ, इसलिए कि बहुत-सारे जटिल प्रश्न एक साथ खड़े न हो जाएँ। पर मैं 'तथ्य' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में करने की कोशिश करता चला आया हूँ जो पाठक को तुरत ही स्वीकार्य हो और वह यह समझे कि एक दार्शनिक के रूप में चाहे जो मत उसे अंततः स्वीकार करना पड़े, एक साधारण मनुष्य के रूप में यही वह अर्थ है जिसमें वह इस शब्द का प्रयोग करता है। यदि घटनाओं की काल में स्थिति होती है, पर तथ्यों की नहीं, तो यह कहना तो सार्थक

है कि एक घटना अभी नहीं घटी या साठ से अधिक वर्ष पहले घट चुकी है, पर किसी तथ्य के बारे में यह कहना सार्थक नहीं है।

तथ्य सत्य विश्वासों के विषय नहीं होते, इस मत के समर्थन में चौथी युक्ति यह दी गई है कि सत्य विश्वास का विषय उसी प्रकार का होना चाहिए जिस प्रकार का मिथ्या विश्वास का होता है--दोनों में अंतर उस सम्बन्ध का अंतर होता है जो उन विषयों तथा एक मामले में विश्वास को सत्य बनानेवाली बात और दूसरे मामले में उसे मिथ्या बनानेवाली बात के मध्य होता है। यह कहा जाता है कि सत्यता विश्वास के विषय और तथ्य के मध्य संवाद का होना है और मिथ्यात्व विश्वास और तथ्य के मध्य संवाद का न होना है। स्पष्ट रूप से यह एक आकर्षक सिद्धांत है। इसकी खूबी यह है कि इसमें सफाई है, यह साफ तौर से बताता है कि सत्य और मिथ्या विश्वास में समान बात क्या है (उनके विषय) और एक को दूसरे से पृथक् करनेवाली बात क्या है (विषय का तथ्य से जो सम्बन्ध है उसमें रहनेवाला अंतर), तथा यह भी खूबी है कि सामान्य जीवन में आम तौर पर इस सम्बन्ध में हम जो कुछ कहते हैं उनसे इसका सामंजस्य है। हम निश्चय ही यह कहते हैं कि अमुक व्यक्ति के विश्वास तथ्यों के अनुरूप है या उनके बिल्कुल विपरीत है, कि जो कुछ उसने कहा है उससे तथ्यों का मेल है या तथ्य उसके विरुद्ध हैं, कि उसके मत की हम तथ्यों से तुलना करते हैं, कि हम उसके सामने तथ्य रखते हैं, इत्यादि। ये सब यह कहने के तरीके हो सकते हैं कि एक सत्य विश्वास और तथ्यों के मध्य संवाद-संबंध होता है तथा एक मिथ्या विश्वास और तथ्यों के मध्य विसंवाद का सम्बन्ध होता है। परन्तु, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, आकर्षक होने के बावजूद इस मत में कुछ ऐसे दोष है जिनसे इसे स्वीकार करना, कम-से-कम एक सीधे-सादे रूप में स्वीकार करना, कठिन हो जाता है। फिर भी, यदि इसके बजाय सत्यता की कोई अन्य ऐसी व्याख्या अपनाई जा सके जो इसकी खूबियों को बनाए रखे—विश्वास के रूप में सत्य विश्वास को मिथ्या विश्वास के साथ बराबरी पर रखे—तो बहुत ही अच्छी बात होगी।

अब हम देख चुके हैं कि स्पष्टतः मिथ्या विश्वासों के कर्म तथ्य नहीं हो सकते। हम यह भी देख चुके हैं कि यद्यपि तथ्यों को सत्य विश्वासों के भी कर्म न माननेवाले मत के समर्थन में दी जानेवाली अधिकतर युक्तियाँ परीक्षा पर खरी नहीं उतरती, तथापि दोनों को बराबरी पर रखने में लाभ है, और फिर यह भी कि पहली युक्ति से सत्य विश्वास के विषय को एक तथ्य मात्र मानना अत्यधिक कठिन दिखाई देता है। यदि हमें इस निष्कर्ष से बचना है कि सत्य विश्वास नाम की कोई

चीज है ही नहीं, तो कम से कम यह दिखाई देता है कि वह तथ्य के अलावा कुछ और भी है।

'जानने और विश्वास करने में हमें किस चीज की चेतना रहती है ?', इस प्रश्न पर विचार करने के बाद जिस स्थिति में हम स्वयं को पाते हैं उसके तथा उस स्थिति के मध्य सादृश्य जिसमें हम इससे भी पहले के इस प्रश्न पर विचार करने के बाद पहुँचे थे कि 'हमें इंद्रिय-प्रत्यक्ष में किस चीज की चेतना होती है ?', अब अधिकाधिक साफ होता जा रहा होगा। वहाँ हमने देखा था कि इंद्रियानुभव में आदमी को जिन प्रतीतियों या इंद्रिय-दत्तों की वस्तुतः उपलब्धि होती है उनके तथा जिन भौतिक वस्तुओं से उनका सम्बन्ध होता है उनके बीच अंतर करना आवश्यक है। अब हम यह देखते हैं कि विश्वास के मामले में भी जो कुछ आदमी विश्वास करता है उसके तथा जो चीज उस विश्वास को मिथ्या करती है उसके बीच, और सम्भवतः जो कुछ वह विश्वास करता है उसके तथा जो चीज उस विश्वास को सत्य बनाती है उसके बीच भी, निश्चयात्मक रूप से भेद करना आवश्यक है। आदमी के विश्वास के विषय को कोई नाम देने की जरूरत महसूस होने पर दार्शनिक प्रायः 'प्रतिज्ञप्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं : जो मैं विश्वास करता हूँ वह एक प्रतिज्ञप्ति है, और यदि प्रतिज्ञप्ति तथ्यों से संवाद रखती है तो विश्वास सत्य है, अन्यथा वह मिथ्या है। फिर, प्रतिज्ञप्ति का वाक्य से यह कहकर भेद किया जाता है कि वाक्य जिस भाषा का वह है उसके व्याकरण और वाक्यविन्यास के नियमों के अनुसार संयुक्त शब्दों का एक रूप होता है, जबकि प्रतिज्ञप्ति शब्दों का एक रूप बिल्कुल भी नहीं होती बल्कि वह है जो वाक्य का अर्थ होता है।

उदाहरणार्थ, 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' एक वाक्य है और 'मैं सचेतन हूँ, अतः मेरा अस्तित्व है' उससे भिन्न दूसरा वाक्य, क्योंकि इसके शब्द लिखने और बोलने दोनों तरह से भिन्न हैं, परन्तु इनमें से प्रत्येक वाक्य के द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति एक ही है, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है। फिर, 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ,' 'आई थिंक, दियरफोर आई ऐम', 'कोजिटो एर्गो सम', तीन भिन्न भाषाओं के तीन भिन्न वाक्य हैं, परन्तु तीनों एक ही प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करते हैं। 'कोजिटो एर्गो सम' कहने से डेकार्ट का जो अभिप्राय था वही इसके अंग्रेजी अनुवाद 'आई थिंक, दियरफोर आई ऐम' का है और वही इसके हिंदी अनुवाद 'मैं सोचता हूँ, अतः मैं हूँ' का है। अतः हमें वाक्य, प्रतिज्ञप्ति और तथ्यों में त्रिधा भेद करना पड़ता है। इस पुस्तक में केवल प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों के अंतर से ही हमारा वास्ता पड़ेगा।

द्वैतवाद की कठिनाइयां

पहले इंद्रियानुभव पर और बाद मे निर्णय पर संक्षिप्त विचार-विमर्श करने से आपातत अवश्य ही यह सुझाव मिलता है कि हमारे मूल ज्ञानमीमासीय प्रश्न, 'सज्ञान मे मन को बोध किस चीज का होता है', का उत्तर द्वैतवाद के किसी रूप से दिया जाना चाहिए। अर्थात् इसका उत्तर यह होगा कि प्रत्यक्ष और विश्वास चेतना की ऐसी सीधी-सादी क्रियाए या अवस्थाए नही है जो भौतिक वस्तुओ और तथ्यो का साक्षात् ग्रहण करती हो, बल्कि, यदि वे उन्हे ग्रहण करती ही हो तो, इंद्रिय-दत्तो और प्रतिज्ञप्तियो के माध्यम से असाक्षात् रूप से ग्रहण करती है, और तब इंद्रिय-दत्त और प्रतिज्ञप्तियां उनकी वस्तुओ और तथ्यो का प्रतिनिधित्व करेंगे तथा प्रत्यक्ष और विश्वास के मिथ्या होने की दशा मे उनका गलत प्रतिनिधित्व करनेवाले होगे। फिर और अधिक विचार की क्या जरूरत है ? यह मालूम हो जाने के बाद कि प्रत्यक्ष और विश्वास जितना हम साधारणत मान लेते है उससे अधिक जटिल होते है, ऐसा लगता है कि हमे ज्ञानमीमासीय द्वैतवाद को स्वीकार कर लेना पडेगा। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष और विश्वास समान है, हालाकि उनमे इस बात मे असमानता है कि उनके व्यवहित और अव्यवहित दोनो ही विषय भिन्न होते है, तथा यह भी असमानता हो सकती है कि प्रत्येक मे प्रतिनिधि-विषय और प्रतिनिहित विषय का सबध शायद भिन्न हो। जो भी हो, प्रत्येक के मामले मे आवश्यक द्वैतवाद सरल और सुबोध है। तो क्या हम द्वैतवाद को स्वीकार कर लें और बात को यही छोड दें ? नही, ऐसा नही किया जा सकता। द्वैतवाद के विरुद्ध आपत्तियां कम से कम उतनी ही गभीर है जितनी वे कठिनाइयां जिनके कारण इसे स्वीकार कर लेने का प्रलोभन होता है। इन आपत्तियो को बताने का सबसे सरल उपाय यह है कि उन्हे लॉक के इंद्रिय-प्रत्यक्ष-सिद्धात के सदर्भ मे उठाया जाए। लॉक का सिद्धात अपनी अत्यधिक स्पष्टता के कारण इन आपत्तियो का सबसे आसानी से शिकार बन जाता है। जिसने भी लॉक का अध्ययन किया है, चाहे उसका अध्ययन नितात प्रारंभिक प्रकार का ही क्यों न हो, वह निश्चय ही उनसे परिचित होगा।

इस सिद्धात के अनुसार हमे कदापि बाह्य जगत् की वस्तुओ का साक्षात् प्रत्यक्ष नही होता, बल्कि केवल व्यवहित रूप से मध्यस्थ दत्तो के द्वारा होता है, जिन्हे लॉक प्रत्यय कहता है, हालाकि जैसा कि हम देख चुके है (देखिए ऊपर पृ० 23), इस प्रयोजन के लिए 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग शायद भ्रामक है, क्योकि अब हम इसका प्रयोग लॉक की अपेक्षा एक भिन्न और अधिक सकुचित अर्थ मे करने

लगे हैं। जो कुछ हम वस्तुतः और यथार्थतः देखते हैं अर्थात् अपने चारों ओर देखने पर जो कुछ हमारी दृष्टि ग्रहण करती है वह, जैसा कि हम सहज रूप से मान लेते हैं वैसा, एक वस्तुओं से भरा हुआ बाह्य जगत् नहीं है—ऐसी वस्तुओं से भरा हुआ जिनका अस्तित्व प्रत्यक्ष से बिल्कुल निरपेक्ष है, जिनका तब भी अस्तित्व पूर्ववत् बना रहता है जब कोई उनका प्रत्यक्ष नहीं कर रहा होता, और जो सामान्यतः इस प्रकार व्यवहार करती हैं जो प्रत्यक्षकर्ता के नियंत्रण के बिल्कुल बाहर होता है। निस्सन्देह, यह सत्य है कि ऐसा जगत् अस्तित्व रखता है, परन्तु एक प्रत्यक्षकर्ता के रूप में मैं कदापि उसके साक्षात् संपर्क में नहीं आता। जिनसे मेरा अवश्य ही साक्षात् संपर्क होता है वे उसके कार्य, 'प्रत्यय', हैं जो अपने चारों ओर देखने पर मेरे मन में उपजते हैं और मेरे इंद्रियानुभव के दत्त हैं। ये दत्त मेरे लिए वास्तविक बाह्य वस्तुओं के, जो उन्हें उत्पन्न करती हैं, प्रतिनिधि हैं, और ये ही मुझे दूसरी ओर के वास्तविक जगत् की तस्वीर-सी प्रदान करते हैं।

कुछ बातों में यह तस्वीर निश्चित रूप से अयथार्थ होती है, क्योंकि मेरे दत्तों में से कुछ बिल्कुल भी उन वस्तुओं या वस्तु-लक्षणों में समानता नहीं रखते जिनके वे प्रतिनिधि होते हैं। उदाहरणार्थ, रंग इस दृष्टि से अयथार्थ होता है, क्योंकि वास्तविक जगत् की वस्तुएं रंगीन बिल्कुल भी नहीं होतीं, बल्कि भी 'अपनी गतियों की विभिन्न मात्राओं तथा रूपान्तरों' के द्वारा रंग की प्रतीतियां उत्पन्न करती हैं। अर्थात् रंग की प्रतीतियों के पीछे वास्तविकता केवल बाह्य वस्तुओं के तत्त्वों या परमाणुओं का कंपन या क्षोभ है। जब हम देखते हैं तब यही कंपन हमें विशेष आभासों और तीव्रताओं वाले रंग दिखाते हैं। परन्तु यदि हम यह मान बैठें कि ये रंग उन गुणों के समान हैं जो उन्हें पैदा करते हैं और जिनके वे प्रतिनिधि हैं, तो हम उसी तरह की गलती करेंगे जिस तरह की यह मानने से करेंगे कि नक्शे में चर्च के लिए जो संकेत है वह भूमि के ऊपर बनी हुई चर्च की वास्तविक इमारत के, जिसका कि वह संकेत प्रतिनिधि है, समान है। रंगों की तरह ही "स्वादों और ध्वनियों का तथा अन्य संवेद्य गुणों का भी मामला है। इनको हम गलती से जितना भी वास्तविक मानें, सचाई यह है कि स्वयं वस्तुओं में इनका कोई अस्तित्व नहीं है। वस्तुओं के अंदर तो विभिन्न संवेदन हमारे अंदर पैदा करने की शक्तियां मात्र हैं।"[1] इनसे भिन्न वस्तुओं के वे गुण हैं जिनका प्रतिनिधित्व उनसे निश्चय ही सादृश्य रखनेवाले प्रत्यय करते हैं, और ये हैं 'आयतन, आकृति, बनावट और गति।'

---

1. एसे, II, 8, 14

लॉक का सिद्धात सक्षेप मे इस प्रकार है '

(अ) इद्रिय-प्रत्यक्ष मे अव्यवहित रूप से जो कुछ प्रतीत होता है वह कभी भी न तो सपूर्ण बाह्य वस्तु होता है और न उसका एक अंश ही, बल्कि कोई ऐसी चीज होता है जो वस्तु से उत्पन्न होती है और उसका प्रतिनिधित्व करती है ।

(ब) इन अव्यवहित प्रतिनिधानात्मक दत्तो मे से कुछ ही प्रतिनिहित गुणो के सदृश होते है, अन्य नही।

इद्रिय-प्रत्यक्ष के बारे मे ऐसा सिद्धात प्रस्तुत करना सभव है, क्योकि मुझे इसके अदर कही भी स्वव्याघात नही दिखाई देता । परन्तु इसमे निश्चय ही एक गभीर कठिनाई यह है कि यदि यह सच है तो इसकी सचाई ही के कारण लॉक (अथवा किसी भी अन्य व्यक्ति) के लिए यह जानना, यहाँ तक कि यह मानने के लिए थोडा-सा भी कारण बता सकना, सभव नही हो सकेगा कि यह सच है, और इसलिए लॉक ने इसके समर्थन मे जितनी भी युक्तियाँ दी है उन्हे वह दे नही सकता । फलतः उसके सामने यह उभयत-पाश खडा हो जाता है यदि इस सिद्धात के समर्थन मे दी जानेवाली युक्तियाँ उसे सुलभ है तो सिद्धात सत्य नही हो सकता, यदि सिद्धात सत्य है तो इसे स्वीकार करने के लिए हेतु सुलभ नही हो सकते । इनमे से कोई भी पाश ऐसा नही है जिसका बुद्धि आसानी से भेदन कर सके । ऊपर दी हुई (अ) और (ब) प्रतिज्ञप्तियो पर एक-एक करके विचार करके इन पाशो को सक्षेप मे समझाया जा सकता है ।

(अ) जो कुछ अव्यवहित रूप से दत्त होता है वह न तो वस्तु होता है और न उसका कोई भाग, बल्कि वस्तु के द्वारा उत्पन्न कोई चीज होता है जो उसका प्रतिनिधित्व करती है । अब प्रश्न यह है कि कोई किसी चीज को किसी अन्य चीज के प्रतिनिधि के रूप मे कैसे पहचानेगा ? या तो वह स्वय ही प्रतिनिधि और प्रतिनिहित को तुलना करके पता लगाएगा—जैसे तब जब कोई पहले मूल चित्र को कला-सग्रहालय मे देख चुका हो और फिर उसकी अनुकृति को किसी चित्र-विक्रेता की दुकान मे देखे; अथवा उसे प्रतिनिधि के साथ लगा हुआ कोई ऐसा दस्तावेज दिखाया जा सकता है जिससे इस बात की गारन्टी हो कि सचमुच प्रतिनिधि उसका प्रतिनिधि है जिसके प्रतिनिधित्व का वह दावा करता है—जैसे तब जब बिजली के मीटर पढने के लिए आनेवाला निरीक्षक कपनी का यह प्रमाण-पत्र पेश करता है कि वह उनका निरीक्षक है । लॉक के लिए इनमे से कौन-सा विकल्प सभव है ? दूसरा तो सभव नही है, क्योकि इद्रियानुभव के दत्त न केवल अपने साथ कोई ऐसा प्रमाण-

पत्र नहीं रखते जिससे इस बात का विश्वास हो कि जिसके प्रतिनिधि होने का वे दावा करते हैं उसके वास्तव में प्रतिनिधि हैं, बल्कि वे किसी का प्रतिनिधि होने का दावा ही बिल्कुल नहीं करते। मात्र संवेदन के दत्तों के रूप में वे स्वयं ऐसा कोई भी दावा नहीं करते कि वे अमुक का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि ऐसा कोई दावा किया भी जाता है तो वह उनकी ओर से किया जाता है—पर किया किसके द्वारा जाता है? स्वयं उनके अंदर कोई ऐसी विशेषता नहीं दिखाई देती जिससे पता हो कि उनके परे कोई चीज है जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, और प्रकटतः वे मात्र वही हैं जो दिखाई देते हैं, अर्थात् ज्ञानेंद्रियों के सामने प्रस्तुत रंग, आकृतियाँ और ध्वनियाँ मात्र हैं। यदि हम उन्हें उनके प्रकट स्वरूप से अधिक समझते हैं और किसी अन्य चीज़ का प्रतिनिधित्व करनेवाले मानते हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि हम स्वयं दत्तों के अंदर कोई विशेषता या चिह्न पाते हैं, बल्कि यह है कि हम कोई अर्थ उनको देते हैं।

इसी प्रकार, किसी प्रतिनिधि को पहचानने का पहला तरीका भी लॉक नहीं अपना सकता। हमारे लिए यह संभव नहीं है कि हम प्रत्ययों की वस्तुओं से तुलना करके उनके मध्य रहनेवाले प्रतिनिधि अथवा नकल और मूल के संबंध का निश्चय कर सकें। इसका सीधा-सा कारण यह है कि लॉक के विचाराधीन सिद्धांत के अनुसार हमें मूल की चेतना कभी होती ही नहीं और जो कुछ भी होती है वह केवल प्रतिनिधि के माध्यम से ही होती है। परंतु यदि तथ्य यही है तो हमें यह मानने के लिए आधार कभी मिल ही नहीं सकेगा कि दत्त के बाहर किसी चीज का अस्तित्व है भी, और यह सोचना तो और भी दूर की बात होगी कि वह चीज हमारे दत्त के साथ वह संबंध रखती है जो मूल का प्रतिनिधि से होता है। एक हाथ से बनाई गई तस्वीर के निरीक्षण मात्र से कोई भी यह नहीं बता सकता या यह बताने के लिए हेतु नहीं प्राप्त कर सकता कि वह एक नकल है या नकल नहीं है। स्वयं तस्वीर मात्र से जो जानकारी होती है वह इनमें से किसी भी बात का प्रमाण नहीं है। वह प्रमाण केवल तब होगी जब उसे और अधिक जानकारी से पुष्टि मिले, जैसे इसमें कि उसमें हस्ताक्षर एक ऐसे चित्रकार के हैं जिसका नकल करने में प्रवीण होना प्रकारांतर से ज्ञात है, और सबसे अधिक सरल और साफ प्रमाण यह होगा कि जिस मूल चित्र से प्रस्तुत चित्र नकल किया गया था उसे हम देख चुके हों।

फिर, एक फिल्म को देखने मात्र से कोई यह नहीं बता सकता कि वह 'क' के द्वारा लिखित किसी मौलिक कहानी पर आधारित है' या नहीं है। ऐसा बताने से

पहले आवश्यक है कि बतानेवाला मूल कहानी को पढ चुका हो, अथवा किसी ऐसे अन्य व्यक्ति से उसके एक मौलिक कहानी पर आधारित होने की बात सुन चुका हो जिसे सत्यवक्ता मानने का उसके पास हेतु हो, या फिल्म मे वह कुछ ऐसी विशेषताओं को देखता हो जो अन्य फिल्मो मे भी पाई जाती हो और उन अन्य फिल्मो को कहानियों के किसी मौलिक कहानी से लिए होने की बात स्वतत्र रूप से मालूम हो। परन्तु यदि प्रत्यक्ष के विषय मे लॉक का सिद्धात सही है, तो हमारी ठीक सिनेमा के अंदर बैठे उन लोगो की सी स्थिति है जो परदे पर दिखाई देनेवाली फिल्मो को निरंतर 'मूल कहानियो' से जोड रहे है, पर जिनके पास यह खयाल तक करने का कोई हेतु नही है कि मूल कहानियाँ नाम की कोई चीज होती भी है। जब तक हमारा अनुभव प्रतिनिधि तक ही सीमित है, तब तक हमारे पास यह मानने का कोई हेतु नही हो सकता कि वह प्रतिनिधि है। प्रतिनिधि का मूल से सबध केवल तभी सुस्थापनीय या सार्थक होगा जब हम प्रतिनिधि-वस्तुओ के दायरे से निकलकर प्रतिनिहित वस्तुओ के बाह्य दायरे मे कदम रख सकेंगे। परन्तु यदि लॉक का आधारभूत ज्ञान-सिद्धात सही है, तो इस कदम को हम कदापि नही रख सकते।

(ब) लॉक ने अपनी वस्तुओ मे सादृश्य रखनेवाले दत्तो और सादृश्य न रखनेवाले दत्तो को पहचानने का भी दावा किया था। इस दावे के बारे मे अधिक कहने की जरूरत नही है, क्योकि यदि ऊपर की आपत्तियाँ सही है तो यह दावा और भी अमान्य हो जाता है। अब हमारी स्थिति उन लोगो की सी हो जाती है जिनके सामने चित्र रखा है, जिन्हे कोई और सबधित जानकारी नही है और जिनसे न केवल यह पूछा जाता है कि क्या वह नकल है अपितु यह भी कि वह अच्छी नकल है या बुरी तथा यह कि ठीक किन बातो मे वह अच्छी है और किन बातो मे बुरी। इनका उत्तर किस प्रकार दिया जा सकेगा? यह बताने के लिए कि एक नकल अच्छी है या नही, नकल की मूल से तुलना आवश्यक है। जरूरत इस बात को है कि इस नकल को मैं मूल से मिलाकर और फिर अन्य नकलो को उनके मूलो से मिलाकर देखूँ। यदि हर तरह से मुझे नकल की मूल से तुलना करने मे रोका जाए, तो यह बताना तो दूर रहा कि नकल किस बात मे अच्छी या बुरी है, यह मानने तक का मुझे आधार कभी प्राप्त नही हो सकेगा कि नकल अच्छी है या बुरी।

संक्षेप मे, हम कह सकते हैं कि लॉक के ज्ञानमीमासीय द्वैतवाद मे यह तार्किक निष्कर्ष निकलता है : यदि उसका प्रत्यक्षविषयक सिद्धात सत्य है तो यह मानने के लिए हमे कोई हेतु प्राप्त नही हो सकता कि इद्रियानुभव के दत्त प्रतिनिधानात्मक हैं, कि कुछ दत्त अपनी वस्तुओं के सदृश होते हैं और कुछ नही, कि अमुक सदृश होते

है और अमुक नहीं, अथवा यह कि अमुक बातों में उनमें सादृश्य होता है और अमुक बातों में नहीं। संवेदन का आवरण इस प्रकार एक विकट लोह आवरण बन जाता है।

हमने लॉक के प्रत्यक्षविषयक सिद्धांत को लेकर प्रकृत द्वैतवाद की कठिनाइयों को समझाया है। लॉक के विश्वास-विषयक सिद्धांत में भी प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों के संबंधों के बारे में इसी प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आती हैं। लेकिन चूँकि यह पुस्तक लॉक के बारे में नहीं लिखी गई है, इसलिए इन कठिनाइयों की चर्चा में पड़ने की हमें यहाँ जरूरत नहीं है। जिस निष्कर्ष पर हम आ गए लगते हैं वह यह है कि द्वैतवाद कम से कम उस अपरिष्कृत रूप में काम नहीं देगा जिसमें लॉक ने उसका प्रतिपादन किया था। यदि द्वैतवाद का कोई रूप स्वीकार्य होना है तो उसे यहाँ तक जिस पर विचार किया गया है उससे कम सीधा होना होगा; और यदि सज्ञान के अव्यवहित दत्तों तथा भौतिक वस्तुओं या तथ्यों के मध्य कोई भेद करना है, तो इनके संबंध को उससे कम सरल होना होगा जो शीशे में दीखने वाले प्रतिबिंबों और उन मूल वस्तुओं के मध्य होता है जिन्हें शीशा यथार्थ या विकृत रूप में परावर्तित करता है। दूसरी ओर, हमारी शुरू की कठिनाइयों से सुझाव मिलता है कि प्रत्यक्ष की कोई ऐसी व्याख्या आवश्यक है जो द्वैतवाद से नितांत भिन्न भी न हो : यह मान लेना कि जो हम साक्षात् देखते हैं वे भौतिक वस्तुएँ हैं या जो हम विश्वास करते हैं वे तथ्य हैं, अत्यधिक भोलेपन की बात लगी थी। वर्तमान कष्टप्रद गतिरोध से निकलने का रास्ता पाने के लिए, जिसमें द्वैतवाद आवश्यक और अमान्य दोनों ही प्रतीत होता है, मैं स्मृति के विशेष उदाहरण पर विचार करने का प्रस्ताव करता हूँ। स्मृति की एक पूर्णतः संतोषप्रद व्याख्या देने के मार्ग में जो कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं वे द्वैतवादी और अ-द्वैतवादी दोनों ही ज्ञान-सिद्धांतों के ऊपरी आकर्षणों को साफ-साफ सामने ले आती हैं।

द्वितीय अध्याय

स्मृति

स्मृति के विभिन्न प्रकार

यह मानने के थोड़े-से खतरो को हम पहले ही देख चुके है कि एक शब्द का सभी अवसरो पर और प्रत्येक सदर्भ मे एक ही अर्थ होता है। वे खतरे फिर 'स्मृति' और 'स्मरण' के मामले मे सामने आते है। ये दोनो शब्द भिन्न प्रकार की परिस्थितियों को बताने के लिए इस्तेमाल किए जाते है। शायद कोई यह कहना चाहे कि इन शब्दों का सही प्रयोग केवल तब होता है जब इन्हे एक प्रकार की परिस्थितियों मे इस्तेमाल किया जाता है, कि वही एकमात्र सच्ची स्मृति है, और कि अन्य प्रयोग थोड़े-बहुत अश मे अपप्रयोग है। परतु सचमुच ऐसा कह बैठना, उदाहरणार्थ यह कि वह सच्ची स्मृति पर विचार करने जा रहा है, स्मृति के 'तथाकथित' प्रकारो पर नही, गलत होगा। मै केवल एक प्रकार की स्मृति पर विचार करने का प्रस्ताव करता हूँ, जो ऐसी है कि उसके और अन्य प्रकार की स्मृतियो के मध्य कुछ महत्वपूर्ण अतर होते हैं। परन्तु इस बात के कारण कि हमारे प्रयोजन के लिए केवल एक प्रकार की स्मृति का महत्व है, हमे यह कहने का अधिकार प्राप्त नही होता कि स्मृति के अन्य प्रकार असल मे स्मृति बिल्कुल हैं ही नही।

हम प्रायः कहते हैं कि हमे साइकिल कैसे चलाई जाती है, बन्दूक कैसे पकड़ी जाती है, या तैरा कैसे जाता है, इत्यादि का स्मरण है। इस स्मरण मे सोचने की कोई क्रिया शामिल नही रहती (और उसकी जरूरत भी नही होती)। इसका मतलब यह होता है कि प्रश्नाधीन काम को करने की योग्यता हममे अब भी है। यह दिखाने के लिए कि साइकिल कैसे चलाई जाती है, इसका मुझे अब भी स्मरण है, मेरा साइकिल पर बैठकर उसे चला लेना मात्र काफी है। 'कैसे' के एक अन्य प्रकार के

स्मरण मे निश्चय ही सोचने की क्रिया शामिल रहती है, जैसे किसी प्रश्न का हल निकालने मे। पिथेगोरस के प्रमेय को कैसे सिद्ध करना है, इसके स्मरण मे सोचकर निगमन के उन चरणो को बताना होता है जो वाछित निष्कर्ष पर पहुँचाते हैं। फिर, हम किसी कविता अथवा इगलैंड के राजाओ की तिथियो के स्मरण की भी बात कहते है, जिसका मतलब यह है कि पूछे जाने पर हम उस कविता की आवृत्ति कर सकते है या आवश्यक होने पर हम उन तिथियो को बता सकते है। ऊपर के सभी उदाहरण 'स्मृति' या 'स्मरण' के सही प्रयोग के मामले हैं। परतु एक प्रयोग इससे बिल्कुल भिन्न है जो ऊपर के किसी भी उदाहरण पर प्राय. लागू नही होता। 'स्मरण' का यही अर्थ यहाँ महत्व का है और यही वह अर्थ है जिसमे कहा जाता है कि पिछले मगल को न्यूहैवेन मे जोन्स से मुलाकात होने का, या पिछले हफ्ते एक दिन चाय के साथ स्ट्राबेरी खाने का, अथवा तेरह या चौदह वर्ष की आयु मे कनफेड की बीमारी की हालत मे पहली बार चारपाई पर मैकबेथ पढ़ने का मुझे स्मरण है। यदि मैकबेथ का 'टुमॉरो एंड टुमॉरो एंड टुमॉरो......' स्वगतभाषण मुझे मौखिक आवृत्ति कर सकने के अर्थ में स्मरण है, तो यह आवश्यक नही है कि उसे कठस्थ करने, या उसे दूसरे से सुनने, या स्वयं उसका पाठ करने की बात का भी मुझे स्मरण हो। पहले अर्थ मे स्मरण के लिए दूसरे अर्थ मे स्मरण आवश्यक नही होता; हालाकि कभी-कभी वह सहायक होता है (और कभी-कभी नहीं)। यदि एक आदमी साइकिल चलाना अब भी जानता है, पर उसे अब स्मरण नही है कि कहाँ, कब या किस साइकिल से उसने पहले-पहल साइकिल चलाना सीखा था, तो हम नही कहेगे कि उस आदमी को साइकिल कैसे चलाते है, यह स्मरण नही है। और यदि उसे इस बात मे सदेह है कि उसे साइकिल चलाना स्मरण है या नही, तो साइकिल चलाना सीखने की शुरू की असफलताओ और सफलताओं की स्मृतियो से वह अपने काम मे कोई आसानी नही पाएगा। इसके विपरीत, यदि वह मैकबेथ के स्वगतभाषण के स्मरण की चेष्टा कर रहा है और एक शब्द पर रुक जाता है—जैसे, *'क्रीप्स इन दिस* कोई शब्द *पेस फ्रौम डे टु डे'* यहाँ —तो इस नाटक को खेलते समय पात्र ने जो हाव-भाव किए थे उनको या उसकी आवाज को, या उसकी मुख-मुद्रा को याद करने से विस्मृत शब्द का स्मरण करना उसके लिए आसान होगा।

लेकिन महत्त्व की बात यह है कि स्वगतभाषण के स्मरण के लिए स्वगतभाषण के एक विशेष समय पर किए गए पाठ का स्मरण अनावश्यक है। यहाँ हमारा सबध दूसरे अर्थात् उस अर्थ से है जिसमे स्मरण मन की एक सज्ञानात्मक क्रिया होता है, जो इस समय होती है और जिसका विषय भूतकाल की कोई घटना या घटनाओं की

शृंखला होता है। मेरा यह सोचना जरूरी नहीं है कि प्रश्नाधीन घटना ठीक अमुक तिथि को घटी थी, पिछले मंगल के बजाय पिछले बुध को घटी थी, अथवा शाम के बजाय सुबह को घटी थी, परन्तु यह सोचना जरूरी है कि उसके घटने का काल वर्तमान से थोड़े-बहुत अंश मे हटा हुआ है और निश्चित रूप से पीछे अतीत में हटा हुआ है, न कि आगे भविष्य मे। 'स्मृति' के इस अर्थ का हम अन्य अर्थों से भेद कर सकते हैं और अन्य अर्थों की हम अपने वर्तमान प्रयोजन के लिए उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु यह हम नही कह सकेंगे कि 'स्मृति' का यही एकमात्र सही या उचित अर्थ है।[1] सुविधा के लिए तथा बार-बार स्पष्टीकरण देने से बचने के लिए यह बता देना ठीक होगा कि आगे मैं 'स्मृति' का प्रयोग केवल इसी एक अर्थ मे करूंगा, और इसमें मेरा आशय उस तरह की स्मृति का समझा जाना चाहिए जिसकी क्रियाएं अतीत में घटी हुई घटनाओं की ओर उन्मुख संज्ञानात्मक क्रियाएं होती हैं। हमारी चर्चा के विषय स्मरण की क्रियाएं होंगी, न कि स्मृति जो उन क्रियाओं को करने की वृत्ति या क्षमता होती है।[2]

2. स्मरण एक क्रिया के रूप मे

तो स्मरण में होता क्या है? प्रश्न को अधिक विशिष्ट बनाकर हम पूछ सकते हैं कि स्मरण की क्रिया का साक्षात् विषय क्या होता है तथा यदि साक्षात् विषय वही वस्तु या घटना नहीं है जिसका स्मरण होता है तो दोनों में संबंध क्या है? जैसा कि हम देखेंगे, स्मृति के बारे में अनेक सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं और सभी ने

---

1. जिस संदर्भ में 'स्मृति' और 'स्मरण' शब्दों का प्रयोग किया जाता है वह स्वतः उनके अर्थ को अस्पष्ट छोड़ सकता है, जैसे किसी के यह कहने में कि उसे अमुक व्यक्ति का स्मरण है। किसी व्यक्ति के चेहरे का स्मरण करने का मतलब सामान्य रूप से उसे देखने के किसी एक या अधिक अनुभवों का प्रत्याह्वान करना होता है, और इस प्रकार, 'क्या तुम्हें उसका स्मरण है?' पूछे जाने का सामान्यतः यही अर्थ होता है। परंतु 'क्या तुम्हें उसका स्मरण है?' यह पूछनेवाला प्रश्न भी हो सकता है कि वह कैसा है, और इस रूप में इसका अर्थ वही होगा जो इस प्रश्न का कि 'क्या तुम पंक्ति में खड़े लोगों में से उसे पहचान सकते हो?' संभवतः उसे अन्य लोगों में से अलग पहचानने के लिए ऊपर बताए गए संज्ञानात्मक अर्थ में स्मृति की क्रिया आवश्यक होती है, पर उसे पहचानने में समर्थ होना और उसे संज्ञानात्मक स्मृति-क्रिया का विषय बनाना एक ही चीज नहीं है।

2. 'स्मृति की क्रियाएं' कहने से मेरा अभिप्राय यहां मात्र यह है कि स्मरण की घटनाएं होती हैं। मैं इस मत से स्वयं को नहीं बांधता कि स्मरण करते समय मैं एक कर्ता होता हूं।

यह कोशिश की है कि यदि उन्हें सामान्य-बुद्धि-सुलभ मत से दूर हटना पड़े तो यह दूरी यथासंभव कम हो। तब, सामान्य-बुद्धि-सुलभ मत अर्थात् वह मत जिसे अपनाने की साधारण मनुष्य के रूप में हमारी प्रवृत्ति होती है, क्या है? उन अनेक प्रश्नों के उत्तर की तरह जो हम दार्शनिकों के रूप में स्वयं में स्वयं को साधारण मनुष्य समझते हुए पूछते हैं, इस प्रश्न का भी पहला उत्तर यह है कि यह एक ऐसा प्रश्न नहीं है जिसके बारे में साधारण मनुष्य परेशान हो। फलतः उसे स्मृति के स्वरूप के बारे में एक निश्चित मत रखनेवाला मानना उसके दृष्टिकोण को वास्तविक से अधिक स्पष्ट रूप रखनेवाला बताने के बराबर है। जो भी हो, वह निश्चय ही नीचे दिए हुए दो प्रकारों में से एक या अन्य प्रकार का उत्तर देने की प्रवृत्ति रखेगा, भले ही वह अस्पष्ट हो।

एक ओर, वह एक प्रकृत वस्तुवादी हो सकता है, अर्थात् उसका यह मत हो सकता है कि स्मरण करते समय उसके मन के सामने अव्यवहित रूप से वही वास्तविक घटना[1] रहती है जिसका उसे स्मरण होता है, अथवा कम से कम उस घटना का एक अंश रहता है। उदाहरणार्थ, यदि उसने अगस्त १९४४ में फ्लोरेन्स की गलियों में एक जर्मन सिपाही को गोली मारी थी और अब वह अपने इस कृत्य का स्मरण करता है, तो उसके मतानुसार इस समय उसके मन के सामने अव्यवहित रूप से ठीक वही घटना या उसका एक अंश है जो तब घटी थी। यदि साधारण भाषा को इस मतों को प्रकट करनेवाली माना जाए, तो 'किसी अनुभव का प्रत्याह्वान', 'अपने मन को पीछे अतीत में ले जाना' इत्यादि प्रयोग स्मृति के बारे में प्रकृत वस्तुवादी मत के द्योतक हैं।

दूसरी ओर, साधारण आदमी इससे कुछ अधिक चतुर हो सकता है। उसे यह शंका हो सकती है कि पिछले मत में काल और भ्रमों को लेकर टेढ़ी कठिनाइयाँ पैदा हो जाएँगी : जो घटना वर्षों पहले घटी और समाप्त हो चुकी है वह अब मेरे मन के सामने वर्तमान कैसे हो सकती है? यदि अतीत की घटना अब स्वयं वर्तमान है, तो अपस्मरण की गलतियाँ, जो मुझसे निश्चय ही हो जाती हैं, कैसे कर सकता हूँ? इन दो हेतुओं से (मैं इन दोनों को कुहेतु सिद्ध करने की आशा करता हूँ) साधारण आदमी अधिकतर एक दूसरे मत का समर्थन करता है, जिसे

1 सर्वत्र मैं केवल घटनाओं की स्मृति की चर्चा करूँगा। मैं स्वयं को उन्हीं तक सीमित केवल शब्दलाघव की खातिर रख रहा हूँ, और इसलिए मुझे ऐसा माननेवाला न समझा जाए कि व्यक्ति, स्थान इत्यादि अन्य चीजों के स्मरण की बात करना अनुचित है।

अनुसार स्मरण की क्रिया मे मन के सामने अव्यवहित रूप से एक प्रतिमा या प्रतिमा-वली रहती है, जो येन-केन रूप से स्मरण की हुई अतीत घटना की प्रतिनिधि होती है। वास्तव मे, हमारा झुकाव स्मृति के द्वैतवादी सिद्धांत की ओर रहता है, और इस द्वैतवाद के भी इंद्रियानुभव-विषयक उस द्वैतवाद के जैसे होने की आशंका है जिसे लॉक के द्वारा प्रस्तुत रूप मे हम पहले ही अमान्य बता चुके है। यदि प्रत्यक्ष के बारे मे हमारा झुकाव प्रकृत वस्तुवाद की ओर रहता है, तो स्मृति के बारे मे हमारा झुकाव विरोधी वाद की ओर क्यो रहता है, और हम द्वैतवाद को क्यों अपनाते है ? हम यह क्यो मान लेते है कि स्मरण की क्रिया स्मृत वस्तु या अनुभव की प्रतिमाओ के द्वारा होती है ? इन प्रश्नों के स्पष्ट उत्तर देने के लिए पहली जरूरी बात यह है कि प्रश्नाधीन मत को स्पष्ट कर लिया जाए और ऐसा करने मे यह खतरा सदैव ध्यान मे रखा जाए कि कही मत को स्पष्ट करने की प्रक्रिया स्वयं ही मत को गलत रूप मे न रख दे। मैं समझता हूँ कि इस मत को सक्षेप मे इस प्रकार रखा जा सकता है

(अ) स्मरण की क्रिया मे जो चीज अव्यवहित रूप से मन के सामने होती है वह स्मृत घटना नही है;

(ब) स्मरण की क्रिया मे जो चीज अव्यवहित रूप से मन के सामने होती है वह एक प्रतिमा है;

(स) प्रतिमा उस घटना का जिसकी वह प्रतिमा है, किसी रूप मे प्रतिनिधि या प्रतीक होती है।

(अ) मे विश्वास करने के लिए साधारण मनुष्य को प्रेरित करनेवाला मुख्य हेतु वही काल-सम्बन्धी हेतु है जो पहले बताया जा चुका है, अर्थात् यह कि स्मृत घटना अतीत मे घटी होती है, अब बीतकर समाप्त हो चुकी होती है, और वर्तमान से संबंध रखनेवाली अन्य घटना (स्मरण) का अश नही हो सकती। हमे (ब) मे विश्वास करने के लिए प्रेरित करनेवाला मुख्य हेतु हमारा यह विश्वास करना नही है कि यदि घटना स्वयं हमारे मन के सामने नही है तो जो मन के सामने है उसे एक प्रतिमा होना चाहिए, हालाकि ऐसा मान लेने का लोभ हमे हो सकता है। हेतु इससे सीधा है : वह यह है कि 'प्रतिमा' से सामान्यतः हमारा मतलब उस तरह की चीज से होता है जो स्मरण करते समय हमारे मन के सामने होती है। यह 'प्रतिमा' की परिभाषा के रूप मे नही कहा गया है, क्योकि विभिन्न कारणो से यह परिभाषा हो ही नही सकती। बात स्पष्टतः यह है कि सामान्यबुद्धि के स्तर पर हम [illegible] अर्थ मे परिभाषाओ से काम [illegible] करते क्योकि उद[illegible]रण देना अधिक

आसान होता है और प्रायः उनसे भी हमारा प्रयोजन पूरा हो जाता है। अतः यह कहना कि प्रतिमा उस तरह की चीज है जो स्मरण करते समय हमारे मन के आगे होती है, 'प्रतिमा' की परिभाषा देना नहीं है, बल्कि केवल यह बताना है कि 'प्रतिमा' शब्द से प्रयोग करनेवाले का संकेत किसकी ओर होता है।

यदि आपको कोई ऐसा व्यक्ति मिलता है जिसके साथ बताने का यह तरीका काम नहीं करता तो आपको कोई अन्य तरीका अपनाना होगा : आप उसे यह कल्पना करने को कहें कि एक बंदर टाइप की मशीन पर टक-टक कर रहा है, और जब वह आपको यह कहे कि वह ऐसी कल्पना कर रहा है तब आप उसे बताइए कि अब उसके मन के आगे जो चीज है वही प्रतिमा है। इससे प्रकट होता है कि प्रतिमाएं केवल स्मृति में ही नहीं होती (क्योंकि वे कल्पना में भी होती है), और उसके लिए शायद आवश्यक भी नहीं होती (यदि आदमी का यह कहना सत्य हो कि आपका 'प्रतिमा' का अर्थ स्मृति के द्वारा बताना उसके लिए सहायक नहीं है); और फलतः 'प्रतिमा' की स्मृति के द्वारा परिभाषा नहीं दी जा सकती। परंतु तथ्य यह है कि अधिक-तर लोगों की अधिकतर स्मृतियों में प्रतिमाएं शामिल रहती है, कि प्रतिमा की हैसियत से स्मृति-प्रतिमा और कल्पना-प्रतिमा में कोई गुणात्मक अंतर नहीं होता। अतः (ब) को मानने का उनका हेतु केवल यह होता है कि 'प्रतिमा' उस तरह की चीज का नाम है जो (सदैव या प्रायः) स्मरण करते समय मन के सामने रहती है। उनसे यह पूछना कि उस तरह की चीज को प्रतिमा क्यों कहा जाता है, एक निरर्थक प्रश्न है। यह ऐसा ही होगा जैसे राष्ट्रीय सेवा-अधिनियमों के अंतर्गत भर्ती किए गए लोगों को 'जबरी रंगरूट' कहना स्वीकार कर लेने के बाद हम पूछें कि उन्हें जबरी रंगरूट मानने का हमारे पास क्या हेतु है।

(स) अर्थात् स्मृति-प्रतिमाएं किसी रूप में उन घटनाओं की प्रतिनिधि होती हैं जिनकी वे प्रतिमाएं है, यह मानने के लिए हमारे हेतु भी काफी स्वाभाविक हैं : (स) पर विश्वास करना वास्तव में (अ) और (ब) पर विश्वास करने का स्पष्ट तार्किक परिणाम है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि इनमें से कोई भी विश्वास सही (या गलत) है, बल्कि केवल यह कह रहा हूँ, कि साधारण मनुष्यों के रूप में, अर्थात् ऐसे क्षणों में जब हम दार्शनिक नहीं रहते, हमारा झुकाव स्मृति-विषयक इन या इनसे मिलते-जुलते विश्वासों की ओर रहता है। अब हम इनपर विचार करेंगे और यदि संभव हुआ तो यह निश्चित करेंगे कि ये सही है या गलत।

3. प्रतिमा-सिद्धांत

अपने सबसे सीधे रूप मे प्रतिमा-सिद्धात—यह सिद्धात कि स्मरण मूल घटनाओ का प्रतिनिधित्व करनेवाली प्रतिमाओ का मन के आगे आना है—स्पष्टतः एक द्वैतवादी सिद्धात है, और इसका उत्कृष्ट रूप मे प्रतिपादन डैविड ह्यूम ने किया है। 'अनुभव से हमे ज्ञात होता है कि जब कोई सस्कार एक बार मन पर पड चुका होता है तब पुन वह एक प्रत्यय के रूप मे मन मे प्रकट होता है, और ऐसा दो तरीको से हो सकता है : एक यह कि दुबारा प्रकट होने पर वह अपनी पहली सजीवता को काफी बडी मात्रा मे बनाए रखता है और सस्कार तथा प्रत्यय के बीच की किसी अवस्था मे होता है, तथा दूसरा यह कि उसकी वह सजीवता पूर्णतः लुप्त हो जाती है और वह एक पूर्ण प्रत्यय बन जाता है। जिस शक्ति से हमारे संस्कारो की पहले तरीके से पुनरावृत्ति होती है वह स्मृति कहलाती है और दूसरी शक्ति कल्पना है।'[1] अत. स्मृति और *कल्पना के इस इस बात मे समान होते हैं कि वे प्रतिमाएँ (ह्यूम के 'प्रत्यय')* अर्थात् मूलत अनुभूत घटनाओ के प्रतिबिंब है, पर उनमे अतर यह है कि स्मृति-प्रतिमाओं मे एक सजीवता होती है जो कल्पना मे नही होती। ह्यूम ने एक अन्य अतर यह बताया है कि स्मृति मूल घटनाओ के क्रम को बनाए रखती है, परतु कल्पना मे यह जरूरी नही होता। यदि मैं पिछले सप्ताह की आक्सफोर्ड से लन्दन तक की मोटर-यात्रा का स्मरण करूँ, तो मेरी स्मृति-प्रतिमाएँ मुझे उस दिशा मे यात्रा करते हुए प्रस्तुत करेंगी जिसमे मैंने वस्तुत यात्रा की, अर्थात् यात्रा के शुरू के क्षणो मे मुझे आक्सफोर्ड के निकट और बाद के क्षणो मे उससे दूर दिखाएगी। पर यदि मैं किसी अनुभव की कल्पना मात्र कर रहा हूँ तो मेरे लिए लन्दन से आक्सफोर्ड की यात्रा की कल्पना उतनी ही आसान होगी जितनी आक्सफोर्ड से लन्दन की यात्रा की, और मेरी *प्रतिमावली इससे भी कम क्रमबद्ध हो सकती है : यात्रा-मार्ग पर मैं दिशा का या* स्थानो की समीपता का बिल्कुल भी विचार न करते हुए एक स्थान से किसी भी अन्य स्थान को जा सकता हूँ। कल्पना 'मूल सस्कारो के क्रम और रूप से बँधी हुई नही होती; जबकि स्मृति इस बात मे एक तरह से बँधी हुई होती है और मूल मे परिवर्तन करने की शक्ति से रहित होती है।'[2]

इस प्रकार स्मरण ऐसी प्रतिमाओ के मन के सामने आने की क्रिया है जो

---

1. ट्रीटिज़ ऑफ ह्यूमन नेचर, I, 1, 3।
2. ट्रीटिज़ ऑफ ह्यूमन नेचर, I, 1, 3।

(1) मूल यानी स्मृत घटना के क्रम को बनाए रखती है और (11) सजीवता में मूल अनुभव की अपेक्षा कम पर कल्पना की प्रतिमाओं की अपेक्षा अधिक मात्रा से युक्त होती है। यह वर्णन कितना संतोषप्रद है? क्या यह मुझे यह निश्चय करने में समर्थ बनाता है कि एक विशेष अनुभव स्मरण का ही है, न कि कल्पना का, जिसके भ्रमवश स्मृति मान लिए जाने का स्पष्टतः सबसे अधिक खतरा रहता है? क्या ह्यूम के द्वारा बताई गई दो भेदक विशेषताएं वास्तव में हमें दोनों में फर्क करने में समर्थ बनाती है?

पहली विशेषता निश्चय ही हमें समर्थ नहीं बनाएगी, और ह्यूम ने स्वयं ही ऐसा कहा भी है[1] · अतःसाक्ष्य के आधार पर मैं नहीं कह सकता कि प्रतिमाओं की एक श्रृंखला मूल के क्रम को बनाए रखती है या नहीं, स्वयं प्रतिमाओं के निरीक्षण मात्र से मैं नहीं बता सकता कि क्रम बदला गया है या नहीं। यह मालूम करने के लिए मुझे प्रतिमाओं को मूल के सामने रखना होगा और प्रत्येक के क्रम का मिलान करना होगा। पर ऐसा मिलान करने के लिए मुझे मूल को साक्षात् रूप से स्मरण करने में समर्थ होना चाहिए, जो कि प्रश्नाधीन सिद्धांत से सामंजस्य नहीं रखता, और उस दशा में मैं ये दोनों बातें एकसाथ मानने की बेतुकी स्थिति में पड़ जाऊंगा—कि स्मरण सदैव मूल का प्रतिनिधित्व करनेवाली प्रतिमाओं का मन में अनुभव करना होता है और कि जो स्मृति बताई जाती है उसके वास्तव में स्मृति ही होने की पुष्टि करने के लिए मुझे आवश्यक रूप से मूल के साथ सीधे पुनः परिचय के द्वारा स्मरण होना चाहिए। यह मानना कि स्मृति सदैव एक ही तरह की होती है (अर्थात् प्रतिमाओं के रूप में होती है) और साथ ही यह भी मानना कि स्मृति सदैव एक तरह की नहीं होती, स्वतोव्याघाती है (यदि अतीत मूल के साथ पुनः परिचय संभव होता, तो ऐसा न होता)। ह्यूम ने यह बात बिल्कुल स्पष्ट रूप से देख ली थी और वह यह कहकर इस स्वतोव्याघात से बचा रहा कि यद्यपि ऊपर (1) सही है—स्मृति-प्रतिमाएँ अवश्य ही मूल क्रम को बनाए रखती है—तथापि इसका हम स्मृति की एक भेदक विशेषता के रूप में प्रयोग नहीं कर सकते, क्योंकि 'अतीत संस्कारों का इस प्रयोजन से प्रत्याह्वान करना कि उनकी हम अपने वर्तमान प्रत्ययों से तुलना कर सकें और यह देख सकें कि उनका क्रम बिल्कुल समान है, असंभव है।'

फलतः ह्यूम स्वयं, को (11) में बताई हुई इस दूसरी विशेषता का आश्र

1. वही I, 3, 5

लेने के लिए बाध्य पाता है कि स्मृति की स्मृति के रूप में पहचान उसके अन्दर रहने वाली सजीवता की मात्रा से करनी है : 'इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्मृति का कल्पना से अंतर उसके अधिक बलवती और अधिक सजीव होने में है। एक आदमी साहसिक कर्मों के किसी अतीत दृश्य की कल्पना में अपनी कल्पनाशक्ति को लगा सकता है, परन्तु यदि कल्पना के प्रत्यय स्मृति की अपेक्षा कुछ निर्बल और अस्पष्ट न हो तो इसे इसी तरह के स्मरण से अलग पहचानने की कोई संभावना नहीं होगी।'[1] यहाँ ह्यूम ने स्वयं को अनेक उलझनों में फँसा दिया है, जिन्हें सुलझाना हमारा काम इसलिए नहीं है कि हम ह्यूम के सिद्धांत को केवल अनुप्रगतः ही ले रहे हैं। परंतु यदि 'सजीवता' से ह्यूम का अभिप्राय वही है जो प्रतीत होता है, *तो निश्चय ही यह स्मृति की पहचान कराने के लिए पर्याप्त विशेषता नहीं होगी,* और उसके लिए एक आवश्यक विशेषता के रूप में उपयोगी होने का इसका दावा भी संदिग्ध है। अपने ग्रंथ में ह्यूम ने कहीं भी 'सजीवता' की परिभाषा नहीं दी है, पर जहाँ भी उसने इसकी व्याख्या की है, ऊपर के उद्धरण में लक्षित रूप में ही की है, जिससे यह सुझाव मिलता है कि अधिक सजीवता का मतलब विस्तार की बातों का अधिक उज्ज्वल, अधिक स्पष्ट और अधिक निश्चित होना है, और कि स्मृति-प्रतिमाएँ कल्पना की प्रतिमाओं की अपेक्षा कम धुँधली होती है, इत्यादि। अब, सजीवता का इस अर्थ में निश्चय ही स्मृति के पर्याप्त चिह्न के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि सजीवता की निर्धारित मात्रा (जो भी वह हो) वाली प्रतिमा के साथ अतीतत्व का कोई चिह्न नहीं होता। सजीवता स्वतः ही इस बात की सूचक बिल्कुल भी नहीं है कि प्रतिमा किसी पिछले अनुभव की प्रतिनिधि है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह सही मान लेने के बावजूद भी कि स्मरण मन में सजीव प्रतिमाओं का आना है, यह नहीं कहा जा सकता कि स्मरण में केवल इतना ही होता है। स्मृति-प्रतिमाओं के लिए यह जरूरी है कि उनमें सजीवता के अतिरिक्त कोई और भी विशेषता हो, और अतीत की ओर विशेष रूप से संकेत करने वाली यह विशेषता ही स्मृति की प्रतिमाओं के रूप में उनकी पहचान कराने वाली होगी।

दूसरी बात, यह कहना भी सत्य नहीं है कि सभी स्मृतियाँ सजीव होती हैं, या कि सभी स्मृति-प्रतिमाएँ किसी भी कल्पना-प्रतिमा से अधिक सजीव होती हैं। हममें से अधिकतर को यह अनुभव हो चुका होगा कि हमने जिस चीज के बारे में

---

1. वही।

यह समझा था कि हम उसका स्मरण कर रहे है वह वास्तव मे कभी हुई हो नही यानी असल मे हम उसकी कल्पना कर रहे थे। इसी प्रकार हममे से [illegible] को यह अनुभव भी हो चुका होगा कि जिसके बारे मे हम सोच रहे हैं वह [illegible] मे हुआ या नही, इस सबध मे हमे अनिश्चय रहता है—अर्थात् हम नही बता सक कि हम अब स्मरण कर रहे है या कल्पना। ये दोनो ही अनुभव, एक यह सोचन कि हम स्मरण कर रहे है जबकि हम केवल कल्पना कर रहे होते है (और इसक उल्टा) और दूसरा इस बारे मे सदेह मे होना कि हम स्मरण कर रहे हैं अथव कल्पना, सबसे अधिक आसानी से उन चीजो को लेकर होते है जिनका हो चुक होना किसी को बहुत ही ज्यादा पसद या नापसंद होता है। जिस सैनिक र्क उत्कट अभिलाषा यह होती है कि एक युद्ध मे कोई एक बहादुरी का काम उससे हो गया होता, उसके लिए यह सोचना आसान होता है कि उसने वह काम किया था यहाँ तक कि अंत मे सभवतः उसे यह निश्चय हो जाएगा कि उसने वह काम किय था, या उसे सदेह हो जाएगा कि उसने वह काम किया था अथवा नही। जो व्यक्ति अंतर्मुखी होने के साथ-साथ कायर भी है उसके लिए भी, दुर्भाग्य से, अपने ही कायरतापूर्ण व्यवहार की बातें सोचते-सोचते अत मे यह समझने की स्थिति तक पहुँच जाना आसान है कि वह अपने एक कायरतापूर्ण काम का स्मरण कर रहा है जबकि वास्तव मे वह उसकी कल्पना मात्र कर रहा है। स्वयं ह्यूम को इस बात की पर्याप्त जानकारी हो चुकी थी कि स्मृति-प्रतिमाओं की सजीवता घटते-घटते कल्पना-प्रतिमाओ से भी नीचे जा सकती है,[1] परतु प्रतीत होता है कि इसके इस परिणाम का सामना उसने नही किया कि सजीवता न केवल स्मृति का चिह्न होने के लिए अपर्याप्त है, अपितु अनावश्यक भी है। लगता है कि इस विश्वास से कि हममे से अधिकतर लोगो के लिए अधिकाश स्मृति-प्रतिमाएं अधिकाश कल्पना-प्रतिमाओ से अधिक सजीव होती हैं, उसे भ्रमवश यह विश्वास हो गया कि (और यह निश्चित रूप से गलत है) दोनो मे अतर सजीवता का है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, यदि यह सत्य भी हो, हालाकि ऐसा है नही, कि सभी स्मृति-प्रतिमाएं कल्पना की प्रतिमाओं से अधिक सजीव होती है, तो भी यह स्वतः यह बताने के लिए पर्याप्त नही होगा कि वे स्मृति की प्रतिमाएं हैं। स्मृति

[1] ट्रीटिज़ ऑफ ह्यूमन नेचर, I, 3, 5

का जो विशिष्ट लक्षण है वह फिर भी उनमे नही आएगा।[1] यह वास्तव मे स्मृति-विषयक सीधे-सादे द्वैतवाद की एक मौलिक कठिनाई है जो ह्यूम के सिद्धात मे अच्छी तरह उभर आती है। यदि स्मरण का मतलब किसी एक प्रकार की प्रतिमाओ का मन मे प्रकट होना मात्र है, तो जानने का दावा करना तो दूर, यह माना ही क्यो जाए कि वे अतीत की ओर सकेत करती है? किसी अनुभव को स्मृति निर्धारित करने के लिए एक कसौटी के रूप मे सजीवता का उपयोग करने मे समर्थ होने के पहले कम मे कम आगमनात्मक रूप मे यह स्थापित हो जाना चाहिए कि स्मृति के अनुभवो मे यह सजीवता होती है, और ऐसा होने के लिए कम से कम कुछ मामलो मे असली स्मृति-अनुभवो को अलग पहचानने का कोई अन्य तरीका हमे उपलब्ध होना चाहिए। परन्तु यदि स्मरण करना ऐसी प्रतिमा का अनुभव करना मात्र है जो वास्तव मे अपने मूल का प्रतिनिधित्व करती है, हालाकि हमारे पास इस बात की पुष्टि करने का कोई साधन नही होता कि वह उसका प्रतिनिधित्व करती ही है, तो हमारे पास स्मृति-अनुभवो को पहचानने का कौन-सा तरीका बचता है? इसका उत्तर यह है कि स्मृति का केवल प्रतिमाओ मे विश्लेषण करने से बात पूरी नही होती। हमारे इतना तक मान लेने का स्पष्टीकरण देने के लिए कि हमारे अनुभवो मे कुछ स्मरण के अनुभव हैं, इस तथ्य का कोई कारण बताना आवश्यक है कि कुछ प्रतिमाओ मे अतीत की ओर सकेत दिखाई देता है जबकि कुछ मे नही। और यदि स्मृति को प्रमाणीकृत करना है, अर्थात् यदि यह मानने का कोई आधार प्राप्त करना है कि कम से कम कुछ स्मृतिया सत्य है, तो स्वयं प्रतिमाओ से बाहर प्रमाणीकरण का कोई उपाय उपलब्ध होना आवश्यक है। वास्तव मे किन्ही प्रतिमाओ का अनुभव करके और

---

1. ह्यूम को पढ़नेवालों को याद होगा कि *ट्रीटिज़* के विभिन्न स्थलो से (विशेषतः I, 3, 8 के अतिम अश और I, 3, 7 के परिशिष्ट की दो टिप्पणियों से), सजीवता का मेरे द्वारा ऊपर दिए हुए अर्थ से भिन्न अर्थ होने का सुझाव मिलता है। उनमें ह्यूम यह कहने का प्रयत्न करता प्रतीत होता है कि 'सजीवता' से उसका अभिप्राय तीव्रता या विस्तृत बातों की स्पष्टता से न होकर वास्तविक प्रतीत होने, असली या प्रामाणिक होने के गुण से है। यह अर्थ सस्कारों और प्रत्ययों के बारे में ह्यूम के सामान्य सिद्धात को जितना वह अन्यथा है उससे अधिक सत्य लगनेवाला तो बना देगा, पर स्मृति के मामले मे यह उसे कोई विशेष लाभ नहीं पहुंचाता। कारण यह है कि उसे फिर भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ेगा कि एक असली प्रतीत होनेवाली प्रतिमा को अतीत की ओर सकेत करनेवाली क्यो माना जाए, इसका कोई हेतु नहीं दिखाई देता। निश्चय ही स्मृति-प्रतिमाओं को अतीत की ओर सकेत करनेवाली समझा जाता है, और इसलिए परपरागत अर्थ करने से ह्यूम के सिद्धात में जो दोष आ जाता है वह इस वैकल्पिक अर्थ से दूर नहीं होता।

उनके अनुभव से यह अनुमान करके कि अतीत में अवश्य ही वह अनुभव हुआ होगा जिसके वे प्रतिमाएं प्रतिनिधि हैं, कोई आदमी स्मरण नहीं करता; और यदि कोई ऐसा अनुमान करता ही है तो उसमें कोई वैधता नहीं होगी।

· सुपरिचितता-सिद्धांत

अब हम एक ऐसे सिद्धांत पर आते हैं जो ऊपर चर्चित सिद्धांत के समान है, पर ह्यूम के सिद्धांत में दोष पड़नेवाली त्रुटि को दूर करने का प्रयास भी करता है। इस सिद्धांत का बर्ट्रेंड रसेल ने अपने *'दि अनैलिसिस ऑफ माइन्ड'* (मन का विश्लेषण) नामक ग्रंथ (लेक्चर IX) में बहुत स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार स्मृति-प्रतिमा की अन्यों में पहचान उसके साथ रहनेवाली सुपरिचितता की अनुभूति से होती है। सुपरिचितता की यही अनुभूति, जो अपने अस्पष्टतम रूप में यह अनुभूति है कि 'यह पहले कहीं हो चुका है,' हमें स्मृति के लिए आवश्यक अतीतत्व का बोध कराती है। इस प्रकार, स्मरण करना (i) सुपरिचितता की इस अनुभूति से युक्त एक प्रतिमा का मन में प्रकट होना है और (ii) सुपरिचितता की अनुभूति के आधार पर यह विश्वास करना है कि 'यह', अर्थात् प्रतिमा और स्मरण की हुई घटना दोनों, अतीत से संबंध रखती है।[1] रसेल का सुपरिचितता की अनुभूति और उसपर आधारित विश्वास के मध्य अंतर करने की आवश्यकता पर जोर देने का कारण उसकी यह इच्छा प्रतीत होती है कि पशु, जैसे अपने अस्तबल की ओर लौटता हुआ घोड़ा, के अंदर भी, जिसमें कि विश्वास करने की योग्यता होने की बात वह नहीं मानता, ऐसी अनुभूति का होना माना जाए।[2] यह एक बहुत ही विवादास्पद अंतर प्रतीत होता है और हमारे प्रयोजन के लिए तो बिल्कुल ही अनावश्यक है, क्योंकि मनुष्य के मामले में सुपरिचितता की अनुभूति का एक अंश निश्चय ही यह विश्वास होता है कि 'यह पहले कहीं हो चुका है' (निस्संदेह ऐसा हो सकता है कि वह दृढ़ विश्वास न हो बल्कि बहुत ही निर्बल विश्वास यानी आशंका मात्र हो)। अतः ऊपर (i) और (ii) के अंतर की हम उपेक्षा कर सकते हैं, और सुपरिचितता की अनुभूति के अंदर ही विश्वास के अंश को शामिल मान सकते हैं, भले ही विश्वास कितना ही निर्बल और अस्पष्ट क्यों न हो।

---

1. दि अनैलिसिस ऑफ माइन्ड, लेक्चर IX, पृ० 179-80।
2. लेक्चर IX, पृ० 169।

तब इस सिद्धात के बारे में क्या कहा जाए ? पहली बात, इससे इन्कार करना संभव नही लगता कि हमारी स्मृति-प्रतिमाओ के साथ सुपरिचितता की यह अनुभूति अवश्य ही जुड़ी होती है, और कि यही बात उन्हे अन्य प्रतिमाओ से अलग करती है। निश्चय ही यह बात प्रतिमाओ तक सीमित नही होती : हम इंद्रियानुभव में भी ऐसा महसूस कर सकते है कि गाडी मे सामने बैठे व्यक्ति का चेहरा या जिस गाव से होकर हम गुजर रहे हैं वह कुछ सुपरिचित-सा लगता है, और फिर हम इस अनुभूति से परेशान होकर अत मे शायद उस चेहरे या गाव को पहचानने में समर्थ हो जाए गे—यह पहचान स्मरण ही है। जब मुझे किसी स्थान पर ले जाकर यह पूछा जाता है कि 'क्या तुम्हे इसका स्मरण है ?', तब मैं चारो ओर देखकर ऐसी चीज ढूंढ़ता हूँ जो मुझे सुपरिचित लगे। यदि ऐसी कोई चीज मुझे नही मिलती, तो मेरा उत्तर यह होगा कि मुझे स्मरण नही है। फिर, उन मामलो मे जिनमे मैं समझता हूँ कि मुझे किसी चीज का स्मरण हो रहा है पर वास्तव मे उस चीज की मैं कल्पना मात्र कर रहा होता हूँ, सुपरिचितता की अनुभूति ही भ्रम का कारण होती है। होता यह है कि ऐसे मामले मे 'काश, ऐसा हो गया होता,' इस अभिलाषा से प्रेरित होकर मैं पहले इतने अधिक बार उसकी कल्पना कर चुका होता हूँ कि प्रतिमाएं स्वयं मेरे लिए सुपरिचित हो जाती है और मैं यह भूल जाता हूँ कि यह तो मेरी अभिलाषा है (क्योंकि हम बडी आसानी से उन चीजो को भूल जाते है जिन्हे हम भूलना चाहते हैं), जिसका फल यह होता है कि मैं उसके स्मृति होने मे सचमुच विश्वास कर लेता हूँ—अथवा विकल्पत यह फल होता है कि मैं स्मरण कर रहा हूँ या नही, इस बारे मे मुझे सचमुच सशय हो जाता है।[1]

---

1. यद्यपि परपरा के अनुसार मैं इस ग्रथ मे 'सुपरिचितता' शब्द का प्रयोग करता जा रहा हूं, तथापि मुझे स्मृति-प्रतिमाओं के साथ जुडी हुई विशिष्ट अनुभूति के लिए इसके उपयुक्त होने मे सदेह है। कम से कम अपने अनुभव से मुझे ऐसा लगता है कि यह अनुभूति उस अनुभूति से सर्वथा भिन्न है जो मुझे तब होती है जब किसी व्यक्ति से मुलाकात होने पर मुझे उसका चेहरा सुपरिचित लगता है। इस बादवाले मामले मे मेरा यह दावा नहीं होता कि मैं स्मरण कर रहा हूँ (परेशानी यह होती है कि मैं स्मरण करना चाहता हूं पर कर नहीं सकता), और इसमें जो सुपरिचितता की अनुभूति होती है वह यह विश्वास मात्र (जो दृढ विश्वास से लेकर आशंका तक किसी भी मात्रा का हो सकता है) प्रतीत होती है कि वह चेहरा मेरे अतीत अनुभव मे कहीं आया अवश्य है, हालांकि इस समय मुझे उसका स्मरण नहीं हो पा रहा है। इसके विपरीत, स्मृति-प्रतिमा के साथ सुपरिचितता की यह अनुभूति नहीं होती, बल्कि सही होने की अनुभूति होती है। मैं सोचता हूं कि केवल उन्हीं प्रतिमाओं को मैं सुपरिचितता की अनुभूति से युक्त अनुभव करता हूं जो 'कब और कहाँ देखा था', ऐसा याद न पड़नेवाले चेहरे को देखने से

3. इस सिद्धांत के विरुद्ध आपत्तियाँ

कभी-कभी इस सिद्धांत के विरुद्ध यह आपत्ति की जाती है कि स्मृति को सुपरिचितता के द्वारा नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि सुपरिचितता में स्मृति पहले से शामिल है। अब, बात को इस तरह से कहना, यानी यह कि सुपरिचितता में स्मृति पहले से शामिल है, इस तथ्य को छद्मरूप में प्रकट करना है कि यहाँ दो आपत्तियाँ हैं, जिन्हें एक-दूसरी से अलग रखना आवश्यक है, और जिनमें से कोई भी वैध नहीं है। पहली आपत्ति यह है कि स्मृति का प्रत्यय सुपरिचितता के प्रत्यय का कम से कम एक अंश है, कि 'अमुक चीज सुपरिचित है' कहने से किसी का जो अभिप्राय है उसे समझाने के लिए उसके अलावा वह कुछ और नहीं कह सकता कि उसे उसका स्मरण है या उसे लगता है कि उसे उसका स्मरण (चाहे वह अस्पष्ट ही क्यों न हो) है; और यदि सुपरिचितता के प्रत्यय में स्मृति का प्रत्यय एक आवश्यक तत्व के रूप में समाविष्ट है, तो कोई स्मृति की सुपरिचितता के द्वारा परिभाषा नहीं दे सकता, क्योंकि यदि कोई परिभाषा वाकई संभव है तो वह सुपरिचितता की स्मृति के द्वारा दी जा सकेगी। यह आपत्ति निश्चय ही अवैध है, क्योंकि यह मानने का कोई भी हेतु नहीं है कि स्मृति का प्रत्यय सुपरिचितता के प्रत्यय का एक अंश है। सही इतना मात्र प्रतीत होता है कि जब मैं 'यह सुपरिचित लगता है' कहता हूँ तब अर्थ में कोई परिवर्तन किए बिना मैं यह भी कह सकता था कि 'मुझे लगता है कि मुझे इसका स्मरण है।' परन्तु चूँकि प्रश्नाधीन सिद्धांत ठीक यही कह रहा है कि ये दो कथन एकार्थक हैं, इसलिए यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि वह ऐसा कह रहा है। इस तथ्य से कि 'मुझे इसका स्मरण है' के स्थान पर 'यह सुपरिचित है' कहा जा सकता

मिलती-जुलती हैं, अर्थात् ये वे प्रतिमाएँ हैं जिनके बारे में मुझे यह विश्वास रहता है कि वे मेरे अनुभव में पहले आ चुकी हैं, पर मुझे स्मरण नहीं हो पाता कि कब ऐसा हुआ। निस्संदेह, जिन चेहरों के बारे में मुझे स्मरण रहता है कि उन्हें कब देखा था, वे भी सुपरिचित होते हैं। परंतु मुझे शक है कि वहाँ भी 'सुपरिचित' से हमारा अभिप्राय भिन्न होता है। हमारा अभिप्राय यह नहीं होता कि ऐसे चेहरों को देखने के साथ यह विश्वास जुड़ा होता है कि हमने उन्हें पहले कहीं देखा है, और कि हम उन्हें देखने का स्थान और समय बता सकते हैं; क्योंकि स्पष्टतः ऐसा है नहीं। 'चेहरा सुपरिचित है' कहने से हमारा अभिप्राय यह होता है कि यदि हमसे पूछा जाए तो हम उसे पहचान सकते हैं या स्मृति के आधार पर उसके बारे में कई बातें बता सकते हैं। वास्तव में यदि कोई चेहरा इस अर्थ में सुपरिचित है, तो साधारणतः हम कभी यह नहीं कहते कि वह सुपरिचित है : किसी को कभी यह नहीं लगता कि उसकी पत्नी का चेहरा सुपरिचित है।

, यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि 'मुझे इसका स्मरण है' 'यह सुपरिचित है' के अर्थ का अंश है, कि स्मृति का प्रत्यय सुपरिचितता के प्रत्यय का अंश है। जो आपत्ति की गई है वह गलती से यह मान लेने के कारण की गई है कि ऐसा निष्कर्ष निकलता है।

सुपरिचितता में स्मृति पहले से शामिल है, इस कथन में छिपी हुई दूसरी आपत्ति अतीतत्व के प्रत्यय को लेकर है। अतीतत्व सुपरिचितता के प्रत्यय का एक स्वीकृत अंश है। परंतु यदि स्मरण करना सुपरिचितता की अनुभूति के साथ प्रतिमाओं का अनुभव करना है, तो हमें अतीतत्व का प्रत्यय प्राप्त ही कहाँ से हो सका ? क्या अतीतत्व का प्रत्यय प्राप्त करने के लिए हमारा किसी पिछले अनुभव से कोई और अधिक सीधा संज्ञानात्मक संबंध नहीं होना चाहिए ? यह आपत्ति पहली की तरह यह नहीं कहती कि स्मृति सुपरिचितता के लिए उसके एक अंश के रूप में जरूरी है, बल्कि यह कहती है कि स्मृति सुपरिचितता के लिए उसकी एक पूर्व शर्त के रूप में जरूरी है: सुपरिचितता के प्रत्यय में एक अतीतत्व नाम का तत्व होता है, जिसे हम तब तक प्राप्त नहीं कर सकते, जब तक स्मरण, कम से कम कभी-कभी, सुपरिचितता की अनुभूति से युक्त प्रतिमाओं का अनुभव करने के अतिरिक्त भी कोई चीज न हो।

दो प्रकार से यह दिखाया जा सकता है कि यह आपत्ति भी अवैध है। पहला यह है कि हमारे मन में अतीतत्व के प्रत्यय के होने की बात जैसे स्वयं सुपरिचितता की अनुभूति के द्वारा नहीं समझाई जा सकती वैसे ही किसी पिछली घटना की साक्षात् जानकारी होने की बात के द्वारा भी नहीं समझाई जा सकती, वह तब भी वैसा ही रहस्यमय बना रहेगा जैसा पहले था। स्मृति की विलक्षणता यह नहीं है कि वह मेरे लिए अतीत को उत्पन्न करती है, बल्कि यह है कि वह उसे अतीत के रूप में उत्पन्न करती है। मार्कोनी के बारे में कहा गया है कि वह एक ऐसे रेडियो-सेट का निर्माण करने की उच्च आकांक्षा रखता था जो ध्वनि-तरंगों को उनके उत्सर्जन के बहुत बाद पकड़ सके, और शायद अंत में ईसा मसीह को पर्वत पर प्रवचन करते हुए पकड़ सके। ऐसा रेडियो श्रोता के लिए अतीत को उत्पन्न करनेवाला होगा, पर वह उसे अतीत के रूप में उत्पन्न न करता। यदि ऐसा सेट पर्याप्त मात्रा में संवेदनशील और चयनक्षम होता तो श्रोता जो कुछ सुनता उसमें कोई ऐसी विशेषता न होती जिसके आधार पर वह मानता कि वह शब्दों को स्टूडियो में कहीं उनके बोले जाने के एक या अधिक सेकंडों के बाद नहीं सुन रहा है। इसी प्रकार, यदि स्मरण किसी पिछले अनुभव के साथ किसी सीधे संज्ञानात्मक संबंध का होना होता,

तो इससे बिल्कुल भी हमारे अंदर अतीतत्व के प्रत्यय के होने की बात का स्पष्टीकरण न होता। इस आधार पर कि यदि स्मृति को सुपरिचितता की पूर्व शर्त न माना जाए तो कोई बात अस्पष्टीकृत रह जाएगी, यह दलील नहीं दी जा सकती कि स्मृति सुपरिचितता की पूर्व शर्त है। हाँ, यदि स्मृति को सुपरिचितता की पूर्व शर्त मानने से उस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है, तो बात अलग है; पर, जैसा कि हम अभी देख चुके है, तब जो स्पष्टीकरण प्राप्त होगा वह कोई अधिक अच्छा स्पष्टीकरण बिल्कुल नहीं होगा।

6. अतीत का प्रत्यय इन्द्रियानुभविक है।

दूसरी बात, यह मानते हुए भी कि अतीतत्व सुपरिचितता के प्रत्यय का एक आवश्यक अंग है, मैं समझता हूँ कि हम स्मृति का आश्रय लिए बिना उसका स्पष्टीकरण दे सकते हैं। तथ्य यह है कि कोई आदमी अतीतत्व के प्रत्यय को ठीक उसी तरीके से प्राप्त कर सकता है, जिससे वह लाल के प्रत्यय को प्राप्त करता है, और यह तरीका इंद्रियानुभविक अर्थात् उसके एक उदाहरण को देखने का है। जब कोई लाल वस्तुओं को हमें बताता है और उनका हरी या नीली वस्तुओं से, छेदनेवाली चीजों से, शोर मचानेवाली चीजों इत्यादि से अंतर करता है, तब हमें लाल का प्रत्यय प्राप्त होता है। इसी तरह यदि हमें अतीतत्व के उदाहरण दिखाई दें, जिनका अन्य प्रत्ययों के उदाहरणों से पर्याप्त अंतर हो, तो हमें अतीतत्व का प्रत्यय प्राप्त हो सकता है। निश्चय ही, अतीतत्व के उदाहरण हमें बराबर मिलते रहते हैं, जैसे तब जब हमें समय के गुजरने का बोध रहता है। यह कहना कि कोई चीज अतीत हो गई है, यह कहने के बराबर है कि वह किसी अन्य चीज के पहले हुई; और जब भी हम कोई गति देखते हैं, जैसे एक बिल्ली को फर्श पर चलते हुए, तब हमें किसी चीज के किसी अन्य चीज से पहले होने का बोध होता है। नेत्रविज्ञानी चाहे जो कहता हो, हम ऐसे मामले में अवश्य ही अविच्छिन्न गति को देखते हैं, अर्थात् एक निर्दिष्ट वर्तमान के अंदर हमें एक सीमित कालावधि का बोध होता है जिसके अंदर बिल्ली दाहिनी ओर से बाईं ओर को निकलती है। हमारी चेतना के लिए वर्तमान एक कैमरा के शटर की क्षणिक क्लिक की तरह असंवेद्य अवधि वाला नहीं होता। उसकी एक संवेद्य अवधि होती है जिसके अंदर हमें इस बात की चेतना होती है कि एक अवस्था दूसरी के पहले रही, अर्थात्, दूसरे शब्दों में, जिसके अंदर हमें अतीतत्व के एक उदाहरण का बोध होता है।

निस्सदेह, इस सवेद्य अवधि के पक्ष मे बहुत ही अधिक दावा किया गया है, जिससे इसका तकनीकी नाम 'प्रतीत वर्तमान' दुर्भाग्य से उचित-सा लगने लगा है, परतु इसके अस्तित्व से इन्कार करने का कोई आधार नही दिखाई देता। इस अवधि की लंबाई कितनी होती है, अलग-अलग व्यक्तियो के लिए इस लबाई मे कहाँ तक अतर हो सकते है, अथवा एक ही व्यक्ति के लिए जागरूकता की विभिन्न अवस्थाओ मे इसमे कहाँ तक अंतर हो सकते है, इत्यादि प्रश्न दार्शनिको के न होकर मनोवैज्ञानिको की दिलचस्पी के प्रश्न हैं। परंतु इस तथ्य से कि इस अवधि की लबाई बदलती अवश्य है और कि एक अनिश्चय-ग्रस्त सीमावर्ती क्षेत्र है जिसे न स्मृति के बजाय वर्तमान प्रत्यक्ष को ही स्पष्टत: दिया जा सकता है और न वर्तमान प्रत्यक्ष के बजाय स्मृति को, यह प्रकट होता है कि वर्तमान के अनुभव और अतीत की स्मृति के बीच अतर क्रमिक विलयन का है, और कि कोई कहां पर विभाजन-रेखा खीचता है, यह एक सुविधा या परिपाटी की बात है। घटे का बजना सुनते समय हो सकता है कि मै पहली चोट की आवाज को सुनते-सुनते ही दूसरी चोट की आवाज को भी सुनने लगू, यदि कोई व्यक्ति मुझसे कुछ कहता है तो हो सकता है कि मेरा ध्यान उधर न होने के कारण मैं उसकी बात न सुन पाऊ और इसलिए मै उसे बात दोहराने के लिए कहूँ, और फिर भी उसके दोहराने से पहले ही मै उसकी बात को पकडने मे समर्थ हो जाऊ। एक पुस्तक को पढ़ते समय किसी वाक्य का जो भाग मैं एक ही बार मे ग्रहण कर सकता हूँ वह अन्य बातो के अलावा मेरी थकान की मात्रा, पुस्तक मे मेरी रुचि की मात्रा तथा मेरे लिए पुस्तक की कठिनाई की मात्रा पर भी निर्भर करेगा—अर्थात् मेरे स्मृति पर आश्रित होने की मात्रा अवस्थाओ के बदलने के साथ बदलती रहेगी।

निश्चय ही, जिस तरह लालिमा का प्रत्यय प्राप्त होता है उसी तरह, अर्थात् इंद्रियानुभव से, अतीतत्व का प्रत्यय प्राप्त होता है, यह कहने का मतलब यह नही है कि दोनो मे अथवा दोनो की प्राप्ति की अवस्थाओ मे कोई महत्व के अतर नही हैं। अतीतत्व एक सर्व-व्यापक प्रत्यय है, जबकि लालिमा एक आनुषगिक प्रत्यय है, अर्थात् एक आदमी लाल के प्रत्यय को प्राप्त किए बिना ही अपना जीवन चला सकता है, जैसे तब जब वह अधा हो या अधा न होने पर भी उसने कभी न लाल वस्तु देखी हो और न उसकी चर्चा सुनी हो। उसका अनुभव एक बात मे कम होगा, पर अन्य बातो मे शायद ही उसपर कोई असर होगा। इसके विपरीत, जिस तरह का अनुभव हमे होता है उसके होने के लिए अतीतत्व बिल्कुल आवश्यक लगता है; जैसे कि मानो वह अनुभव के ढाँचे का ही अंश हो, न कि उस ढांचे मे

सजाए गए घटकों में से एक। किसी आदमी के अनुभव के समस्त घटक जो हैं उनसे भिन्न हो सकते हैं, परन्तु फिर भी उसका अनुभव एक मानवीय अनुभव रहेगा। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि अनुभव का प्राक् और पश्चात् के कालिक ढांचे के रूप में विन्यास भिन्न हो जाए और अनुभव फिर भी इस शब्द के प्रयुक्त अर्थ में अनुभव बना रहे। जो भी हो, इस बात से कि हमारे अनुभव का प्राक् और पश्चात् के ढांचे में विन्यस्त होना जरूरी है, इंद्रियानुभव से अतीतत्व के प्रत्यय के प्राप्त होने की बात का निवारण नहीं होता। अतः एक बार फिर यह बात कह दी जाए कि अतीतत्व का सुपरिचितता के प्रत्यय का एक अंश होना एक ऐसा स्वीकृत तथ्य है, जिसका स्पष्टीकरण किसी अन्य प्रकार की स्मृति को सुपरिचितता की एक पूर्व शर्त बताने की आवश्यकता के बिना ही दिया जा सकता है।[1]

7. सुपरिचितता कोई गारंटी नहीं है।

इस प्रकार सुपरिचितता-सिद्धांत अवश्य ही उन आपत्तियों से बच जाता है जिन्हें हमने ह्यूम का उदाहरण लेकर किसी भी ऐसे सरल सिद्धांत के लिए घातक पाया था जो स्मरण को मूल घटनाओं से सादृश्य रखनेवाली प्रतिमाओं का मन में लाना बताता है। बच इसलिए जाता है कि सुपरिचितता-सिद्धांत हमारे अतीतत्व के प्रत्यय का, हमारे यह मानने का कि अतीत का अस्तित्व है, और हमारे द्वारा कुछ ही प्रतिमाओं का, अन्यों का नहीं, उस विशिष्ट तरीके से अतीत के साथ संबद्ध किए जाने का जो स्मरण में अपनाया जाता है, स्पष्टीकरण निश्चय ही कर देता है। फिर भी, यह इस बात की कोई गारंटी नहीं देता कि कोई स्मृति सही है। इस तथ्य से कि मेरी प्रतिमाओं में से कुछ सुपरिचित महसूस होती हैं, जबकि अन्य नहीं, शायद मैं यह दावा करूं कि पहले मामले में मैं अपने अतीत की कोई बात स्मरण कर रहा हूं, परन्तु अकेले इससे मेरी स्मृतियों के सत्य होने की कोई भी गारंटी नहीं मिलती। इसमें कोई हेतु इस बात का नहीं मिलता कि सुपरिचित लगनेवाली प्रतिमाओं का

---

1. सी० डी० ब्रॉड ने अपने ग्रंथ *'माइण्ड एँड इट्स प्लेस इन नेचर'* पृ० 206-07 में ये दो परस्पर व्यावर्तक विकल्प बताए हैं: (i) अतीतत्व के प्रत्यय का मन इस कारण होना कि अतीतत्व प्रागनुभविक अर्थात् अनुभव के ढांचे का अंश है और (ii) इसका प्रतीत वर्तमान से प्राप्त इंद्रियानुभविक प्रत्यय होना, जिनमें से दार्शनिक को एक का चुनाव करना होगा। स्वयं ब्रॉड का झुकाव (i) की ओर है। परंतु इनके परस्पर व्यावर्तक होने की बात दूर तो रही, उन्हें विकल्प तक मानने के लिए उसने कोई हेतु नहीं बताया है।

मुझे विश्वास करना चाहिए और अन्यों का नहीं। फिर भी, स्पष्ट है कि हम सभी अन्यों के बजाय सुपरिचित लगनेवाली प्रतिमाओं का ही विश्वास करते है। यह बात तब विशेष रूप से स्पष्टत प्रकट होती है जब कोई किसी चीज का स्मरण करने का प्रयत्न करता है, परन्तु ऐसा करने मे उसे बहुत ज्यादा कठिनाई हो रही होती है; और यह बात सभी प्रतिमाओं पर समान रूप से लागू होती है, चाहे उनका संबंध किसी भी ज्ञानेंद्रिय से हो।

उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि मैं किसी एक या अन्य कारण से किसी ऐसे आदमी का नाम याद करना चाहता हूँ जिसे मैं जानता था पर कई वर्ष से देखा नहीं है। शायद मैं उसकी शक्ल-सूरत को साफ-साफ याद करने मे, उन अनेक अवसरों को याद करने मे जिनमें मेरा उससे संबंध रहा था, यह स्मरण करने में कि उसकी आवाज कैसी थी, हाथ मिलाते समय उसका हाथ कैसा चिपचिपा लगता था, उसकी साँस मे आनेवाली ह्विस्की की हलकी-सी गंध कैसी थी इत्यादि, सफल होऊँ और फिर भी उसका नाम याद न कर सकूँ। मैं एक के बाद दूसरा नाम याद करता हूँ, पर कोई भी नहीं जँचता और कोई भी सही नहीं लगता। शायद मुझे यह निश्चित लगेगा कि वह ग से शुरू होनेवाला एक छोटा-सा नाम है या कि वह कार्नवाली-भाषा का-सा लगता है, परन्तु कोई भी सुराग मुझे सही नाम पर नहीं पहुँचाता। यह एक झुँझलाहट पैदा करनेवाला अनुभव है जिसमें जितनी अधिक कोशिश करो-उतनी ही अधिक निराशा हाथ लगती है। तब एकाएक, जब मैं कोई कोशिश भी नहीं कर रहा होता, एक नाम मेरे मन मे आता है और क्लिक की ध्वनि करता-सा स्थान पर ठीक बैठ जाता है—नाम ट्रीडगोल्ड था (कार्नवाली बिल्कुल नहीं, पर पहले भाग से थोड़ा कार्नवाली-जैसा लगता है; और पहला नहीं बल्कि दूसरा भाग ग से शुरू होता है), यह एकदम ठीक बैठ जाता है और मुझे पक्का विश्वास है कि यह सही नाम है। अब, इस नाम का अन्य सूझे हुए और अस्वीकृत नामों से अंतर केवल यह है कि यह सही महसूस होता है जबकि अन्य नहीं। इससे मैं पूरी तरह आश्वस्त हो गया हूँ जबकि अन्यो से कतई नहीं। परन्तु यदि हम संशयालु है तो पूछ सकते है कि सुपरिचितता की अनुभूति किस तरह की गारंटी देती है। निश्चय ही सर्वोत्तम गारंटी वह नहीं है, क्योंकि हम आसानी से ऐसे उदाहरणों को सोच सकते हैं जिनमें प्रतिमाओं के साथ अवश्य ही सुपरिचितता की अनुभूति थी और इसके बावजूद भी जिस घटना के स्मरण का हमारा दावा था वह कभी घटी ही नहीं। उदाहरणार्थ, सुपरिचितता की कसौटी से मैं पूर्णत: आश्वस्त हो सकता हूँ कि आदमी का नाम ट्रीडगोल्ड था, परंतु फिर भी संभव है कि यह गलत हो। हो सकता है कि ट्रीडगोल्ड उस

आदमी का नाम न रहा हो, बल्कि उसके किसी निकट सहचर का रहा हो जो बराबर उसके साथ देखा हो और इसलिए दोनों के नामों में मुझे भ्रम हो गया हो। तब, यदि सुपरिचितता सर्वोत्तम गारंटी प्रदान नहीं कर सकती तो क्या वह स्मृति के सही होने को कम से कम काम चलाने के लिए उपयुक्त कसौटी प्रदान कर सकती है ? इस तथ्य से कि एक प्रतिमावली सुपरिचितता की अनुभूति से युक्त है, क्या हम यह अनुमान कर सकते हैं कि हमारे स्मरण का सही होना बहुत अधिक प्रसंभाव्य है ? सही बात यह है कि ऐसा हम नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ ऐसे उदाहरणों का हमारे पास होना आवश्यक है, जिनमें स्मृति-प्रतिमाएँ हों और ये दो शर्तें पूरी होती हों: (अ) हम जानते हों कि हमारा स्मरण सही है; (ब) प्रतिमाओं के साथ सुपरिचितता की अनुभूति हो ।

यदि हमें ऐसे कुछ उदाहरण ज्ञात हों जिनमें ये दोनों शर्तें पूरी हुई हों, तो इससे हमें उन अन्य उदाहरणों में अपने स्मरण के सही होने को कुछ प्रसंभाव्य मानने का आधार मिल जाएगा, जिनमें केवल दूसरी शर्त पूरी होती हो । कहने का मतलब यह है कि प्रतिमाओं की सुपरिचितता से हमारे स्मरण के सही होने का कुछ प्रमाण उस दशा में मिलेगा जब कम से कम कुछ मामलों में न केवल हमें सुपरिचितता की अनुभूति हुई हो, अपितु हमें यह भी स्वतन्त्र रूप से ज्ञात हुआ हो कि हमारा स्मरण सही था । दुर्भाग्य से, यदि सुपरिचितता-सिद्धांत सही है तो शर्त (अ) कभी भी पूरी नहीं होती, क्योंकि यदि स्मरण सुपरिचितता से युक्त प्रतिमाओं का अनुभव है तो किसी अन्य स्मरण से हम कैसे जान सकते हैं कि वह स्मरण सही है, और स्मरण को छोड़कर और कौन-सा उपाय यह जानने का है ? यह कठिनाई हमें उस आपत्ति की याद दिलाती है जो हम ने सीधे-सादे प्रतिमा-सिद्धांत के पहले रूप के विरुद्ध उठाई थी।[1]

यह दलील दी जा सकती है कि यद्यपि सुपरिचितता का उक्त रूप में प्रसंभाव्यीकरण नहीं हो सकता तथापि कम से कम दो अन्य तरीकों से यह संभव है । पहले तरीके के अनुसार, जिसे हम भविष्योक्ति प्रणाली कह सकते हैं, यदि सुपरिचितता हमें सही भविष्योक्ति करने में समर्थ बनाती है तो उसका प्रसंभाव्यीकरण हो जाता है । यदि मैं अपनी स्मृतियों को सही मानकर अपनी भविष्योक्तियों को उनके ऊपर आधारित करता हूँ, तो मैं तब की अपेक्षा कम गलतियाँ—सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों—करूँगा जब मैं उन्हें सही मानकर नहीं चलता । उदाहरणार्थ, शायद

1. ऊपर पृ० 39

मैं यह स्मरण करने का उचित रूप से दावा करूँ कि आजकल मोटर-कार इतनी तेज चाल मे चलती हैं कि जो पदयात्री उनके सामने पडे हैं उन्हे बाद मे सामने पडने का पछतावा रहा अथवा वे जीवित रहे ही नहीं। यदि मैं इसे स्मृति को सही मानकर व्यवहार करता हूँ, तो संभवत: मैं अधिक जीवित रहूँगा, अन्यथा नही। अत सुपरिचितता से युक्त स्मृति की सफलता उसके सही होने का कुछ प्रमाण है और सबल प्रमाण है।

जब मैं समझता हूँ कि कोई भी इस तथ्य से इन्कार करने की बेतुकी बात नही करेगा कि अतीत की स्मृतियो के अनुसार न चलनेवाले की अपेक्षा उनके अनुसार चलनेवाले के जीवन का मोटर-कार की चपेट मे आकर अन्त हो जाना कम प्रसंभाव्य है, और मुझे भी इससे इन्कार करनेवाला नही समझना चाहिए। परन्तु यह स्पष्ट नही है कि इस प्रकार के तथ्य सुपरिचितता-सिद्धात को वाकई पुष्ट करते हैं। हम कोशिश यह कर रहे है कि स्मृति को सुपरिचितता की अनुभूति से युक्त प्रतिमाओ का अनुभव मानते हुए इस बात का कुछ प्रमाण जुटाएँ कि ऐसी स्मृतियाँ प्राय: (या केवल कभी-कभी ही) सही होती है। और प्रमाण यह मिला है कि यदि ऐसी स्मृतियों का उपयोग कोई अपने भविष्य के निर्देशन मे करे तो उसका भविष्य कम खतरनाक होता है। परतु इस प्रमाण का प्रयोग करना स्वयं ही स्मृति का एक उदाहरण है। प्रमाण के सब संग्रह, सब सिद्धात, स्मृति पर आश्रित होते हैं, जैसा कि किसी भी क्षेत्र मे ज्ञान की प्राप्ति के एक सर्वथा निर्दोष तरीके को बनाने का प्रयत्न करते समय डेकार्ट ने पाया था और इससे उसे दुःख हुआ था।[1] इस उदाहरण मे, यदि मैं अपने इन विश्वास का औचित्य सिद्ध करने के लिए कि मेरी सुपरिचितता से युक्त स्मृति एक विशेष मामले में भविष्य के संबंध मे मेरा मार्ग-प्रदर्शन करने मे उपयुक्त और सहायक होगी, हेतु ढूँढूँ, तो मुझे पता चलेगा कि वह हेतु मेरा यह याद करना है कि ऐसी स्मृतियाँ भूतकाल मे मेरा पथ-प्रदर्शन करने मे सहायक रही हैं। यहाँ भी स्मृति की विश्वसनीयता का मतलब स्मृति पर निर्भर करना है। जिस चीज को हम कोशिश कर रहे थे वह इस बात के प्रसंभाव्यीकरण की थी कि सुपरिचितता से युक्त स्मृति सही होती है, परंतु निश्चय ही सुपरिचितता से युक्त स्मृति का एक और मामला पैदा कर देने मात्र से उसका प्रसंभाव्यीकरण नहीं होता। इससे तो केवल यह होता है कि हम एक अनवस्था मे फँस जाते हैं। यदि स्मरण का मतलब केवल सुपरिचितता की अनुभूति से युक्त प्रतिमाओ का अनुभव करना है, तो स्मृति की सत्यता का इस तरीके से प्रसंभाव्यीकरण नही हो सकता।

1. *मेडिटेशन्स* V, *रेगुली* VII

सुपरिचतता-युक्त स्मृति के प्रसंभाव्यीकरण के लिए जो दूसरा तरीका सुझाया जा सकता है (और सुझाया गया है) उसे डायरी-प्रणाली कह सकते हैं। मैं देखता हूँ कि मेरी सुपरिचित लगनेवाली और सुपरिचित न लगनेवाली दो प्रकार की प्रतिमाओं में से पहली मेरी डायरी की प्रविष्टियों से संवाद रखती है जब कि दूसरी नहीं। अथवा अधिक सही यह कहना होगा कि पहले वर्ग में से कुछ संवाद रखती हैं (क्योंकि प्रत्येक चीज जिसे मैं स्मरण करता हूँ, शायद मेरी डायरी में प्रविष्ट न हो), जबकि दूसरे वर्ग में से कोई भी संवाद नहीं रखती। मेरी डायरी मेरी स्मृतियों का मेरे अतीत से मिलान करने में मुझे समर्थ बनाती है और यह बताती है कि सब मिलाकर सुपरिचितता-युक्त प्रतिमाएं सही होती है, जबकि अन्य प्रतिमाओं के सही होने का सुझाव देनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। इस प्रकार मेरी डायरी की प्रविष्टियां मेरी स्मृति की सत्यता का प्रसंभाव्यीकरण करती है, और मेरी स्मृतियों तथा मेरी डायरी के मध्य संवादिता जितने अधिक समय तक जारी रहेगी और जितनी अधिक विस्तारयुक्त होगी, स्मृति की सत्यता की प्रसंभाव्यता उतनी ही अधिक होगी। यहाँ भी तथ्यों के बारे में कोई विवाद नहीं है। अपनी स्मृतियों को जाँचने के लिए हम अवश्य ही डायरियों और अन्य दस्तावेजों का प्रयोग करते है, और बदलती हुई, पर निश्चित की जा सकनेवाली सीमाओं के अंदर ऐसा करना पूर्णतः उचित है। परंतु यह तरीका भी सुपरिचितता-सिद्धांत के लिए सहायक नहीं है। कारण यह है कि स्मृतियों की जांच के लिए प्रमाण के रूप में मेरी डायरी की प्रविष्टियां तब तक बेकार है जब तक मेरे पास यह मानने का हेतु न हो कि मेरी डायरी घटी हुई घटनाओं का सामान्य रूप से सच्चा दस्तावेज है। और अततः ऐसा मानने का मेरे पास स्मरण करने के अलावा और क्या आधार है—उदाहरणार्थ यह स्मरण करने के अलावा कि उस काल में मैं एक डायरी रखता था और उसमें सही प्रविष्टियां करने का भरसक प्रयत्न करता था? इसके आगे डायरी-प्रणाली के विरुद्ध आपत्तियां वही है जो भविष्योक्ति-प्रणाली के विरुद्ध हैं, और उन्हें दोहराना बेकार है।

अब हम उस बिंदु पर पहुँच गए है जहाँ हम देख सकते हैं कि यद्यपि सुपरिचितता-सिद्धांत उन अनेक आपत्तियों से बच निकलता है जो शुरू में चर्चित सीधे-सादे द्वैतवादी सिद्धांत के विरुद्ध उठाई जा सकती हैं, तथापि वह द्वैतवाद की मौलिक कठिनाइयों से बच निकलने में असफल रहता है। संक्षेप में, अब हम देख सकते हैं कि यदि केवल यही स्मृति की सही व्याख्या है, तो न केवल हम अपने अतीत अनुभव (या उसके भागों) का वह अंतरंग ज्ञान नहीं रखते जिसे रखने की बात

वास्तव मे हम मान बैठे है, बल्कि अपनी स्मृतियो पर उस तरह से भरोसा करने तक का हमारा अधिकार नही है जिस तरह से हम करते हैं और किए बिना नही रह सकते। यह एक ऐसा अरुचिकर निष्कर्ष है जिसे स्वीकार करना दार्शनिक विचार-विमर्श के समय के अलावा कभी भी हममे से कोई नही चाहेगा। स्वयं को इसे स्वीकार करने के लिए राजी करने से पहले हमे यह विचार कर लेना चाहिए कि स्मृति के बारे मे कोई अन्य सिद्धात तो सभव नही है। जो आदमी हवाई हमले से हुए खडहरो के नीचे दबा पडा रहा और जिसने अपने बचानेवाले के (जो स्मृति के इस सिद्धात मे रुचि रखता था) यह बताने पर कि उसे वास्तव मे उसके दबे होने का ज्ञान नही था, यह जवाब दिया था कि 'यदि वह ज्ञान नही है तो मै जानना चाहूंगा कि ज्ञान है क्या', उस आदमी के साथ कुछ सहानुभूति न महसूस करना असभव होगा।

तृतीय अध्याय

स्मृति (क्रमागत)

1. प्रकृत वस्तुवाद

अब हम स्मृतिविषयक दो वैकल्पिक सिद्धातो मे से उसकी चर्चा करेंगे जिसे हमने पहले साधारण मनुष्य का बताया था। यह सिद्धात प्रकृत वस्तुवाद कहलाता है जिसके अनुसार स्मरण का संज्ञानात्मक विषय वही घटना होता है जिसकी स्मृति होती है। हमने यह सुझाव दिया था कि यद्यपि यह साधारण आदमी का मत है तथापि इसका साधारण आदमी के लिए आकर्षण शायद उस अन्य मत को अपेक्षा कम है जिसकी हमने चर्चा की है, क्योकि अधिकाशतः हमारा झुकाव इस विश्वास की ओर नही होता कि स्मरण करते समय हम अक्षरशः अतीत का प्रत्याह्वान करते है और वह हमारे सामने आकर उपस्थित हो जाता है। वह सुझाव एक अतिरंजित कथन था जिसने शायद विवादवस्तु को अधिक स्पष्ट करने मे सहायता की है, परंतु जिसमे अब कुछ सशोधन कर देना आवश्यक है। तथ्य यह है कि साधारण मनुष्यो के रूप मे यह तो हम मानते है कि स्मरण प्रतिमाओं के माध्यम से होता है, पर हम प्रतिमा और स्मरण की हुई घटना के मध्य भेद नही करते। शायद हमारा कोई भेद न करना बिल्कुल ठीक हो (अभी मैं बताऊँगा कि यह ठीक है), परन्तु यदि यह ठीक न भी हो तो भी इससे यह तथ्य (यदि यह तथ्य है) नही बदलेगा कि हम ऐसा भेद नही करते। कहने का अभिप्राय यह है कि इस तथ्य से कि हम साधारणतः प्रतिमाओ के द्वारा स्मरण की क्रिया का होना मानते हैं, यह निष्कर्ष नही निकलता कि हम प्रकृत वस्तुवादी नही है।

यदि जो कुछ हम साधारणतः मानते हैं वह किसी प्रकार एक दार्शनिक समस्या के हल के लिए उपयोगी प्रमाण है, तो हमे इस तथ्य को नही भुलाना चाहिए

कि बहुत प्राय. हम साधारणत एक ही विषय पर दो (या अधिक) बिल्कुल भिन्न और परस्पर विरुद्ध बातें मान लिया करते हैं। यदि कोई दार्शनिक यह दिखा सके कि एक विषय मे हम साधारणतः अ को मानते है, तो उसे यह निष्कर्ष निकालने का अधिकार नही है कि उस विषय मे हम साधारणत ब को, जो अ के विरुद्ध है, नही मानते। दुर्भाग्य से, दार्शनिक ऐसा निष्कर्ष निकालने के लिए उस समय बहुत ही तत्पर रहते हैं जब वे हमारे साधारण विश्वासो की चर्चा करते है। प्रोफेसर ब्रॉड ने पहले उल्लिखित अपनी स्मृतिविषयक चर्चा मे इस बात की ओर सकेत किया है, फिर भी उनका विश्वास है कि स्मरण के मामले मे हम साधारणत प्रकृत वस्तुवादी नही होते, हालाकि प्रत्यक्ष के मामले मे हम निश्चय ही ऐसे होते हैं। वे कहते है, "*प्रकृत वस्तुवाद एक प्रत्यक्षविषयक सिद्धात मात्र नही है, यह तो उस विश्वास का* स्पष्ट कथन है जो स्वय प्रात्यक्षिक स्थिति का एक *आवश्यक अग* है। परन्तु प्रकृत वस्तुवाद स्मृति के मामले मे तो एक *सिद्धात* मात्र ही है।"[1] यहाँ मै स्वय को उनसे सहमत होने मे असमर्थ पाता हूँ। जहाँ तक प्रकृत वस्तुवाद का सबध है, प्रत्यक्ष और स्मृति का अतर निश्चय ही मात्रा बल का है। बात यह नही है कि *प्रात्यक्षिक निर्णय प्रकृत वस्तुवादी हो और स्मृति-निर्णय स्वय ऐसा न हो*। इसके बजाय बात यह है कि कम से कम सामान्य तौर पर वर्तमान की बातें हमारे मन पर अतीत की बातो की अपेक्षा कही अधिक जोर के साथ टकराती है, और कि स्मृति का काम मुख्यत. प्रत्यक्ष से गौण होता है। परन्तु जहाँ स्मृतियाँ विशेष रूप से बलवती होती है—कुछ हममे से अधिकतर के लिए अवश्य ही ऐसी होती है, जैसे किसी विशेष रूप से बहुत आनदप्रद, भयानक या अत्यंत परेशानी पैदा करनेवाले अनुभव की स्मृति—वहाँ वे किसी भी प्रात्यक्षिक अनुभव की तरह ही साधारण जन को वास्तविक-जैसी लगती है।

गनीमत यह है कि स्मृतियाँ प्रायः हमारे मन मे उस तरह नही उमड पड़ती जिस तरह प्रत्यक्ष उमडते है, और वे प्राय· हमारे ध्यान को आकर्पित करने के लिए उतना जोर नही लगाती। इसे हम एक अच्छी बात कह सकते है, पर साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि *उनका सयतत्व केवल मात्रा की बात है*। यह कहने का हमारे पास कोई आधार नही है कि प्रकृत वस्तुवाद प्रात्यक्षिक निर्णय का तो एक अग है, पर स्मृतिमूलक निर्णय का अग नही है बल्कि उसके बारे मे एक सिद्धात मात्र है। फिर भी, *यह तो हम नही मानते कि अपने स्मृतिमूलक निर्णयो के बारे मे हम*

1. माइन्ड ऐड इट्स प्लेस इन नेचर, पृ० 243।

वस्तुवादी नही है, लेकिन यदि हम ऐसा मानें भी तो भी हमें इस वजह से व० ; को नहीं छोड़ना चाहिए। अध्याय 1 की संक्षिप्त चर्चा से यह सुझाव मिला था कि प्रत्यक्ष के बारे मे प्रकृत वस्तुवाद को अपनाना गलत है। अब उतनी ही संभावना यह परिणाम निकलने की भी हो सकती है कि स्मृति के बारे मे हमारा प्रकृत वस्तुवादी होना गलत नहीं होगा।

2 कालविषयक आपत्ति

इस मत के विरुद्ध कि स्मरण का अव्यवहित विषय वह घटना होती है जिसका स्मरण किया जाता है, पहली और सबसे स्पष्ट आपत्ति काल-संबंधी है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह पूछा जाता है कि जो घटना, मान लीजिए, दस वर्ष पहले घटी थी, उसका या उसके एक भाग का ज्यों का त्यों मेरे मन के सामने प्रस्तुत होना कैसे संभव हो सकता है ? जब वह घटना घट चुकी तब उसका अस्तित्व समाप्त हो गया। एक घटना जो अब मेरे मन मे घट रही है (स्मरण की क्रिया) कैसे काल के व्यवधान को पार करके उस घटना को अपना विषय बना सकती है जो अब नही घट रही है, बल्कि दस वर्ष पहले घटकर समाप्त हो चुकी है ? यह आपत्ति मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जोरदार लगने के बावजूद मुझे बिल्कुल व्यर्थ प्रतीत होती है। यह पूछा जा सकता है कि इसके पक्ष मे प्रमाण क्या है ? वह इंद्रियानुभविक तो है नही, अर्थात् वह ऐसे उदाहरणो पर आधारित नहीं है जिनमे स्मरण का अव्यवहित विषय स्पष्ट रूप से स्मरण की हुई वस्तु न हो। यदि हम ऐसे उदाहरण दे सकते, तो स्मरण की हुई वस्तु के स्मरण की क्रिया से संबंध का प्रश्न कभी उठा ही न होता, हमे यह कुतूहल तक न होता कि यह संबंध एक के दूसरे का अव्यवहित विषय होने का है या नही। वास्तव मे, कौन-सा ऐसा इंद्रियानुभविक प्रमाण संभव हो सकता है, जिसे खोज लेने की कोई कल्पना कर सके और जो इस विशेष ज्ञानमीमांसीय प्रश्न का उत्तर दे सके या उत्तर देने मे सहायक हो सके ? यहां दो मामलों मे भेद कर देना आवश्यक है, जिनमे घपला हो सकता है :

(i) वह मामला जिसमे अतीत से सीधा परिचय चाहे हो या न हो, पर जो स्मृति का मामला नही है।

(ii) वह मामला जिसमे अतीत से सीधा परिचय चाहे हो या न हो, पर जो स्मृति का मामला है।

(i) का एक उदाहरण आक्सफोर्ड की उन दो महिलाओं के विचित्र अनुभव

में मिलता है जो 1901 में वर्साई के प्रासाद के उद्यानों में टहलते समय उद्यानों की अनेक विशेषताओं और अन्य व्यक्तियों को इधर-उधर टहलते देखकर चकित रह गई थीं। वे अन्य व्यक्ति सब के सब लुई XVI के शासन-काल की पोशाकें पहने हुए थे, और दस्तावेज़ों की छानबीन से बाद में पता चला कि उद्यानों की कुछ कृत्रिम विशेषताएं जिन्हें उन महिलाओं ने साफ-साफ देखा था, जैसे एक कृत्रिम गुहा और एक छोटी घाटी जिसके ऊपर पुल भी था, ऐसी थी जो मेरी ऐन्ट्वाइनेट के काल में सचमुच थीं, पर कोई पचास साल बाद हटा दी गई थीं। दूसरे शब्दों में, महिलाओं ने *1901 में जो देखा वह उद्यान 1901 का नहीं बल्कि सौ वर्ष पहले 1789 का* था और जो लोग वहाँ दिखाई दिए वे भी ठीक उसी काल के थे। निश्चय ही, लाक्षणिक अर्थ में और शायद शाब्दिक अर्थ में भी दोनों महिलाएं सौ वर्ष पीछे अतीत में फेंक दी गई थीं। अब, इस विचित्र अनुभव की सचाई से हमारा यहाँ कोई मतलब नहीं है, हालांकि वस्तुतः प्रमाण को अधिकतम सतर्कता और निष्पक्षता के साथ जुटाया गया है।[1] हमारी दिलचस्पी का विषय केवल यह है कि यह एक ऐसा उदाहरण लगता है जिसमें अतीत के साथ किसी तरह का परिचय होता है और जो साथ ही स्मृति का मामला भी नहीं है।—इस बात का कोई संकेत नहीं है कि इस अनुभव के होने में उन दो महिलाओं को अपने अतीत की किसी बात का स्मरण हो रहा था। जो कुछ उन्होंने देखा वह बिल्कुल भी उस अर्थ में सुपरिचित नहीं था, और उन्हें यह मानने का कोई प्रलोभन नहीं हुआ कि वे स्मरण कर रही थीं। प्रलोभन उन्हें यह मानने का हुआ कि रक्षकों, पोशाकें पहने अजनबियों और रेखाचित्र बनाती महिला इत्यादि से युक्त उद्यान उसी समय के थे जिस समय महिलाएं उन्हें देख रही थीं; और यह बात कि महिलाओं ने उन्हें जिस अवस्था में देखा वह उनकी उस समय की अवस्था नहीं थी, वे बाद के अनुभव से तब सिद्ध करने में सफल हुईं जब उनका वह विचित्र अनुभव समाप्त हो चुका था और उन्होंने पाया था कि उद्यानों की वास्तविक वर्तमान अवस्था कुछ और थी तथा उनकी रूप-रेखा भिन्न थी। संक्षेप में, हम इस तरह के मामले की विशेषता यह बता सकते हैं कि अनुभव के होने के समय अनुभूत बातें वर्तमान काल की लगती हैं (अथवा इसी को इस रूप में कहा जा सकता है कि अनुभवकर्ता अचेतन रूप में अतीत में पहुँच जाता है), परन्तु बाद में इन्द्रियानुभव के आधार पर उन्हें वर्तमान से असंबद्ध सिद्ध किया जा सकता है। दस्तावेज़ों के अनुसार कृत्रिम गुहा, घाटी, पुल और जंगल अनेक वर्ष पूर्व साफ कर दिए गए थे

[1] एलिज़ाबेथ मॉरिसन और एफ० लेमान्ट-कृत 'ऐन ऐडवेन्चर'; लेन्डल जॉन्स्टन कृत 'दि ट्रायानॉन केस'।

और अब उस स्थान में जहाँ उन महिलाओं ने उन्हें देखा था और जहाँ नक्शों से उनका पहले होना प्रकट है उनका कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता।

इसके विपरीत, मामला (ii), जिसका उदाहरण किसी भी स्मृति में मिल जाएगा, पश्चसज्ञापक होने में मामला (i) के समान तो होता है, परन्तु एक इस महत्वपूर्ण बात में उससे असमान होता है कि पश्चसज्ञान के होने के समय आदमी को यह बोध भी रहता है कि वह पश्चसज्ञान है। जो कुछ एक आदमी को स्मरण होता है, उसकी स्थिति को वर्तमान में समझने का और केवल बाद में इंद्रियानुभविक आधार पर उसे अतीत की तिथि से जोड़ने का प्रलोभन उसे नहीं होता; स्मरण की हुई घटना को अतीत की किसी तिथि से जोड़ना स्मरण की क्रिया का अंग ही होता है। अब, वर्तमान के अपने अनुभव के स्वरूप से प्राप्त कौन-सा इंद्रियानुभविक प्रमाण ऐसा है जो यह सिद्ध कर सके कि जो स्मृति के आधार पर अतीत का अनुभव लगा था वह वस्तुतः अतीत का अनुभव नहीं था ? यदि वह ऐसा सिद्ध कर सकता है तो केवल एक परोक्ष और न्यून अर्थ में ही।

यह निश्चय ही साफ है कि स्मरण का साक्षात् विषय स्मरण की हुई घटना नहीं हो सकता, यह युक्ति प्रागनुभविक है और साक्ष्य के संग्रह पर या उदाहरणों को देने पर नहीं बल्कि काल की प्रकृति से संबंधित एक सिद्धांत पर आधारित है। यह मान लिया जाता है कि जब कोई घटना घटती है तभी उसका घटना समाप्त हो गया होता है और इसके बाद उसका प्रेक्षण वैसे ही असंभव होता है जैसे उसके घटने के पहले था। इसकी तुलना बिजली की चमक से की जा सकती है : यदि उस समय मैं बिजली की चमक को न देखूँ जिस समय वह होती है तो बाद में उसे देखने की मैं आशा नहीं कर सकता (क्योंकि बाद में उसका अस्तित्व ही नहीं रहता)। यह भी मान लिया जाता है कि यदि पहली कठिनाई को छोड़ भी दें तो भी इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वर्तमान अनुभव का कोई भी भाग वर्तमान से बाहर नहीं जा सकता, मैं केवल उसी का अनुभव कर सकता हूँ जो स्वयं अनुभव का समसामयिक हो, और फलतः स्मरण की क्रिया का साक्षात् विषय कोई ऐसी घटना नहीं हो सकता जो उसकी समसामयिक न होकर उससे पहले की हो। इनमें से एक भी मान्यता ऐसी नहीं है जिसे स्वीकार करने के लिए हम मजबूर हों : ये न तो स्वयंसिद्ध सिद्धांत हैं और न स्वयंसिद्ध सिद्धांतों से निगमित हो सकनेवाले, और जैसा कि हम पहले देख चुके हैं,[1] प्रत्यक्ष के मामले तक में ऐसा लगता है कि जिसका

---

1. देखिए ऊपर पृ० 14

प्रत्यक्ष होता है वह प्रत्यक्ष की क्रिया का समसामयिक नही होता, ऐसा हमे मानना पडेगा। वास्तव मे, स्मृति का साक्षात् विषय स्मरण की हुई घटना होता है, इस सुझाव के विरुद्ध काल के आधार पर दी जानेवाली युक्ति जाँच के पश्चात् किसी ठोस आधार पर आश्रित होने के बजाय सभ्रम और विचारशून्य पूर्वग्रह मात्र पर आश्रित दिखाई देती है।[1]

3. प्रतिमा और स्मृत घटना की विसगति पर आधारित युक्ति।

अब हम एक कुछ अधिक गभीर कठिनाई पर आते है। यदि प्रकृत वस्तुवाद सही होता तो क्या स्मृति-प्रतिमा का स्मृत घटना से भिन्न होना सभव होता ? जब प्रतिमा स्मृत वस्तु के पूरी तरह नही बल्कि काफी समान होती है तब या जब वह बिल्कुल भी समान नही होती तब दोनो, निश्चय ही, कभी-कभी और शायद प्राय: स्पष्टत: भिन्न लगती है। पहली बात का एक उदाहरण यह है। एक क्रिकेट मैच की, जिसमे मैं खेला हूँ, एक घटना का मै स्मरण कर सकता हूँ, और मेरे मन मे उसकी स्पष्ट चित्र-जैसी प्रतिमाएँ आ सकती है—मैदान की आकृति, पेविलियन की स्थिति और शक्ल, दूर के मकानो की पक्ति, फील्डिंग करनेवालो की स्थितियाँ इत्यादि। परतु यदि फील्डिग करनेवाले वास्तव मे उन स्थितियो मे न हो जिनमे मेरी प्रतिमा के अनुसार वे है, तो क्या स्मरण मे मैं स्मरण की जानेवाली अतीत घटना का साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ ? फिर, केवल यही नही कि मेरी प्रतिमा मूल घटना के साथ इस या उस बात मे सादृश्य न रखती हो, बल्कि यह भी सभव है कि स्मरण करते समय ही मुझे यह बात पक्की लगती हो कि वह सादृश्य नही रखती। मान लीजिए, घटना यह हुई कि बैट्समैन ने बल्ले की जबर्दस्त चोट से गेंद को स्क्वायर लेग की दिशा मे फेंका और अम्पायर के टखने पर चोट मारी। मेरी प्रतिमा मे अम्पायर के ऊपर से दिखाई देनेवाले कपडे है : गहरे भूरे रग के जूते, भूरे रग की फलैनेल की पैंट, एक लबा सफेद अम्पायरी कोट, एक विचित्र रग की कमीज और एक बो टाई। अब, इस प्रतिमा के बारे मे मुझे विश्वास है कि बो टाई, कमीज और कोट बिल्कुल ठीक है, मुझे विश्वास है कि पैंट ठीक नही है, और जूतो के बारे मे मुझे बिल्कुल भी निश्चय नही है। यह एक ऐसा मामला है जिसमे स्मरण के साथ ही मुझे न केवल यह विश्वास है (और यह विश्वास सही है) कि मेरी प्रतिमा किसी बात मे गलत है बल्कि यह भी कि वह किस बात मे गलत है।

1. इस युक्ति की अधिक विस्तृत चर्चा के लिए देखिए ब्रॉड, माइन्ड ऐंड इट्स प्लेस इन नेचर, पृ० 251-6।

दूसरा संबद्ध मामला वह है जिसमें प्रतिमा स्मरण की हुई घटना के साथ बिल्कुल भी कोई सादृश्य रखनेवाली नहीं लगती। जहाँ तक मेरी बात है, यह एक ऐसा मामला है जो होता ही नहीं, क्योंकि ऐसा मुख्यतः तब होगा जब प्रतिमाएँ अचित्रात्मक हों, जबकि मुझे स्मरण सदैव चित्रात्मक प्रतिमाओं के रूप में होता है। फिर भी, मैं यह मानने के लिए तैयार हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसा नहीं होता (अंधों को छोड़कर जिनकी बात यहाँ अप्रासंगिक है) कि केवल चित्रात्मक प्रतिमाओं के द्वारा ही स्मरण करे : कुछ ऐसे हो सकते हैं जो मुख्यतः वर्णनात्मक शब्द-प्रतिमाओं पर, अर्थात् उनकी शक्लों की दृश्य प्रतिमाओं या उनकी ध्वनियों की श्रव्य प्रतिमाओं पर, निर्भर करते हों। ऐसे मामलों की चर्चा के मैं स्वयं को योग्य नहीं पाता और इसका कारण सिर्फ यह है कि मेरे मामले में ऐसा नहीं होता, मेरे स्मरण में दोनों तरह की शब्द-प्रतिमाएँ काफी अधिक अवसरों पर रहती अवश्य है, परन्तु मेरे विचार से केवल उन अवसरों पर जब स्मृत घटना में शब्दों का प्रयोग शामिल रहता है, जैसे तब जब मैं रेडियो पर 3 सितम्बर, 1939 को युद्ध की घोषणा करती हुई चैम्बरलेन की थकी हुई आवाज का स्मरण करता हूँ, अथवा जब मैं अखबारों में 1945 के आम चुनाव के नतीजों को पढने का स्मरण करता हूँ। इन्हें वस्तुवादी व्याख्या के अपवाद-जैसे नहीं समझना चाहिए, क्योंकि ये इष्ट अर्थ में चित्रात्मक हैं। जरूरत ऐसी घटना के उदाहरण की है जिसमें या जिसके बारे में शब्द बोले, लिखे या पढ़े ही न गए हों, परन्तु जिसका स्मरण अब सादृश्य रखनेवाली प्रतिमावली के द्वारा न होकर शाब्दिक प्रतिमावली से होता हो। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, इस तरह का स्मरण स्वयं को होता मुझे नहीं लगता, लेकिन इससे मैं यह निष्कर्ष निकालने के लिए तैयार नहीं हूँ कि ऐसा किसी को भी नहीं हो सकता।

क्या ये मामले—और इनके साथ गलती या अपस्मरण का मामला भी शामिल करना चाहिए—स्मृतिविषयक वस्तुवादी सिद्धांत का खंडन कर देते हैं? यदि स्मरण में स्मरणकर्ता को सीधे ही स्मृत घटना का प्रत्यक्षज्ञान होता है, तो प्रतिमावली थोड़ी गलत कैसे हो सकती है, अथवा वह स्मृत घटना से बिल्कुल भिन्न (प्रकारतः) कैसे हो सकती है? आपाततः ये बातें उस सिद्धांत का खंडन करती प्रतीत होती हैं, परंतु मुझे पक्का विश्वास नहीं है कि वे ऐसा करती हैं। इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है, क्योंकि यह इस बात पर निर्भर करता है कि वस्तुवादी सिद्धांत ठीक किस चीज के बारे में एक सिद्धांत है, और स्वयं यह बात पूरी तरह से साफ नहीं है। यदि सिद्धांत यह है कि स्मरण करना अतीत से किसी तरह का सीधा प्रत्यक्षज्ञानात्मक परिचय करना (वर्साई में उक्त महिलाओं को प्रत्यक्षज्ञान का जैसा अनुभव हुआ था

उससे किसी अवर्णनीय रूप से भिन्न तरीके से) मात्र है, तो ऊपर के उदाहरणों में निश्चय ही उसका खंडन हो जाता है। दूसरी ओर, यदि सिद्धांत यह है कि स्मरण में अतीत से ऐसा सीधा परिचय शामिल रहता है, परंतु यह नहीं कि केवल इसी का नाम स्मरण हो, तो इस सिद्धांत के बचने की आशा की जा सकती है। इन दो विकल्पों में स्पष्ट भेद करना आवश्यक है। यहाँ निश्चय ही हमें दार्शनिक-चिंतन के उस खतरे का एक ज्वलंत उदाहरण दिखाई देता है जिसकी ओर पहले संकेत किया जा चुका है, और यह खतरा उस स्थिति में आसानी से घपले में पड़ जाने का है जब यह स्पष्ट न हो कि जिस प्रश्न का उत्तर देने की हम कोशिश कर रहे हैं वह ठीक-ठीक क्या है।

हम इन दो प्रश्नों पर विचार करेंगे

(अ) स्मरण में क्या मुझे किसी अतीत घटना की अव्यवहित चेतना होती है ?

(ब) स्मरण में क्या मुझे सदैव ज्ञान होता है ?

यह मानने का प्रलोभन होना शायद स्वाभाविक है कि (अ) का 'हाँ' में उत्तर देने के लिए (ब) का 'हाँ' में उत्तर देना जरूरी है, और यह निष्कर्ष निकालना भी इतना ही स्वाभाविक है कि चूँकि (ब) का उत्तर निश्चित रूप से 'नहीं' है (क्योंकि स्मरण में हम प्रायः गलतियाँ करते ही हैं), इसलिए (अ) का उत्तर भी 'नहीं' ही होना चाहिए। परंतु, वास्तव में, जैसा कि मैं बाद में समझाऊँगा, हम (अ) का उत्तर 'हाँ' में दे सकते हैं और ऐसा (ब) के उत्तर को प्रभावित किए बिना कर सकते हैं। फलतः (ब) का निषेधात्मक उत्तर देने से, जो कि निश्चित रूप से हमें देना होगा, (अ) का अपने आप उत्तर निश्चित नहीं हो जाता।

4. क्या स्मरण में अतीत से साक्षात् परिचय होता है ?

प्रश्न (अ) उस चीज के बारे में है जिसे स्मृतिमूलक निर्णयों की सामग्री कहा जा सकता है। हम देख चुके हैं कि यदि इस सामग्री को हम वर्तमान प्रतिमाओं के रूप में लें, जो उनके द्वारा स्मरण की गई अतीत घटनाओं में संख्या-भेद रखती हुई भी उनकी न्यूनाधिक रूप से सही प्रतिकृतियाँ हैं, तो इस बात का कोई हेतु नहीं बताया जा सकेगा कि हम उन्हें प्रतिकृतियाँ क्यों समझें, अथवा हम एक को दूसरों की अपेक्षा क्यों अधिक पसंद करें; हम प्रतिमाओं के जाल में फँस जाएँगे और वहाँ से बच निकलने की कोई आशा नहीं रहेगी। तो क्या हम यह कहकर इसके विपरीत

परंतु मिलते-जुलते जाल में फँस जाएं कि स्मृति की सामग्री स्मृत घटनाएं हैं? क्या ऐसा कहने से हमने प्रतिमाओं को निकाल बाहर कर दिया है और एक बार फिर अपनी बात को गलत सिद्ध कर दिया है? कारण यह है कि स्मृति में प्रतिमाओं का होना अस्वीकार नहीं किया जाएगा, हालांकि कोई उनको स्मृति के लिए आवश्यक मानने से इन्कार कर सकता है। मेरा अपना सुझाव यह है कि वे आवश्यक हैं, पर उन्हें वस्तुएं कतई नहीं मानना चाहिए। यह निश्चय ही एक तथ्य है कि सामान्य रूप से हमें स्मरण को प्रत्यक्ष से उलझाने का खतरा नहीं होता, हालांकि हम कभी-कभी स्मरण को कल्पना या कल्पना को स्मरण समझने की गलती कर सकते हैं; और स्मरण को प्रत्यक्ष से अलग करनेवाली मुख्य बात यह होती है कि एक में प्रतिमाएं होती हैं जबकि दूसरे में नहीं। निस्सदेह, चरम अवस्थाओं में, जैसे अत्यधिक थकान, नशे या सन्निपात की हालत में, ऐसी प्रात्यक्षिक स्थितियाँ आ सकती हैं जिनको लेकर प्रत्यक्षकर्ता यह न जाने की प्रतिमाओं की मदद से उनका वर्णन करना है या नहीं। परंतु भाषा कदाचित् अवश्य ही ऐसी चरम अवस्थाओं के लिए संतोषप्रद व्यवस्था किए रहती है। निस्सदेह, यदि वे इतने अधिक बारबार आने लगें कि एक नई सामान्यता पैदा हो जाए, तो हमें अपनी भाषा में उनके अनुरूप संशोधन करना पड़ जाएगा और ऐसा करते हुए हमें बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ेगा। जो भी हो, ऐसा समय जब तक नहीं आता तब तक सामान्य अवस्थाएं वे हैं जिनमें हमारा झुकाव प्रत्यक्ष को स्मरण समझने की भूल करने की ओर, अथवा पहले में प्रतिमाओं के होने की बात कहने और दूसरे में उनके होने की बात न कहने की ओर, नहीं होता।

मुझे यह मानने का कोई हेतु नजर नहीं आता कि एक ओर तो घटनाएं, व्यक्ति और वस्तुएं होती हैं और दूसरी ओर उनके फीके-से मानसिक प्रतिबिंब जिन्हें प्रतिमाएं कहते हैं। यह मान्यता कि सभी प्रतिमाएं शीशे पर पड़नेवाली छायाओं-जैसी होती हैं, शब्द के अधानुसरण का फल अधिक है और उसके द्वारा निर्दिष्ट वस्तु पर ध्यान देने का कम। कुछ प्रतिमाएं सचमुच मूल वस्तुओं के न्यूनाधिक रूप से यथार्थ प्रतिबिंब होती हैं, जैसे तालाब या शीशे में झाँकने पर दिखाई देनेवाली प्रतिमाएं। परन्तु यदि हम स्मृति-प्रतिमाओं को निष्पक्ष रूप से और एकाततः देखें तो क्या हम मानेंगे कि वे ठीक उसी अर्थ में प्रतिमाएं हैं? पानी और शीशे की प्रतिमाएं ठीक उसी तरह देखी जाती हैं जिस तरह उनके मूल देखे जाते हैं, जलावा इस बात के कि वे तीन विमाओं के बजाय पानी और शीशे में देखी जाती हैं। परन्तु उनका जिस प्रकार से अनुभव होता है वह भिन्न नहीं है: 'पेड़ को देखता हूँ' में

देखने' से जो भी मतलब हमारा हो ठीक वही मतलब 'पानी में पेड़ के प्रतिबिंब को देखना है' में भी है। सज्ञानात्मक संबंध वही है, जबकि विषय दोनों में प्रकार और संख्या की दृष्टि से भिन्न है, जैसे एक बात यह है कि उनकी दैशिक स्थितियां भिन्न है। जब ऐसी कोई बात स्मृति-प्रतिमा और उसकी मूल वस्तु के बारे में कहना सही नहीं लगता। यदि हम समझें कि ऐसा कहना सही है तो इसका कारण यह है कि हम पहले से ही स्मृति के स्वरूप के बारे में एक सिद्धात पर विश्वास प्रकट कर रहे है, भले ही वह कम स्पष्ट हो, परन्तु पानी में दीखनेवाली पेड़ की प्रतिमा और स्वयं किनारे पर खड़े पेड़ के बीच भेद करना किसी सिद्धात को मानने का परिणाम नहीं है। किसी स्मृति-प्रतिमा का अनुभव करना बिल्कुल भी इस समय स्मरण की जाने वाली घटना को देखने (या उसका प्रत्यक्ष करने) के मूल अनुभव के समान नहीं होता। दोनों के एक होने की बात तो और भी अकल्पनीय है। स्मृति में जो चीज विलक्षण लगती है वह उसकी सामग्री नहीं बल्कि उसमें शामिल सज्ञानात्मक तत्त्व है, और प्रतिमा स्मरण की हुई वस्तु से सख्यातः भिन्न एक वस्तु बिल्कुल भी नहीं है (मैं यहाँ केवल सही स्मृति के बारे में कह रहा हूँ)।

मनोविज्ञान में प्रयुक्त अनेक अन्य नामों के समान ही (जैसे 'सकल्प', 'इच्छा', 'अंतर्विवेक' इत्यादि) सज्ञा-शब्द 'प्रतिमा' में भी बहुत आसानी से हम यह मानने की गलती कर बैठते है कि यह किसी विशिष्ट प्रकार की एक वस्तु या पदार्थ का नाम है, ठीक वैसे ही जैसे 'मेज', 'बबूल' और 'पकाया हुआ अडा' विशिष्ट प्रकारों की वस्तुओं के नाम है। परन्तु हमें शब्दों से धोखा नहीं खाना चाहिए। यहाँ 'प्रतिमा' शब्द का प्रयोग चेतना के एक प्रकार के लिए, स्मृति (या कल्पना) की स्थिति में किसी वस्तु के शामिल होने पर जिस रूप में वह प्रतीत होती है उसके लिए है। चूँकि स्मरण में हम मूल घटना का उस रूप से प्रत्याह्वान करने की कोशिश करते होते है जो उसका घटने के समय था, इसलिए हमें उसकी उस समय की प्रतीति और इस समय की प्रतीति के बीच भेद करना होता है। यह भेद है तो स्वाभाविक और पर्याप्त रूप से वैध, परन्तु इस बात का हमारे पास कोई आधार नहीं है कि हम आगे भी ऐसा भेद करते चले और मूल को एक वस्तु तथा वर्तमान स्मृति-प्रतिमा को दूसरी वस्तु समझते रहें। यदि हमारी समझ में यह बात आ जाए कि इस बाद वाले भेद का कोई आधार नहीं है, तो हम पाएंगे कि स्मृतिविषयक अनेक परपरागत समस्याएं अर्थात् स्मृति-प्रतिमा और उसके मूल के मध्य कल्पित अनुकरण-सबंध से उत्पन्न द्वैतवाद की सारी समस्याएं, लुप्त हो जाती है। यदि हम एक विलक्षण प्रकार की ऐसी वस्तुओं के होने की कल्पना करके चलते है जिनका वास्तव में कोई अस्तित्व

नहीं है, और उन्हें प्रतिमाएं कहते हैं, तो अवश्य ही हम अपने लिए ऐसी समस्याओं का संग्रह कर लेंगे जिनका हल असंभव है। परन्तु यदि हम समझ लें कि प्रतिमाएं अपनी मूल वस्तुओं से भिन्न वस्तुएं बिल्कुल भी नहीं हैं, तो उनके वस्तु होने पर जो समस्याएं आधारित थीं वे लुप्त हो जाती हैं।

इससे पहले कि प्रतिमाओं के बारे में जो सुझाव मैं देने जा रहा हूँ उसके आपातसत्य होने का कोई दावा किया जा सके, एक और बात कह देना आवश्यक है, और यह बात हमें ऊपर पृ० 63 के प्रश्न (ब) पर ले आती है। यद्यपि स्मृतिविषयक इस सिद्धांत के अनुसार मैं सदैव स्मरण करते समय मूल अनुभव की घटनाओं के सीधे संपर्क में रहता हूँ, तथापि हो सकता है कि जिस मूल घटना के स्मरण का मैं दावा करता हूँ ठीक उसी के संपर्क में मैं न रहूँ। यदि यह स्मरण करने में कि अम्पायर के टखने पर चोट लगी, मुझे यह याद आता है कि वह भूरे फलैनेल की पैंट पहने था जबकि वास्तव में ऐसा नहीं था, तो मैं दो भिन्न मूल चीजों को परस्पर उलझा रहा हूँ, जिनमें से एक मेरा अम्पायर है और दूसरा कोई और आदमी है जो उस अवसर पर या मेरे मन में उससे संबद्ध किसी अन्य अवसर पर भूरे फलैनेल की पैंट पहने था। संक्षेप में, यद्यपि स्मरण की सामग्री सदैव मूल अनुभव की वस्तुएं होती है, तथापि यह आवश्यक नहीं है कि वे वही वस्तुएं हों जिन्हें मैं समझता हूँ; और यही कारण है कि यदि हम पृष्ठ 63 के प्रश्न (अ) का 'हां' में उत्तर देते हैं, जैसा कि मेरी समझ में हमें देना भी चाहिए, तो इससे हम प्रश्न (ब) का 'हां' में उत्तर देने के लिए बँध नहीं जाते। असल में प्रश्न (ब) तब भी अनिर्णीत ही रहता है और उसका उत्तर हमें स्वतंत्र रूप से ढूँढना होगा।

5 क्या स्मरण करना सदैव जानना होता है ?

प्रश्न (ब) स्मृति-निर्णयों की सामग्री के बारे में न होकर उनकी वैधता के बारे में है। और 'स्मरण' के सबसे साधारण अर्थ को ध्यान में रखते हुए इसका निषेधात्मक उत्तर ही देना होगा। यह बिल्कुल सत्य है कि हम 'स्मरण' शब्द का अवश्य ही प्रायः इस तरह प्रयोग करते हैं जिससे हम क के कभी घटित न होने की दशा में 'मुझे क के घटित होने का स्मरण हो रहा है' वाक्य को सही नहीं कहेंगे। यह सिद्ध कर दिए जाने से पहले कि क कभी घटित ही नहीं हुआ, मैं कह सकता हूँ कि 'मुझे क के घटित होने का स्मरण हो रहा है,' और उसके बाद मुझे यह कहना चाहिए कि 'मैं शपथ के साथ कह देता कि मुझे क के घटित होने का स्मरण हो रहा

है, परंतु अब मैं मानता हूँ कि मैं अवश्य ही गलती पर था।" दूसरे शब्दों में, यह सिद्ध हो जाने के बाद कि एक विशेष स्मृति-निर्णय गलत है, हमारी प्रवृत्ति यह कहने की होती है कि उस अवस्था में वह स्मृति रही ही नहीं होगी, बल्कि स्मृति के बजाय कोई ऐसी चीज रही होगी जिसे हमने गलती से स्मृति समझ लिया था। इस अर्थ में हम 'स्मृति' शब्द का इस तरह प्रयोग कर रहे होते हैं जिससे स्मृति गलत हो ही नहीं सकती, जिससे गलत होने पर हम उसके लिए 'स्मृति' शब्द का प्रयोग ही बंद कर देंगे। परंतु इस अर्थ में प्रश्न (ब) बिल्कुल ही निस्सार और अरोचक बन जाता है, और उसका मतलब यह पूछना होगा कि "यदि 'मैं स्मरण करता हूँ' केवल उन अवसरों पर ही कहा जाता है जब मेरा स्मरण सही होता है, तो क्या स्मरण सदैव ज्ञान होता है?" यदि परिभाषा के अनुसार स्मरण गलत नहीं हो सकता और मैं जानता हूँ कि वह गलत नहीं हो सकता, तो स्मरण ज्ञान ही होगा— पर इसका कारण केवल यह होगा कि परिभाषा के अनुसार मैंने उसे तब तक स्मरण कहने से इन्कार कर दिया है जब तक वह सही न हो। लेकिन निश्चय ही इससे कुछ सिद्ध नहीं होता, अलावा शायद इस बात के कि दार्शनिक समस्याओं का इस तरह परिभाषाओं से निपटारा नहीं हो सकता।

इसके बावजूद यह उदाहरण एक महत्वपूर्ण बात को अवश्य सामने ले आता है, और वह बात यह है कि किसी आदमी के कथन, "मैं स्मरण करता हूँ कि. .", की सत्यता उसके यह जानने पर तो दूर कि उसकी स्मृति सही है, इस बात पर तक अनिवार्यतः निर्भर नहीं करती कि उसकी स्मृति सही है, बल्कि किसी और ही बात पर निर्भर करती है। हम "मैं स्मरण करता हूँ कि..." का प्रयोग न केवल "मैं जानता हूँ कि. .." की तरह करते हैं, अपितु "मैं विश्वास करता हूँ कि......" की तरह भी करते हैं। यह तो ठीक है कि एक आदमी के कथन, 'मैं जानता हूँ . .' की सत्यता इसके शेष भाग की सत्यता पर आश्रित होती है (क्योंकि हमें यह सहन नहीं है कि कोई ऐसी चीज जाने जो गलत है), पर यही बात "मैं विश्वास करता हूँ कि......" पर लागू नहीं होती। "मैं जानता हूँ कि वर्षा हो रही है" उस हालत में अवश्य गलत है जब वर्षा न हो रही हो, परन्तु "मैं विश्वास करता हूँ कि वर्षा हो रही है" का उस हालत में गलत होना आवश्यक नहीं है जब वर्षा न हो रही हो। "मैं विश्वास करता हूँ कि वर्षा हो रही है" की सत्यता के लिए यह सवाल अप्रासंगिक है कि वर्षा वास्तव में हो रही है या नहीं—प्रासंगिक केवल इतना है कि कहनेवाला ऐसा होना सोचता हो। इसी प्रकार हम केवल इस कारण किसी निर्णय को 'स्मृति-निर्णय' का नाम देने से इन्कार नहीं [illegible]

स्मृति हमारे साथ छल करती है, और ऐसा हम उस हालत मे न कहते जब हम यह सोचते कि सभी स्मृति-निर्णय आवश्यक रूप से सही होते हैं।

अतः प्रश्न (ब) का उत्तर द्विविध है। (i) यदि 'स्मरण' शब्द से हमारा अभिप्राय अवश्य ही 'सही स्मरण' का है (जैसा कि *कभी-कभी* हमारा होता है), तो उत्तर 'हां' मे है। परतु तब इस प्रश्न की रोचकता ही समाप्त हो जाती है और इसके बजाय रोचक प्रश्न यह उठता है कि "हम कैसे स्मृति को उसमे जो स्मृति की तरह लगती है पर स्मृति नही है—अर्थात् गलत स्मृति-निर्णय से, अलग पहचान सकते है ?"

(ii) यदि 'स्मरण' से हमारा अभिप्राय 'स्मृति-निर्णय' का है, तो उत्तर 'नहीं' मे है। सभव है कि यदि 'स्मरण' से हमारा अभिप्राय सदैव एक ही होता, दूसरा नही (इसका महत्व नही है कि कौन-सा), तो हमारी भाषा अधिक साफ-सुथरी होती। परतु इस तथ्य का हमे सामना करना ही होगा कि हमारा अभिप्राय दोनों का होता है, और कभी-कभी हमारे लिए यह कहना कठिन होता है कि दोनों मे से किससे हमारा मतलब है और किससे नही। (अनुषगत., दोनों ही विकल्पों में एक आदमी का यह *कहना* गलत हो सकता है कि 'मैं क का स्मरण करता हूँ', चाहे वह ईमानदारी के साथ यह विश्वास करता भी हो कि वह वाकई स्मरण करता है। अंतर तब होता है जब वह *सचाई के साथ* कहे कि 'मैं क का स्मरण करता हूँ': विकल्प (i) मे वह गलत नही हो सकता, विकल्प (ii) मे वह फिर भी गलत हो सकता है।)

6. क्या स्मरण कभी ज्ञान होता है ?

मैं 'स्मृति' का प्रयोग अर्थ (ii) मे करना अधिक पसद करता हूँ। यह अधिक व्यापक अर्थ है जिसमे सभी स्मृति-निर्णय, चाहे वे सही हो या गलत, आ जाते हैं। जैसा कि हम देख चुके है, इस अर्थ मे स्मरण सदैव ज्ञान नही होता, क्योंकि हमारा स्मरण बहुधा गलत होता है। इस अर्थ मे क्या स्मरण *कभी* ज्ञान होता है ? अतिसंशयवादी का झुकाव इसका निषेधात्मक उत्तर देने की ओर होता है। उसके निषेधात्मक उत्तर का आधार उदाहरणतः यह होगा कि भविष्य वैसा ही होगा जैसी हम उसकी कल्पना करते हैं, ऐसा मानने का हमारे पास जितना हेतु है उससे अधिक प्रबल हेतु हमारे पास यह मानने का नही है कि अतीत वैसा ही था जैसी हमे उसकी स्मृति होती है। मेरी समझ मे अतिसंशयवादी स्वयं को कुछ घपले में डाल देता है

और ऐसा कुछ मानता है कि किसी को किसी तरह का भी ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक वह *अनिवार्यतः* सत्य न हो, अर्थात् जब तक वह स्वतोव्याघात के बिना अन्यथा न हो। अब यदि वह इस प्रकार का प्रतिबंध ज्ञान पर लगाता है तो निश्चय ही किसी को भी यह ज्ञान नहीं हो सकता कि भविष्य अमुक प्रकार का होगा: यद्यपि यह सत्य है कि सूर्य कल पूर्व में उदय होगा, तथापि यह अनिवार्यतः सत्य नहीं है, ऐसा मानने में कि सूर्य अपने नियम में परिवर्तन करके कल पश्चिम में उदय होगा, कोई तार्किक व्याघात नहीं है, बल्कि यह एक परेशानी पैदा करने वाला आश्चर्य मात्र होगा (यानी यदि रात में पृथ्वी के दिशा-परिवर्तन के बाद हम जीवित रहे तो)।

अतः संशयवादी 'ज्ञान' को जिस अर्थ में लेता है उसे ध्यान में रखते हुए, 'सूर्य कल पूर्व में उदय होगा,' इसके वास्तव में सत्य होने के बावजूद (इसकी सत्यता का कल आपको पता चलेगा) इसे तार्किक दृष्टि से अनिवार्य सत्य नहीं कहा जा सकता और इसलिए यह ज्ञान नहीं हो सकता। तार्किक दृष्टि से यह संभव है कि सूर्य को कल पूर्व में उदय होने से रोकने के लिए आज रात अनेक अप्रत्याशित और परेशानी पैदा करनेवाली घटनाएं हो जाएँ। इसी प्रकार स्मृति का भी मामला है यद्यपि हमारी अतीत की स्मृतियाँ जिस तरह वे पाई जाती हैं उस तरह पूर्ण और व्यवस्थित रूप में परस्पर जुड़ी होती हैं और एक-दूसरी की पुष्टि करती हैं, तथापि तर्कतः यह संभव है कि हम सभी वही गलती कर रहे हों। तार्किक दृष्टि से यह संभव है कि हमारी सभी स्मृतियाँ भ्रामक हों। ऐसी दशा में इस बात को हम सौभाग्य की बात ही कहेंगे कि हममें से प्रत्येक के भ्रमों के समूह एक-दूसरे से मेल खाते हैं और हमें जीवित बने रहने में समर्थ बनाते हैं। आखिर यह भी संभव हो सकता था कि हमारे भ्रामक स्मृतियों के समूह बिल्कुल ही भिन्न हुए होते और फलतः मोटरों, फुफकारते सांडों तथा अन्य घातक वस्तुओं से हम जितनी दूर रहते हैं उससे कहीं कम दूर रहते।

यदि संशयवादी जो कहना चाहता है वह यही है—कि जो तर्कतः अनिवार्य है उसको छोड़कर अन्य कुछ भी ज्ञान नहीं है—और यदि जो वह कहना चाहता है वह सत्य है, तो निष्कर्ष अवश्य ही यह निकलता है कि स्मरण ज्ञान का एक प्रकार नहीं है, क्योंकि इस बात के बावजूद कि मेरे अनेक स्मृति-निर्णय वास्तव में सत्य हो सकते हैं, उनमें से कोई भी तर्कतः अनिवार्य नहीं है। और यदि स्मृति संशयवाद का शिकार बन जाती है तो जो साधारणतः ज्ञान के रूप में लिया जाता है उसमें से और भी बहुत

बूँदें पड़ती महसूस करता हूँ तब वर्षा के होने का मुझे ज्ञान नहीं होता; रेडियो पर राजकुमारी एलिजाबेथ की शादी की बात सुनकर और अखबारों में इसे पढ़कर मुझे एलिजाबेथ के विवाह का ज्ञान नहीं होता; एक आदमी को वैस्टमिन्स्टर ब्रिज से कूदते देखकर मुझे यह ज्ञान नहीं होता कि वह पानी में पहुँच जाएगा। संशयवादी के अनुसार इनमें से किसी भी बात का मुझे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इनमें से कोई भी तर्कतः अनिवार्य नहीं है : अपने चेहरे के ऊपर पानी महसूस करना तर्कतः इस बात से मेल खाता है कि वह बाग में पानी देने के किसी छिपे हुए हूज से या पेड़ों को सींचने के किसी अदृश्य बर्तन से डाला जा रहा है, तर्कतः यह संभव है कि राजवंश को परेशानी में डालने के उद्देश्य से बी० बी० सी० और अखबारों ने मिलकर षड्यंत्र करके कोई बड़ी गप्प हाँकी हो (या वे स्वयं ऐसी गप्प के शिकार हुए हों), यह भी तर्कतः संभव है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम काम करना बंद कर दे और गिरता हुआ आदमी पतली हवा में खो जाए या चिड़िया की तरह उड़ जाए। पाठक स्वयं ही सोच सकता है कि संशयवादी कितना कम ज्ञान हमारे पास छोड़ सकेगा; कम से कम स्मृति स्वयं को विशेष रूप से असुविधाग्रस्त स्थिति में नहीं पाएगी।

यह सब संशयवादी की इस आरंभिक आधारिका को स्वीकार करने का परिणाम है कि कुछ भी तब तक ज्ञात नहीं है जब तक वह तार्किक दृष्टि से अनिवार्य सत्य न हो। परंतु क्या हमारे पास कोई ऐसा हेतु है जो हमें इस आधारिका को स्वीकार करने के लिए, ज्ञान को ऐसे शिकंजे में जकड़ने के लिए, बाध्य करे? वह सही है कि अनिवार्य सत्य का ज्ञान नाम की कोई चीज होती है; परंतु संशयवादी के पास यह कहने का क्या हेतु है कि केवल इसी प्रकार का ज्ञान ज्ञान है? यदि हम चाहें तो यह कानून बना सकते हैं कि 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग केवल वहीं किया जा सकेगा जहाँ हमें किसी अनिवार्य सत्य की जानकारी होती है, परंतु तब हमें उन अवस्थाओं के लिए जिनमें हम अभी इस शब्द का प्रयोग करते हैं एक और शब्द को ढूँढने की तकलीफ करनी होगी। ऐसा करके हम यह सिद्ध नहीं करेंगे कि स्मृति ज्ञान का एक प्रकार नहीं है, केवल इतना ही हम निर्धारित करेंगे कि चूँकि स्मृति अनिवार्य सत्यों का बोध नहीं कराती (क्योंकि यह स्वीकृत है), इसलिए 'ज्ञान' शब्द को अनिवार्य सत्यों के लिए ही सीमित करनेवाली हमारी नई भाषाई परिपाटी के अनुसार 'ज्ञान' और 'जानना' शब्द स्मरण के वर्णन में प्रयोग के लिए भाषा की दृष्टि से असमीचीन शब्द हैं। इस प्रश्न का निर्णय कि क्या स्मरण कभी ज्ञान का एक प्रकार होता है, किसी भाषा-प्रयोग-विषयक आदेश से नहीं किया जाता है, बल्कि (अ) ज्ञान के विश्लेषण से (जिसमें निश्चय ही भाषा-संबंधी कथन शामिल

होंगे) तथा (ब) यह निश्चित करके करना है कि क्या स्मृति कभी उस विश्लेपण की शर्तों को पूरा करती है।

हम चाहते यह है कि जानने को न जानने से, जैसे विश्वास करने से, अलग पहचानने में हम समर्थ हो जाए और तब यह देख सके कि दोनों का अंतर स्मृति-निर्णयों को कैसे प्रभावित करता है। तब स्मृति-निर्णयों की समस्या विश्वास की वैधता की सामान्य समस्या तथा ज्ञान और विश्वास के अंतर की समस्या का एक विशिष्ट रूप मात्र है। हमें जरूरत है केवल उस अंतर की और उस अंतर को करने की एक कसौटी की।[1] वह ऐसी कसौटी नहीं होगी जिसे मैं सदैव सही उत्तर पाने के लिए सफलतापूर्वक अपनी स्मृतियों में लागू कर सकूँगा। यदि वह ऐसी कसौटी होती तो परिणाम यह होता कि मैं किसी स्मृति की स्थिति की जाँच करके सदैव यह बता सकता कि वह ज्ञान का एक रूप है या नहीं; और ऐसा, जैसा कि मैं जानता हूँ (यह भी स्मृति के द्वारा), मैं सदैव कर नहीं सकता। यदि मुझे इस बात का निश्चित उपाय करना है कि मैं स्मृति से जानने का कभी *गलत* दावा न करूँ, तो एकमात्र उपाय यह है कि मैं कभी स्मृति से जानने का दावा ही न करूँ, और इसकी जितनी कीमत चुकाने के लिए मैं तैयार हूँ या जितनी कीमत चुकाने के काबिल मैं किसी भी अन्य व्यक्ति को समझता हूँ उससे अधिक ही भारी यह कीमत होगी।

---

1. इसकी चर्चा अध्याय 7 में की गई है। इस बात की ओर संकेत करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए कि यद्यपि कोई स्मरण ज्ञान होता है तथापि अतीत-संबंधी सब ज्ञान स्मरण नहीं होता। मैं अतीत के बारे में, यहाँ तक कि *अपने* ही अतीत के बारे में भी, बहुत-सी ऐसी बातें जानता हूँ जिन्हें मैं स्मरण नहीं करता। क्या स्मृति ज्ञान है, इस प्रश्न के द्वारा यह नहीं पूछा जा रहा है कि जिसके स्मरण का मैं दावा करता हूँ वह मेरे साथ हुआ या नहीं, बल्कि यह पूछा जा रहा है कि उसके स्मरण का मेरा दावा सही है या नहीं।

चतुर्थ अध्याय

सामान्य

1 अनेकव्यापी शब्द

अपने जीवन को बनाए रखने और उसके सुधार के लिए, अपने हितों की वृद्धि के लिए, और बहुत प्रायः अन्यों के हितों में रुकावट डालने के लिए हमारे पास जितने भी साधन हैं उनमें सबसे अधिक प्रयुक्त भाषा है, और उसका इतना अधिक प्रयोग हम करते हैं कि सामान्यतः हम उसे एक मामूली बात समझ लेते हैं और उसके लक्षणों तथा उसकी कार्यक्षमता के बारे में कोई जिज्ञासा प्रकट ही नहीं करते। यदि हम स्वयं से यह प्रश्न भी पूछें कि उसका कार्य क्या है, तो उत्तर के बतौर हम सोचते हैं, और यह है भी बिल्कुल ठीक, कि उसका कार्य हमें अपने विचारों को एक से दूसरे तक पहुँचाने में मदद करना है। हमारा यह कहना सही नहीं होगा कि यही इनका एकमात्र कार्य है, क्योंकि ऐसी बात है नहीं, बल्कि यह कहना सही होगा कि वह इसके मुख्य कार्यों में से एक है। और जिस कुशलता के साथ वह इस कार्य को करती है वह बहुत अधिक उसकी अनेकव्यापिता पर निर्भर करती है। हम ऐसी वस्तुओं के बारे में बात करना चाहते हैं जो बात करते समय उपस्थित नहीं हैं, और हम वस्तुओं के समूहों या समुच्चयों के बारे में बात करना चाहते हैं। अभी और यहां अव्यवहित रूप में विद्यमान वस्तुओं से दूर की वस्तुओं के बारे में सोचना हमारे लिए केवल भाषा में अनेकव्यापी शब्दों की उपस्थिति से ही संभव है। वास्तव में, यदि हम व्यक्तिवाचक नामों (जैसे, जॉन ब्राउन और वाशिंगटन, डी० सी०) और संकेतवाचक शब्दों जैसे 'यह' और 'वह', को एक तरफ रख दें, तो शेष सभी शब्द अनेकव्यापी हैं।

व्यक्तिवाचक नाम भी ऊपर बताए गए अर्थ में कुछ अनेकव्यापिता रखते हैं,

क्योकि हम कह सकते है कि दुनिया मे जितने मॉन्टेग्यू पिंचिग्टन है उनसे कही अधिक जॉन ब्राउन है और कि वाशिंगटन नाम एक से अधिक स्थानो का है। इसी कारण जब हमारा सकेत सयुक्त राज्य, अमेरिका की राजधानी की ओर होना है तब हम वाशिंगटन के साथ डी० सी० भी जोड देते है, और फिर भी हमे इस बात के लिए गुंजायश रखनी होगी कि वाशिंगटन, डी० सी० एक से अधिक स्थानो का नाम हो सकता है। परन्तु अधिकतर शब्द एक विशेष व्यक्ति या एक विशेष स्थान के नाम प्रतीत तक नही होते। उनका महत्व और उनकी उपयोगिता है ही यह कि उनका प्रयोग वस्तुओं या क्रियाओ के एक पूरे विस्तार मे से किसी भी एक के लिए किया जा सकता है, जैसे 'मेज', 'घोडा', 'डेल्फिनियम', 'लिखना', 'नापसद करना', 'नीचे', 'अस्पष्टत' इत्यादि शब्दकोशो मे भरे हुए शब्द।

यदि कोई अजनबी, जिससे मैं किसी होटल मे बात करने लगता हूँ, होटल मे प्राप्त सुख-सुविधाओं के निम्न स्तर की शिकायत करता है और उदाहरण के बतौर कहता है कि "मेरे सोने के कमरे की आराम-कुर्सी का एक पैर गायब है", तो म पूरी तरह समझ जाता हूँ कि उसके कथन का क्या अर्थ है, भले ही मैंने उसकी कुर्सी न देखी हो और मैं यह न जानू कि उसका सोने का कमरा कौन-सा है। म उसका अभिप्राय इसलिए समझ जाता हूँ कि उसके कथन का प्रत्येक शब्द ('मेरे' को छोडकर जिसका यहाँ एक विशेष व्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है) अनेकव्यापी है 'आराम-कुर्सी' उस विशेष आराम-कुर्सी का नाम नही है जिसकी ओर उसका सकेत है, बल्कि कोई भी आराम-कुर्सी हो सकती है, 'गायब' वह जिस परिस्थिति-विशेष की शिकायत कर रहा है उसकी एक विशेष बात का नाम नही है बल्कि एक ऐसी विशेषता का नाम है जो उन सभी परिस्थितियो की एक समान विलक्षणता है जिनमे कोई चीज गायब रहती है, और यही बात वाक्य के अन्य शब्दो पर भी लागू होती है। फलतः जब तक मैं जानता हूँ कि आराम-कुर्सी क्या होती है, पैर क्या होता है, गायब होना क्या होता है, इत्यादि, तब तक मैं उसके कथन को समझता हूँ और मैं उसे उपयुक्त उत्तर दे सकूंगा।

यह शब्दो की अनेकव्यापिता का ही लाभ है कि हमे किसी वस्तु या स्थिति के बारे मे कही हुई बात को समझने और उसके बारे मे कुछ कहने से पहले उसका व्यक्तिगत अनुभव कर लेने की आवश्यकता नही पड़ती। यह लाभ तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब कथन एक सामान्य कथन होता है, जैसे 'बिजली का खर्चा कोयले के खर्चे पर आधारित होता है', "इस तरह का कारणमूलक कथन। यह कथन करते हुए मैं इस बारे मे कोई ऐतिहासिक कथन नही करता होता कि कैसे मेरे बिजली के

बिजलीघरों में काम करनेवाले श्रमिकों की मजदूरियों के साथ-साथ बढ़ गए हैं। मैं अपनी विशेष परिस्थिति के बारे में बिलकुल भी कोई बात नहीं कह रहा हूँ, हालांकि इस कथन के समय मेरे मन में इस तरह की अनेक बातें हो सकती हैं या विरोध किए जाने पर अपने कथन के समर्थन में मैं प्रमाण के बतौर उन बातों को कहने में समर्थ हो सकता हूँ। मेरा कथन स्वयं ही एक सामान्यीकरण है, जिसका अर्थ यह है कि जब भी कोयले की कीमत बढ़ती है तब बिजली की कीमत भी तदनुसार बदल जाती है। मेरा कथन कोयले की कीमतों में उतार-चढ़ाव होने के विगत मामलों मात्र की ओर नहीं है बल्कि भविष्य में होनेवाले ऐसे मामलों की ओर भी है। वास्तव में, यह वह है जिसे कभी-कभी 'विवृत' कथन कहा गया है, क्योंकि इसका संकेत किसी एक विशेष परिस्थिति या विशेष परिस्थितियों की एक संख्या की ओर न होकर *एक विशेष प्रकार की सभी* (या किसी भी) परिस्थितियों की ओर है। मेरे कथन को समझने और उसका परीक्षण करने के लिए (जैसे जल-विद्युत्-तंत्रों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करके) यह कदापि आवश्यक नहीं है कि आपने अपने जीवन में कभी बिजली का बिल चुकाया हो। यह भी शब्दों की अनेकव्यापिता का ही फ़ायदा है कि जब तक आप यह जानते हैं कि बिजली क्या है और कोयला क्या है (उस अर्थ में जिसमें इस पुस्तक को पढ़नेवाले अधिकतर व्यक्ति शायद जानेंगे कि वे क्या हैं), तथा यह कि कैसे एक चीज की कीमत किसी दूसरी चीज की कीमत पर आश्रित हो सकती है, तब तक आप मेरे कथन, 'बिजली की कीमतें कोयले की कीमतों पर आश्रित होती हैं' को समझ लेंगे।

2 क्या अनेकव्यापी शब्द सामान्यों के नाम हैं?

चिंतन के इतिहास में बहुत प्रारंभिक काल से दार्शनिकों ने शब्दों की अनेकव्यापिता को समस्याओं में ग्रस्त पाया है। यह समझ में आना काफ़ी आसान है कि एक व्यक्तिवाचक नाम किसका नाम होता है, अर्थात् वह उस व्यक्ति-विशेष या स्थान-विशेष का नाम होता है जिसे उस नाम से पुकारा जाता है। परंतु एक अनेकव्यापी शब्द, जैसे 'मेज' या 'शायद,' किसका नाम होता है? यह सच है कि दार्शनिकों ने इस समस्या को सदैव भाषा के दृष्टिकोण से नहीं देखा, हालांकि प्रायः उन्होंने ऐसा किया है। किसी निर्दिष्ट भाषा के शब्दों को तो छोड़िए, अनुभव स्वयं हमें पिछले अनुभवों की हूबहू या निकटतम आवृत्तियों के अनेक उदाहरण प्रदान करता है: एक आदमी अपने जीवन के दौरान में अनेक मेज देखता है और उन्हें मेज के रूप में पहचानता है। उनमें से प्रत्येक इस अर्थ में विशेष होती है कि वह उसे एक विशिष्ट

काल और स्थान में देखना है, और इस अर्थ में प्रत्येक मेज प्रत्येक अन्य मेज से भिन्न होती है। वे प्रकारतः भी भिन्न हो सकती है, क्योंकि उनकी शक्लें, रंग या टांगों की संख्याएँ भिन्न हो सकती है। परन्तु अनिवार्यतः पाए जानेवाले संख्यात्मक अन्तरों और उन प्रकारात्मक अन्तरों के बावजूद जो उनमें हो सकते है, उन सब में एक ऐसा आकार या ढाचा समान होता है जिससे वे सब मेज है।

जब हम दुनिया को परंपरागत तत्वमीमांसीय तस्वीर के अनुसार इस प्रकार की पाते है जिसमे अलग-अलग द्रव्य है और प्रत्येक अपने गुणो से विशिष्ट है, और दोनो मे तात्विक अन्तर यह है कि द्रव्य तो किसी एक काल मे केवल एक स्थान से संबंध रखनेवाला एक विशेष होता है, जबकि गुण एक ही काल मे विभिन्न स्थानों से संबंध रख सकता है, बशर्ते उस समय उन स्थानों मे से प्रत्येक मे उसके द्वारा विशिष्ट द्रव्य विद्यमान हो। जो विशेष मेज इस समय मेरे खाने के कमरे मे है वह इसी समय किसी अन्य स्थान मे भी न है और न हो सकती है, परन्तु मेज होने का गुण यानी मेजत्व एक ही समय मेरे भोजन के कमरे की चीज मे भी है, मेरी रसोई की अन्य दो मेजों मे भी है, मेरे सोने के कमरे की मेज मे भी है और वास्तव मे उस समय कही भी अस्तित्व रखनेवाली इस तरह की सभी चीजों मे है। किसी द्रव्य और उसके गुणों का अन्तर पारंपरिक रूप से विशेषो और सामान्यो के अन्तर के रूप मे जाना गया है। पिछले लगभग पच्चीस सौ वर्षों से दार्शनिक पूछते रहे है कि सामान्य क्या है। जो वे जानना चाहते है वह यह नही है कि सामान्यों के दृष्टान्त क्या है, बल्कि यह है कि सामान्य की परिभाषा क्या है, अर्थात् सामान्य किस प्रकार की चीज होता है। इसको एक भाषा-संबंधी प्रश्न का रूप देकर प्रश्न यह बनेगा कि यदि एक अनेकव्यापी शब्द किसी चीज का नाम है तो वह कौन-सी चीज है?

अब, सामान्यों की समस्या की चर्चा करते समय हमारे सामने फौरन ही पहली कठिनाई यह आती है कि हम अनेक शब्दों या परस्पर संबंधित तकनीकी शब्दों के जोड़ो का प्रयोग करते है जो एक-दूसरे की परिभाषाओं मे बैठ जाने की प्रवृत्ति रखते है। उदाहरण के लिए, अनेकव्यापी शब्द क्या है? उत्तर, अनेकव्यापी शब्द (जैसे 'मेज', 'बंदर', 'विनीत' इत्यादि) एक ऐसा शब्द है जो किसी विशेष का नही बल्कि विशेषों के किसी लक्षण या गुण का अर्थात् एक सामान्य का बोध कराता है। सामान्य क्या है? उत्तर 1, सामान्य वह है जिसका बोध एक अनेकव्यापी शब्द के द्वारा होता है, जैसे 'मेज', 'बंदर', 'विनीत' इत्यादि के द्वारा। उत्तर 2, सामान्य वह है जो विशेषो को विशेषित करता है, पर उनसे भिन्न होता है। विशेष क्या है? उत्तर, विशेष वह है जिसका अस्तित्व एक निश्चित तिथि मे, या एक निश्चित समय

और स्थान में होता है। परन्तु यह कहने का क्या अर्थ है कि एक निश्चित तिथि और स्थान में अस्तित्व रखनेवाली चीज विशेष है? यह अर्थ नहीं है कि वह किसी अन्य निश्चित काल और स्थान के बजाय अपने ही निश्चित काल और स्थान में अस्तित्व रखती है, क्योंकि यदि वह अन्य काल और स्थान में अस्तित्व रखती तो भी विशेष ही होती। तो फिर किसी चीज को विशेष कहने का अर्थ यह हुआ कि वह एक या दूसरे निश्चित काल और स्थान में अस्तित्व रखती है। परन्तु ऐसी कौन-सी चीज है जो एक या दूसरे, निश्चित स्थान और काल में अस्तित्व न रखे? उत्तर, सामान्य।

इस तरह की चक्रकताओं से बचने की कठिनाई को देखते हुए कुछ दार्शनिकों ने पिछले दो हजार वर्षों के बाद भी सामान्यों की समस्या का संतोषप्रद हल न निकल पाने का कारण यह बताया है कि असल में ऐसी कोई समस्या है ही नहीं जिसे हल करना हो। उनका मत है कि यह सारा विषय एक दार्शनिक घपला है जिसके बारे में केवल यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि वह एक घपला है जिसे हटा देना है अर्थात्, संक्षेप में, भूत को मारने का सर्वोत्तम तरीका यह है उसके पीछे दौड़ना बंद कर दिया जाए। पर चूँकि मैं इस बात से सन्तुष्ट नहीं हूँ कि यह समस्या एक दार्शनिक घपला मात्र है, और चूँकि ज्ञानमीमांसा के अन्य प्रश्नों को समझने के लिए इन तथाकथित घपले को थोड़ा समझ लेना हर हालत में आवश्यक है, इसलिए मैं संक्षेप में इसकी चर्चा कर लेना चाहता हूँ।

पहले मैं सामान्य के एक कामचलाऊ वर्णन के रूप में यह कहूँगा कि सामान्य वह है जो हमारे द्वारा साधारणतः एक ही नाम से पुकारी जानेवाली सब वस्तुओं में समान होता है, जैसे वह जो साधारणतः 'मेज' कहलानेवाली सभी वस्तुओं में समान है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यह सामान्य की *परिभाषा* नहीं बताई गई है। एक परिभाषा के रूप में इसे एतद्विषयक इतिहास के कम से कम दो बड़े प्रश्नों को सिद्ध मान लिए बिना शायद ही स्वीकार किया जाएगा: पहला प्रश्न यह है कि क्या ऐसी वस्तुओं के समूह में समान रूप से पाया जानेवाला ऐसा सामान्य भी हो सकता है जिसका कोई समान नाम न हो? दूसरा यह है कि क्या ऐसा सामान्य हो सकता है जिसका कोई उदाहरण न हो? यदि हमने जो कहा है उसे परिभाषा के रूप में लिया जाए, तो दोनों ही प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' में होगा। परंतु आपाततः पहले प्रश्न का ऐसा उत्तर नितांत गलत लगता है, और यद्यपि दूसरे प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर देने के बारे में अधिक असहमति रही है तथापि असहमति तो रही ही है। अतः यहाँ सामान्य की ऐसी परिभाषा देना शायद ही सही होगा जिससे यह असहमति असंभव हो जाए।

मेरी समझ में सभी दार्शनिक यह स्वीकार करेंगे कि कोई ऐसी चीज अवश्य होती है जिसपर ऊपर का वर्णन लागू होता है, और इसलिए यह कि इस अर्थ में सामान्य होते है। इस बात से सहमत होने में कि सामान्य होते है, दार्शनिक को केवल दो बातों से बँध जाना होता है: एक यह कि प्रत्येक अलग वस्तु के लिए एक व्यक्तिवाचक नाम ईजाद करने के बजाय हम अवश्य ही अनेकव्यापी शब्दों का प्रयोग करते है, और दूसरी यह कि एक ही अनेकव्यापी शब्द के द्वारा निर्दिष्ट सब वस्तुओं में कोई-न-कोई समान बात अवश्य होती है। असहमति इसके आगे के चरण में होती है जिसमें हम पूछते है कि विशेषों के एक समूह में समान क्या है, अथवा 'विशेषों के एक समूह मे समान बात' कहने का क्या अर्थ है। सामान्यों की समस्या इन्ही प्रश्नों का उत्तर ढूँढने की समस्या है।

3 सामान्यो के बारे में वस्तुवादी सिद्धांत

इसके बावजूद कि 'विशेषों के एक समूह में समान बात क्या होती है', इस प्रश्न को लेकर प्लेटो और अरस्तू के बीच गंभीर मतभेद था, कुछ बातों में अवश्य ही दोनों एकमत थे, और दोनों को वस्तुवादी कहा जा सकता है। प्लेटो के अनुसार सामान्य द्रव्यकल्प होता है, यानी ऐसी वस्तु है जो न केवल अपने अस्तित्व के लिए मन पर आश्रित नहीं होती, अपितु जो विशेषों की भी अपेक्षा नहीं रखती। वह हमें ज्ञात दिक् और काल में अस्तित्व रखनेवाले जगत् से बिल्कुल अलग अकालिक और अदैशिक जगत् में रहता है, और फलत यद्यपि पहले जगत् में विशेषों का अस्तित्व तर्कत अवश्य ही दूसरे जगत् में सामान्यों के अस्तित्व पर आश्रित होता है, तथापि इसका उल्टा सही नहीं है। यदि और कोई मेज, बनाए जाने की बात तो दूर रही, कभी किसी के विचार तक का विषय न बने, तो भी मेज-सामान्य का अस्तित्व बना रहेगा। अत एक ही नाम से पुकारे जानेवाले विशेषों के समूह में समान बात यह है कि उनमें से प्रत्येक एक ही द्रव्यकल्प वस्तु अर्थात् सामान्य के साथ एक निश्चित (और अभिन्न) संबंध के द्वारा जुड़ा होता है। इस संबंध का ठीक-ठीक स्वरूप क्या है, यह प्लेटो कभी समझा ही न सका और जो कुछ उसने बताया उससे स्वयं तक संतुष्ट न हो सका।

दूसरी ओर, अरस्तू न केवल प्लेटो-द्वारा कल्पित द्रव्यकल्प सामान्यों के रहस्यमय जगत् को स्वीकार नहीं कर सका, अपितु उसने उसे बिल्कुल अनावश्यक भी पाया। उसकी दृष्टि में सामान्य द्रव्यकल्प कतई नहीं है, बल्कि एक लक्षण या

गुणधर्म है। अर्थात् सामान्य तत्वत ऐसी चीज है जो विशेषों में रहती है और तर्कत. उनके ऊपर उतना ही आश्रित है जितने वे उसके ऊपर आश्रित है। जैसे ऐसी चीजों के अभाव में जो प्रत्येक मेज होने के लक्षण से युक्त हो, मेजों का अस्तित्व नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही वास्तविक या कल्पित मेजों के अभाव में इस लक्षण का अस्तित्व नहीं हो सकता।

इन दोनों सिद्धान्तो का अन्तर कोई यह बता सकता है कि प्लेटो के सामान्यों के लिए संज्ञा-शब्दों का प्रयोग उपयुक्त है और अरस्तू के सामान्यों के लिए विशेषणों का प्रयोग। ऐसा पूरी बात में बहुत कम होगा, परन्तु हमारे मतलब के लिए पर्याप्त होगा। अब, यद्यपि दोनों का इस बारे मे मतभेद है कि सामान्य एक स्वतन्त्र द्रव्य है या एक परतन्त्र गुणधर्म, तथापि वस्तुवादी होने में वे एकमत है, अर्थात् दोनों ही यह मानते है कि सामान्य जो भी है, मानवीय या अमानवीय बुद्धि के अस्तित्व और स्वरूप से बिल्कुल स्वतन्त्र है। यदि बुद्धि का अस्तित्व न होता, तो सामान्यों का ज्ञान असम्भव होता, परन्तु ऐसा कहना यह कहने से बहुत भिन्न है कि यदि बुद्धि न होती तो जानने के लिए सामान्यों का अस्तित्व ही न होता। प्लेटो और अरस्तू इन दो हेतुफलात्मक प्रतिज्ञप्तियों में से पहली को स्वीकार करने और दूसरी को अस्वीकार करने में सहमत हुए होते।

कुछ महत्त्व की दो और बातों पर भी वे सहमत है - पहली यह कि अनेकव्यापी शब्द यथार्थत एक व्यक्तिवाचक नाम होता है, और दूसरी यह कि सामान्य का बोध किसी प्रकार की बौद्धिक अंत प्रज्ञा होता है अथवा उसमें वह शामिल होती है। (यह कहने मे कि वे इन दो बातों पर सहमत है, मेरा अभिप्राय यह है कि अपने सिद्धांतो की वजह से वे इन बातों को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। यह अभिप्राय नहीं है कि उन्होंने किसी समय स्पष्ट रूप से इन्हें मानने की बात कही थी।) अनेकव्यापी शब्द व्यक्तिवाचक नाम इसलिए होगा कि वह एक और केवल एक ही वस्तु का नाम होता है और उस वस्तु के साथ उसका वही संबंध होता है जो किसी व्यक्ति के स्वकीय नाम का उस व्यक्ति के साथ होता है। हमने पहले कहा था कि 'मेज' शब्द 'वॉशिंग्टन' नाम के असमान है क्योंकि पहला किसी विशेष दिक् और काल में स्थित वस्तु का नाम नहीं है जबकि दूसरा ऐसा नाम है। परन्तु प्लेटो के सिद्धांत के अनुसार 'मेज' शब्द किसी विशेष दिक् और काल में स्थित वस्तु का नाम न होकर भी उस अकेली अदेशिक और अकालिक वस्तु का नाम है जिससे संबंध होने के कारण ही सब मेज मेज है। और अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार 'मेज' न किसी विशेष दिक्कालिक वस्तु का और न किसी प्लैटोनी वस्तु का नाम होगा, बल्कि

सभी मेजों में समान एक अकेली विशेषता का नाम होगा। अत दोनों की दृष्टि में 'मेज' एक व्यक्तिवाचक, निजी और वैयक्तिक नाम है, हालांकि एक के लिए एक द्रव्य का नाम है और दूसरे के लिए एक गुणधर्म का।

जैसा कि कहा जा चुका है, दोनों ही इस बात पर भी सहमत हैं कि सामान्यों का बोध एक बौद्धिक अत प्रज्ञा होना है या उसमें वह शामिल रहती है। प्लेटो ऐसा इसलिए मानता है कि मेज-सामान्य के बोध में मेरा परिचय एक ऐसे जगत् में सबंध रखनेवाली किसी वस्तु से होता है, जो मेरे इंद्रियगम्य जगत् से सर्वथा भिन्न है। और अरस्तू ऐसा इसलिए मानता है कि यद्यपि अपनी इंद्रियों की सहायता से मैं इस मेज का, उस मेज का, और अन्य मेज का प्रत्यक्ष करता हूँ, तथापि उनको मेज के रूप में देखने में (जो कि प्रत्यक्ष का अंग ही है) मैं इंद्रियों पर पड़नेवाले संस्कारों को स्वीकार या ग्रहण करने के अलावा कुछ और भी कर रहा होता हूँ, मैं इन वस्तुओं में से प्रत्येक में पाई जानेवाली समान और विलक्षण विशेषता को जान रहा होता हूँ और यह जानना बौद्धिक अंतर्दृष्टि का मेज-सामान्य से परिचित होने का काम होता है।

4) प्लेटो की आलोचनाएं

इन दोनों सिद्धांतों में अच्छाइयां और बुराइयां क्या हैं? प्लेटो का सिद्धांत शुरू से ही अनेक आलोचनाओं का विषय बना। स्वयं प्लेटो ने भी इसकी आलोचना की और अरस्तू ने भी। यहां उनके विस्तार में जाना अनावश्यक है। उनमें से अधिकतर विशेषों के जगत् और सामान्यों के जगत् के सम्बन्ध को लेकर की गई है, जैसे इस बात को लेकर कि किसी एक निर्दिष्ट मेज और मेज-सामान्य के बीच ठीक क्या संबंध है या क्या सम्बन्ध हो सकता है? इस विशेष कठिनाई के अलावा आम कठिनाइयां (अ) इस सिद्धांत की बोधगम्यता और (ब) इसके समर्थक प्रमाणों को लेकर उठती हैं। यह हमें वस्तुओं के एक ऐसे जगत् के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए कहता है जो हमारे सुपरिचित दिक्कालमय जगत् से सर्वथा भिन्न है। ऐसे जगत् की कल्पना करना तब काफी आसान है जब हमें उसके बारे में यह सोचने की अनुमति हो कि वह हमारे देश के सागर के पार के किसी बाहरी देश की तरह है या जिस ग्रह में हम रहते हैं अथवा जिस सौर परिवार के अंदर हमारी पृथ्वी परिभ्रमण करती है उसके बाहर कहीं अवस्थित जगत् की तरह है। मेरी समझ में जब हमारा प्लेटो के सिद्धांत से पहले-पहल परिचय होता है, हम उसके बारे में चर्चा क-

को कहा जाता है, तब हममें से अधिकतर इसी तरीके से उसे अपने दिमाग में बैठाने की कोशिश करते हैं और उस जगत् को अपने सुपरिचित जगत् के कुछ-कुछ समान पर साथ ही उससे बहुत भिन्न भी सोचते हैं। परन्तु निस्संदेह ऐसा सोचना एकदम अनुचित है। द्रव्यकल्प वस्तुओं का यह जगत् अस्तित्व रखता है और हमारे जगत् से सर्वथा भिन्न है। पर यह कहने से हमारा क्या अभिप्राय है कि वह अस्तित्व रखता है या कि वह हमारे जगत् से भिन्न है? यह कहने से कि वह अस्तित्व रखता है, हमारा मतलब उससे बिल्कुल भिन्न होना चाहिए जो हमारा किसी और चीज के बारे में यह कहने से होता है कि वह अस्तित्व रखती है। परन्तु यदि 'अस्तित्व रखना' का एकमात्र अर्थ जो हम समझते हैं वही है जो हमारा इसका प्रयोग अपने जगत् में अस्तित्व रखनेवाली किसी वस्तु के लिए करने में होता है, तो हम दूसरा अर्थ कैसे बताएं? यदि हम शब्दों का वास्तविक अर्थों में प्रयोग करने पर जोर दें (जैसा कि हमें करना भी चाहिए), न कि मनमाने काल्पनिक अर्थों में, तो क्या 'कालनिरपेक्ष वस्तु' का कोई अर्थ बताया जा सकता है?[1] कालनिरपेक्ष वस्तु क्या होगी, यह समझना मेरी सामर्थ्य के बाहर तो है ही, पर साथ ही मैं यह भी पाता हूँ कि दोनों शब्दों के अर्थों का अलग-अलग मैं चाहे जितना विस्तार करूं और उनको जितना तोड़-मरोड़ूं, स्वतोव्याघात के बिना दोनों को जोड़कर मैं कोई बात निकाल ही नहीं सकता। इसके बावजूद प्लेटो के सिद्धांत के समर्थक अब भी हैं। काश कि मैं उनकी बात को समझ पाता!

कठिनाई (ब) यह सवाल पूछकर उठाई जा सकती है कि ऐसे सिद्धांत को स्वीकार करने का क्या हेतु दिया जा सकता है? सीधा प्रमाण कोई दिया ही नहीं गया है या दिया ही नहीं जा सकता। अर्थात् इस रूप में कोई प्रमाण नहीं है कि एक सामान्य को निरीक्षण के लिए सामने रखा जा सके और यह दिखाया जा सके कि वह ठीक उसी प्रकार की वस्तु है जैसा वह इस सिद्धांत में माना गया है। सामान्यतः जब मैं कहता हूँ कि एक वस्तु अमुक प्रकार की है और मुझे यह सिद्ध करने के लिए पूछा जाता है कि वह उस प्रकार की है, तब यदि मैं उसे पा सकता हूँ तो मैं उसे सामने कर देता हूँ और संदेह करनेवाले को इस तरह दिखाता हूँ

1. स्वयं प्लेटो ने, मेरी समझ से, कहीं भी ऐसी यूनानी शब्दावली का प्रयोग नहीं किया है जिसका अनुवाद 'कालनिरपेक्ष वस्तु' हो, और इसलिए यह कहा जा सकता है कि यह आलोचना उस पर लागू नहीं होती। परन्तु उसने निश्चित रूप से सामान्यों को वस्तुएं और शाश्वत माना था। यदि 'शाश्वत' से उसका मतलब 'सदा रहनेवाला' था तो उसका सिद्धांत कम से कम स्वतोव्याघात के आरोप से बच जाता है।

जिससे उसकी विशेषता उसके आगे प्रकट हो जाए। उदाहरण के लिए, मैं एक पकाए हुए टर्की को निरीक्षण के लिए सामने लाकर यह सिद्ध करता हूँ कि टर्की का पकाया हुआ मास सफेद होता है, मैं एक परदे के कपड़े के पीछे रोशनी जलाकर और कपड़े में से उसे देखकर उसे अपारदर्शी बतानेवाले दुकानदार को यह दिखा देता हूँ कि वह अपारदर्शी नहीं है, इत्यादि। परन्तु यह सिद्ध करने के लिए कि सामान्य उस तरह की कालनिरपेक्ष वस्तुएँ हैं जैसी प्लेटो के सिद्धात में उन्हे बताया गया है, ऐसा कोई तरीका उपलब्ध नहीं है, और, जहाँ तक मुझे जानकारी है, न उसके उपलब्ध होने का दावा कभी किया गया है। इस सिद्धात के पक्ष में एकमात्र प्रमाण अनुभवालबपरक युक्ति से प्राप्त होगा, जो इस रूप में होती है कि यद्यपि सीधे हम यह नहीं जान सकते कि ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व है (जिस तरह हम सीधे यह जान सकते हैं कि टर्की का गोश्त सफेद होता है), तथापि परोक्ष रूप में हम जानते है कि ऐसी वस्तुओं का अस्तित्व अवश्य होना चाहिए, क्योंकि अन्यथा हमारा अनुभव जैसा होता है वैसा न होता। इस प्रकार की युक्तियाँ, जिनका कान्ट ने अधिक प्रयोग किया था, सदैव संदेह की दृष्टि से देखी जानी चाहिए, क्योंकि किसी समस्या का हल गढ़ना और इसके बावजूद स्वय को और अन्यों को यह आश्वस्त करना कि वह गढ़ा नहीं गया है बल्कि खोजा गया है, बहुत ही सरल होता है।

प्लेटो के सिद्धात के समर्थकों का इस आरोप से सामना होता है कि वह किसी निश्चित प्रमाण के बल पर आश्रित सिद्धात कतई नहीं है, बल्कि एक कहानी के रिक्त स्थान को भरने के लिए गढ़ी हुई सुसपादित कल्पना है, और मैं नहीं जानता कि उनका उत्तर क्या होगा। निश्चय ही, जगत् का हमारा अनुभव और भाषा का हमारा प्रयोग यह प्रदर्शित करते हैं कि किसी न किसी अर्थ में सामान्य आवश्यक है। परन्तु क्या इससे हमें यह मानने का कोई हेतु प्राप्त होता है कि हमारा शाश्वत वस्तुओं के एक रहस्यमय जगत् से निरतर आदान-प्रदान होता रहता है? मेरी समझ से इससे हमें केवल तभी ऐसा हेतु प्राप्त हो सकता है जब यह पहले, और स्वतत्र रूप से, यह प्रदर्शित कर दे कि सामान्यों की सब अन्य व्याख्याएँ गलत हैं। लाघव की तथा सिद्धात को कल्पना से अलग रखने की चाह हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में बहुत सतर्क रखेगी कि सामान्यविषयक **सभी** अन्य सिद्धात गलत है।

प्लेटो के सिद्धात के पक्ष में एक बहुत ही वजनदार बात यह लगती है कि उससे सामान्यों का उदाहरणों के बिना भी होना सभव होता है, और यह मानना ही होगा कि वह अवश्य ही ऐसा सभव करता है। प्लेटो का विश्वास था कि न केवल ऐसे सामान्य हो सकते हैं बल्कि होते भी हैं, और कि ऐसे सामान्यों को हम जानते

है, जैसे विशेषत गणित और नीतिशास्त्र के सामान्य। हम जानते है कि यूक्लिडी त्रिभुज क्या होता है, दो आकृतियों का क्षेत्रफल मे समान होना क्या होता है, एक पूर्णत: न्यायोचित कर्म क्या होता है, और इसके बावजूद हमारा कभी भी इनके किसी उदाहरण से सामना नहीं हुआ। कागज या श्याम पट पर खींचे गए किसी भी त्रिभुज की रेखाए, चाहे कितनी ही सावधानी से खींची जाए, पूर्णत: सीधी कभी नहीं होती और काफी सूक्ष्म माप से यह सिद्ध किया जा सकता है। उसके कोणों का योग भी 180° से कुछ अधिक या कम दिखाया जा सकता है। दो क्षेत्रफलों की समानता सदैव निकटतम होती है, किसी न किसी मात्रा मे त्रुटि उसमें रह ही जाती है। और यद्यपि हम कहते है कि जो कर्म किया गया है वह न्यायोचित (अच्छा या शुभ) था, तथापि हम उससे कुछ अधिक अच्छे कर्म की सदैव कल्पना कर सकते है।

अत ये तीन तरह के सामान्य ऐसे होते है जिनके उदाहरण नहीं दिखाई देते, फिर भी जिनसे हम पूर्णत परिचित होते है। ऐसे सामान्यों के होने की बात प्लेटो के सिद्धान्त के लिए कोई कठिनाई पैदा नहीं करती, क्योकि उसके अनुसार अपने जगत् मे सामान्यों का अस्तित्व *अपने* जगत् मे विशेषो के अस्तित्व से तर्कत: स्वतत्र है। और ऐसे सामान्यों का हमे ज्ञान कैसे होता है, यह समझाने के लिए प्लेटो ने एक पुराण ही रच डाला है, जिसके अनुसार वर्तमान जीवन मे हमारा अनुभव मे सीखना असल मे पिछले जीवन की अपनी जानकारी को स्मरण करना है, और कुछ उद्दीपनों के अनुभव मे आने से, जैसे कागज पर खींची हुई मोटे तौर से त्रिभुज-जैसी आकृतियों को देखने से, हमे वह बात याद आ जाती है जिसको हम कभी जानते थे पर अब से पहले भूल चुके थे, और वह है त्रिभुज-सामान्य। यही बात समानता, न्याय और किसी भी अन्य सामान्य पर लागू होती है,[1] जिसके प्रतीयमान उदाहरण केवल प्रतीयमान ही होते है, अर्थात् निकटतम उदाहरण ही होते है।

क्या ऐसे सामान्य हमे चाहिए जिनके उदाहरण न हो ? और उनका बोध हमे कैसे हो सकता है ? ये ऐसे प्रश्न है जिनपर विचार अभी स्थगित रखना होगा। इनका उल्लेख यहा इसलिए किया गया है कि प्लेटो का सामान्यविषयक आम मत इनकी आवश्यकता मे विश्वास से बहुत प्रभावित लगता है।

---

1. वास्तव में, प्लेटो की एक विचारधारा के अनुसार सभी सामान्यों पर यही बात लागू होती है, क्योंकि किसी भी सामान्य के उदाहरण निकटतम से अधिक अच्छे नहीं होते।

5. अरस्तू की आलोचनाएं

अरस्तू के इस सिद्धांत का कि सामान्य अनेक उदाहरणों में समान रूप में पाया जानेवाला एक सरल या जटिल गुणधर्म है, सब मिलाकर दार्शनिकों पर कहीं अधिक प्रभाव रहा है, और मेरी समझ से इसका कारण यह है कि यह बहुत अधिक एक सामान्य-बुद्धि का सिद्धांत लगता है। इसे मानने के लिए हमें ऐसी वस्तुओं के अस्तित्व की कल्पना नहीं करनी पड़ती जिनकी पुष्टि साक्षात् प्रमाण से न होती हो, और यह मानता है कि *सामान्यों के बारे में रोजाना के अनुभव के जगत् की भाषा* में बताया जा सकता है। ऐसे दार्शनिक अधिक नहीं हैं जो किसी न किसी समय इस सिद्धांत की ओर आकर्षित न हुए हों, क्योंकि यह अरस्तू ने जो कुछ कहा है उसके अधिकतर अंश की तरह, अत्यधिक युक्तिसंगत लगता है।[1] इसके बावजूद मुझे संदेह है कि इसे मौजूदा रूप में स्वीकार किया जा सकता हो, और इसके दो मुख्य कारण हैं।

इसमें जो दो कठिनाइयां हैं उनमें से पहली, प्लेटो के सिद्धांत की एक कठिनाई की तरह, इस सिद्धांत की बोधगम्यता के संबंध में है। वह हमें यह मानने के लिए कहता है कि बहुत-से उदाहरणों में कोई चीज समान होती है, कि यह चीज एक लक्षण या गुणधर्म है, और इसी को हमें सामान्य कहना है। यदि हम पहली दो बातों को मान सकें तो तीसरी बात के विरुद्ध हमारी कोई युक्तियुक्त आपत्ति नहीं होगी। पर क्या हम उन्हें मान सकते हैं? 'बहुत से उदाहरणों में समान लक्षण' से *क्या मतलब है? एक अर्थ में इस सवाल का जवाब देने में बिल्कुल भी कोई दिक्कत* नहीं है। ऐसी परिस्थितियां आसानी से पाई, बनाई या कल्पित की जा सकती हैं जिनमें हम सामान्यतः कहेंगे कि एक अकेला लक्षण बहुत-से उदाहरणों में समान है, जैसे तब जब हम कहते हैं कि परिवार की विशिष्ट नाक कई भाइयों के चेहरों में है या कई पीढ़ियों में चली आई है, अथवा तब जब हम कहते हैं कि सेव की दो किस्में यद्यपि लगभग प्रत्येक बात में भिन्न हैं तथापि एक लक्षण उनमें समान यह है कि दोनों काफी समय तक ताजी बनी रहती हैं। कहने का मतलब यह है कि 'बहुत-से

---

1 अभी हाल में इसका समर्थन प्रो० एच० एच० प्राइस ने अपने व्याख्यान 'थिंकिंग ऐंड रिप्रेजेन्टेशन' (प्रोसीडिंग्स ऑफ दि ब्रिटिश अकेडेमी, 1946) में किया है। वे इसके शायद नवीनतम समर्थक हैं, पर उन्होंने इसके समर्थन के बजाय इसके विरोधी सिद्धांतों का खंडन अधिक किया है।

उदाहरणों में समान लक्षण' जैसे वाक्यांश का एक अर्थ में प्रयोग सर्वमान्य है, और मोटे तौर से हम ऐसे मामलों को पहचान सकते हैं जिनमें यह लागू हो सके।

परन्तु यह प्रयोग और यह पहचान इस मामले में वे आधारभूत तथ्य हैं जिनकी व्याख्या देने का प्रयत्न सामान्यविषयक किसी भी सिद्धांत को करना पड़ेगा। यदि अरस्तू के सिद्धांत को सही होना है, तो ऐसा इसलिए नहीं कि वह हमें 'बहुत-से उदाहरणों का समान लक्षण' वाक्यांश के प्रयोग की और जिन मामलों में यह लागू होता है उन्हें पहचानने की इजाजत देता है, क्योंकि इसमें उसका किसी अन्य सिद्धांत से कोई भेद नहीं रहेगा, बल्कि इसलिए है कि वह किसी लक्षण का अनेक उदाहरणों में समान होना क्या होता है, इस बात की एक संतोषप्रद व्याख्या प्रदान करता है। जब वह यह कदम उठाना चाहता है, जो कि किसी भी अन्य सामान्यविषयक सिद्धांत से इसे पृथक् करनेवाला कदम है, तभी मैं यह समझने में असमर्थ रहता हूँ कि वह कह क्या रहा है। किसी चीज के अनेक अन्य चीजों में समान होने अथवा उसमें उनके सहभागी होने के प्रत्यय को विभिन्न तरीकों से समझा जा सकता है, परन्तु यहां कोई भी उपयुक्त नहीं मालूम पड़ता। दो या अधिक लोग गर्मी पाने के लिए पास-पास सटे हुए लेटकर उसी रजाई के सहभागी हो सकते हैं, इस अर्थ में कि वे उसके एक भाग के नीचे सिमट जाते हैं। वे एक ही आग के, एक ही कमरे के, एक ही मेज के, या शोरबे के एक ही कटोरे इत्यादि के सहभागी हो सकते हैं। उनकी अनेक रुचियां, बीमारियां या उनके अनेक मित्र समान हो सकते हैं, इत्यादि। यदि कोई केवल इन्हीं उदाहरणों को ले और उनका अध्ययन करे, तो वह पाएगा कि 'सहभागी होना' या 'समान होना' का प्रयोग आश्चर्यजनक रूप से विविध अर्थों में किया जाता है। परन्तु उन सब में विशेषता यह है कि जिस चीज में सहभागिता बताई जाती है या जो चीज समान कही जाती है वह उतनी ही एक विशेष होती है जितने सहभागी व्यक्ति। अतः इनमें से कोई भी प्रत्यय किसी लक्षण के अनेक उदाहरणों में समान होने के अरस्तवी प्रत्यय को स्पष्ट करने में सहायक नहीं होगा, क्योंकि इस प्रत्यय में उदाहरण तो विशेष है पर लक्षण प्रकटतः विशेष नहीं है। और यदि फलतः हम ऐसे किसी भी प्रयोग को जिसमें समान बात एक विशेष होती है, निकाल दें, तो मैं यह समझने में असमर्थ रहता हूँ कि 'अनेक उदाहरणों में समान लक्षण' वाक्यांश को पिछले पैरे में बताए गए अर्थ से भिन्न कौन-सा अर्थ दिया जाए।

यदि केवल उतना ही हम इसका अर्थ समझते हों, तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती, परन्तु इससे सामान्यविषयक अरस्तवी सिद्धांत का पोषण (या विरोध) नहीं होता। उस हालत में हमारा मतलब केवल यह होगा कि अनेक वस्तुएं (थोड़ी-

बहुत मात्रा मे) एक-दूसरी के सदृश् होती है; और यह कहने की अपेक्षा कि वस्तुओ मे कोई लक्षण या गुण समान है, कही अधिक हम कहते भी यही है कि वस्तुए एक-दूसरी के सदृश् या असदृश् हैं। परन्तु यदि हम इससे अधिक कुछ और मतलब चाहते है (और जैसा कि हम देखेंगे, सामान्यो के सादृय-सिद्धात के विरुद्ध यह सिद्धात जो आक्षेप करता है उनमें प्रकट है कि कुछ और मतलब होना ही चाहिए), और यदि 'समान' या ' ····मे सहभागी होना' के अन्य प्रयोगो मे से किसी को हम इस दोष के कारण स्वीकार नही कर सकते कि उन सबमे जो समान है वह उतना ही विशेष है जितनी वे चीजें जिनमे वह समान है, तो अरस्तवी सिद्धात अपनी दिशा मे उतना ही दुर्बोध प्रतीत होता है जितना प्लैटो का सिद्धात अपनी दिशा मे।

दूसरी कठिनाई शायद पहली का उत्तर दे पाने की हमारी असमर्थता से पैदा होती है। यदि हम ऐसे एक सामान्य की कल्पना करने की चेष्टा करें जो अपने सभी उदाहरणो मे हूबहू वही बना रहता है, जिससे, जहाँ तक उसके दृष्टातीकरण का सबध है, वे गुण की दृष्टि से भिन्न न होकर केवल संख्या की दृष्टि से भिन्न होते है, तो ऐसे अधिक मामले खोज पाना कठिन होता है जिनमे सामान्य का इस तरह विद्यमान होना प्रकट हो सके। निश्चय ही, हम विशेषो का वर्गीकरण उनके पारस्परिक सादृश्य के अनुसार करते है, अर्थात् उनके उन लक्षणो के अनुसार करते हैं जो उनमे समान रूप से पाए जाते है (यदि कहने का यह तरीका अधिक पसद किया जाए), परतु ऐसा बहुत ही कम होता है कि जिन विशेषो को हम एक वर्ग मे रखते है वे हूबहू एक-दूसरे के सदृश् हो, और कि जिन विशेषो को हम उनके वर्ग मे नहीं रखते उनसे वे सर्वथा भिन्न हो, और बहुधा सीमावर्ती सदिग्ध मामलो के बारे मे निश्चय हमे अधिकृत आदेश या परिपाटी के अनुसार करना पडता है। अरस्तवी सिद्धात इन कारणो से भ्रामक है : वह हमे यह सोचने के लिए मजबूर करता है कि वस्तुओ को उनमे समान रूप से पाए जानेवाले अलग-अलग लक्षणो के अनुसार बिलकुल अलग-अलग खानो मे बद किया जा सकता है; उससे यह प्रकट होता है कि प्राकृतिक जातियो के विभाग वास्तविक और यथार्थ हैं, और उससे यह सुझाव मिलता है कि सामान्य ऐसी चीजें है जिन्हे हम खोजकर सामने लाते है, न कि अशतः ऐसी चीजें जिन्हे हम स्वयं रचते है। उदाहरणार्थ, प्राणिविज्ञानी समुद्री आनेमोनियो को जतुओ के वर्ग मे रखते है, हालाकि वे वनस्पतियो की तरह उगते हैं और चलने की शक्ति नही रखते, सनड्यू नामक फूल को वनस्पति के वर्ग मे रखा जाता है, हालाकि समुद्री आनेमोनि की तरह यह अपना भोजन कीडो को फसाकर प्राप्त करता है और [illegible]

में विभाजन केवल यदृच्छा या परिपाटी के अनुसार ही हो सकता है।

अथवा हम अधिक सुपरिचित कृत्रिम वस्तुओं के, जैसे मेजों के, उदाहरण देंगे। इस पुस्तक का प्रत्येक पाठक साधारण रूप से जानता है कि मेज क्या होती है। तो, सभी मेजों में समान क्या होता है? हम शायद यह जवाब देना चाहेंगे कि मेजों में दो सबद्ध लक्षण समान होते हैं, (अ) यह कि उनकी ऊपरी सतह चपटी और समरूप होती है, तथा (ब) यह कि उनका इस्तेमाल चीजों को रखने के लिए किया जाता है। परन्तु चीज को मेज होने के लिए उसकी सतह ठीक कितनी चपटी और कितनी समरूप होनी चाहिए? जब हम कभी पिकनिक में जाते हैं और एक कम या अधिक चपटी सतहवाले पत्थर या पेड़ के ठूंठ को देखकर कहते हैं कि 'चलो इसी को मेज के रूप में इस्तेमाल किया जाए,' तब क्या वह मेज है या नहीं? कोई ऐसे प्रश्न का निर्णय कैसे करेगा? क्या यह उस तरह का एक प्रश्न नहीं है जिसका निर्णय उत्तर को खोजकर नहीं बल्कि उस सपादक की तरह उत्तर को स्वेच्छया निर्धारित करके दिया जाता है जिसका निर्णय किसी समाचार-पत्र की प्रतियोगिता में अंतिम होता है? हम उसे मेज कहने का निश्चय कर सकते हैं, क्योंकि हमारी समझ से किसी ने जान-बूझकर उसे मेज की तरह इस्तेमाल होने के लिए वहां रख दिया है, या क्योंकि हमारी समझ में, जैसे भी वह वहां पहुंचा हो और जिस कारण भी उसकी वह शक्ल बनी हो, वह बहुधा पिकनिक के लिए आनेवालों के द्वारा मेज के रूप में इस्तेमाल किया गया है, अथवा, जैसा होना कि अधिक स्वाभाविक है, केवल इसलिए कि वह इस अवसर पर मेज के रूप में हमारा काम देगा। बच्चे बनकर हम कहेंगे कि 'आओ हम कल्पना करें कि यह पत्थर नहीं बल्कि मेज है' (जैसे कि मानो दोनों चीजें वह हो नहीं सकता), प्रौढों के रूप में, कल्पना करना भूलकर अथवा कल्पना की सीमारेखा के बारे में अनिश्चय की वृत्ति के साथ, हम कहेंगे कि 'आओ इसे हम मेज के रूप में इस्तेमाल करें।'

महत्व की बात यह है कि एक सामान्य विद्यमान है या नहीं, इस बारे में हम वस्तुतः अनिश्चय की अवस्था में नहीं होते। यदि किसी बात के बारे में हम वाकई अनिश्चय की अवस्था में होते हैं तो वह है सादृश्य या असादृश्य की मात्रा। तश्तरियों को रखने की जगह के रूप में वह पत्थर काफी अच्छा है, लेमोनेड की बोतलें या थर्मस फ्लास्कों के लिए वह ठीक हो सकता है बशर्ते हम जगहें सावधानी से चुनें परन्तु चिट्ठी लिखने के लिए शायद वह बेकार स्थान होगा। अर्थात् इस मामले में दो पक्ष दिखाई देते हैं उस पत्थर का मेज होना पहली इस बात पर आश्रित है। जिसे हम साधारणतः मेज कहते हैं उससे इसकी असादृशताएं कहां तक हैं, और दूसरा

इस बात पर आश्रित है कि यह कहने से पहले कि असदृशताएं इतनी अधिक हैं कि उसे मेज नहीं कहा जा सकता, हम कहां तक जाने के लिए तैयार हैं। अब यह निश्चित रूप से किसी ऐसी विशेषता को ढूंढने और शायद पा जाने की अपेक्षा जो पूरे समय वहां मौजूद थी और ढूंढ लिए जाने की प्रतीक्षा में थी, सपादक के अंतिम निर्णय से कहीं अधिक मिलती-जुलती बात है।

फिर वायुयानों में समान रूप से पाया जानेवाला सामान्य लक्षण क्या है? यदि हमसे पूछा जाए कि वायुयान *क्या होता है*, तो शायद शुरू में हम एक स्पिट-फायर, या हाइन्केल, या डकोटा की, अर्थात् एक (या अधिक) इंजनों से युक्त और पाइलट के द्वारा नियंत्रित किसी चीज की, बात सोचें। (इंजन को हम उसका ग्लाइडर से अंतर करने के लिए जोड़ते हैं।) परंतु, निस्संदेह पाइलट के द्वारा उसका नियंत्रित होना आवश्यक नहीं है क्योंकि उसका नियंत्रण बिजली से जमीन पर खड़े आदमी के द्वारा *किया जा सकता है। पर उस दशा में क्या हम उस आदमी* को ही पाइलट कहने का निश्चय कर सकते हैं? हम चाहें तो उसे पायलट कह सकते हैं *अथवा* चाहें तो नहीं भी कह सकते, पर प्रायः हम कहते नहीं हैं। तब अंदर किसी आदमी के न होने पर भी उसे वायुयान कहा जा सकता है। क्या वह वायुयान केवल तब है जब उसे उड़ान के समय नियंत्रण किया जा सकता हो अथवा तब भी जब उड़ान के पूर्व ही नियंत्रण के पुर्जों को सेट कर लिया जाता हो? अभी हमारा झुकाव पहली बात की ओर होता है, परंतु ऐसा लगता है कि यह *चुनाव एक सुविधा की बात है। अब हम उस उड़नेवाले यंत्र में जिसकी शक्ति का* स्रोत उसके ही अंदर होता है तथा उस प्रक्षिप्त यंत्र में जिसके अंदर नहीं होता, कोई स्पष्ट भेद नहीं करते। व्ही$_1$, व्ही$_2$ और इसी तरह के अन्य प्रक्षेपास्त्रों ने इस झगड़े को समाप्त कर दिया। यदि इन्हें हमने वायुयान न कहकर उड़न-बम कहा, तो इसका कारण शायद यह रहा होगा कि छोड़ने के बाद उनका नियंत्रण नहीं किया जा सकता था, हालांकि अधिक संभाव्य कारण यह रहा होगा कि उड़ान की समाप्ति पर टकराने के बाद विस्फोट करने के उद्देश्य से उन्हें बनाया गया था (जैसे कि मानो इस बात ने उन्हें वायुयान होने से रोक दिया था)। ग्लाइडर बम उड़ान के दौरान नियंत्रित किया जा सकता था, पर उसे वायुयान नहीं कहा जाता था। यहाँ भी शायद कारण यह रहा होगा कि वह किसी लक्ष्य से टकराने और टकराने के बाद फट जाने के लिए बनाया गया था। नई-नई उड़न-मशीनें बनती जा रही हैं और *राइट-बंधुओं के द्वारा हवा में उड़ने के लिए बनाई गई वस्तुओं से अधिकाधिक भिन्न* होती जा रही हैं, परंतु हमें उन्हें वायुयान कहने *या न कहने* में कोई वास्तविक कठिनाई नहीं हो रही है। कठिनाई इसलिए नहीं हो रही है कि जो कुछ अन्य

लोग कर रहे है उसे करने के लिए हम तैयार हे : यदि डिजाइन तैयार करनेवाले, निर्माता और सवाददाता (विशेष रूप से सवाददाता) उन्हे वायुयान कहते हैं तो वे वायुयान है। यहाँ भी स्पष्ट है कि सपादक का निर्णय अंतिम है।

निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि हम किसी वस्तु के एक विशेष प्रकार के होने का निश्चय यह पता लगाकर नहीं करते कि उसमें कोई ऐसा लक्षण (या लक्षण-समूह) है जो हूबहू कुछ अन्य वस्तुओ मे पाए जानेवाले लक्षण (या लक्षण-समूह) की तरह है, बल्कि कुछ अस्पष्ट-सी बात पाकर करते हैं जिसे 'पारिवारिक सादृश्य' कहा गया है। आम तौर पर, हम विभिन्न नमूनो को लेकर उन्हे मानक-वस्तु मान सकते है तथा ऐसी सब वस्तुओ को जो उनसे अल्पाधिक सादृश्य रखती हों, उसी प्रकार की वस्तुएँ कह सकते हैं। परतु 'अल्पाधिक सादृश्य' मे हमने जितना लचीलापन रख छोड़ा है उसे हम घटा-बढा सकते है और घटाते-बढाते ही हैं, तथा अपनी मानक-वस्तुओ को हम बदल सकते है और बदलते ही है। मानक-वायुयान का मेकैनो-सदृश बाइप्लेन वाला रूप बहुत पहले समाप्त हो चुका है।

फिर भी, यह कहा जाएगा कि यद्यपि ऊपर के वृतात से जटिल वस्तुओं का प्राकृतिक या कृत्रिम प्रकारो मे वर्गीकरण जितना हम चाहते हैं उससे कही कम साफ-सुथरा काम सिद्ध होता है, तथापि इससे अरस्तवी सिद्धात का खंडन नहीं होता। यह कठिनाई स्वय ही इस बात को मानती है कि सादृश्य और असादृश्य होते हैं। और दो वस्तुएं परस्पर चाहे जितनी कम सदृश हों, जब तक कोई बात उनमे समान न हो, तब तक वे सदृश कैसे हो सकती हैं? हम सादृश्य को एक प्रकृत तथ्य नहीं मान सकते, क्योकि वह सदैव तुलना की गई वस्तुओं के एक समान लक्षण पर आश्रित होता है। यह सही है कि हम बहुत प्रायः उस लक्षण को निश्चित किए बिना वस्तुओ को सदृश कह देते हैं, जैसे 'वह अपनी माँ से कितना अधिक सादृश्य रखता है', परंतु ऐसे मामलों मे हम सदैव न्यून कथन करते होते हैं और समान लक्षण का उल्लेख इसलिए छोड़ देते हैं कि उसके अत्यधिक स्पष्ट होने से हम उसका उल्लेख आवश्यक नही समझते अथवा उसे बताने मे हमें आलस्य होता है। हम सोचते है कि पूछे जाने पर हम समान लक्षण को बता सकते है ('उसकी नासिका ठीक वैसी ही ऊपर की ओर उठी है'), ठीक वैसे ही जैसे जरूरी होने पर हम 'आपका लडका कितना लबा है', इस न्यून कथन का विस्तार 'आपका लड़का मेरे लड़के से (या अपनी आयु के अधिकतर लडको से) कितना अधिक लबा है', इस कथन मे कर सकते है। यह मानना होगा कि सामान्यतः हम तब तक दो वस्तुओ

मे सादृश्य होने की बात कहने को सार्थक नही समझते जब तक हम, भले ही अस्पष्ट रूप से, यह बताने के लिए भी तैयार न हों कि वे किस बात मे सादृश्य रखती है, हालाकि मै पक्के तौर से यह नहीं कह सकता कि इस सामान्य नियम के अपवाद नही हैं : उदाहरणार्थ, दो गधो या दो स्वादो मे हम सादृश्य महसूस कर सकते है, पर यह भी सभव लगता है कि हम इस सवाल का जवाब देने मे बिल्कुल असमर्थ हो कि वे किस बात मे सदृश है। लेकिन यदि हम प्रतीयमान अपवादो की सगति बैठाकर यह कह भी सकें कि सादृश्य सदैव किसी बात मे सादृश्य होता है, तो भी अकेले इससे अरस्तवी सिद्धात सिद्ध नही होता। इससे एक बार फिर हमे बोधगम्यता के प्रश्न का सामना करना पड़ेगा, क्योकि यदि जिस बात मे वस्तुए सदृश है वह उनमे समान एक अकेला लक्षण है, तो जब तक हम यह नही जान लेते कि उनमे किसी लक्षण का समान होना क्या होता है तब तक हमारी जानकारी मे कोई वृद्धि नही होगी। मेरी समझ से इसका विश्लेषण दिया जा सकता है, हालाकि वह विश्लेषण अरस्तवी प्रकार का नही होगा, पर इस चर्चा को हमे इस अध्याय के बाद के भाग के लिए छोड़ देना होगा।

6. उदाहरणों के बिना सामान्य नहीं हो सकते।

यदि सामान्यों के बारे मे अरस्तवी सिद्धात सही है, तो उसकी सामान्य की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलेगा कि उदाहरणो के बिना सामान्य नही हो सकते। और इस बात को अरस्तवी सिद्धात के विरुद्ध इस आधार पर बताया गया है कि स्पष्टत ऐसे सामान्यो का अस्तित्व है, जैसे वे जो हमने पहले बनाए है और जिनमे प्लेटो की सबसे अधिक दिलचस्पी थी। अब कोई इस आपत्ति का खडन दो ही तरीको से कर सकता है : या तो वह प्रागनुभवतः यह सिद्ध करे कि अरस्तवी सिद्धात अनिवार्य रूप से सत्य है और इसलिए ऐसे सामान्यो का अस्तित्व हो ही नही सकता। अथवा वह किसी भी प्रस्तावित सामान्य के बारे मे यह सिद्ध करे कि उसके उदाहरण है। पहला तरीका मुझे सुलभ नही है और दूसरे के द्वारा बात को पूरी तरह से समझाने के लिए बहुत समय चाहिए जो यहा सभव नही है। अत मुझे एक दृष्टात की तरह अपना यह विश्वास प्रकट करना होगा कि उदाहरणो के बिना कोई सामान्य होते ही नही,[1] और कि यह मानना अरस्तवी सिद्धात के प्रतिकूल नही है कि ऐसे सामान्यो का अस्तित्व है। इस विश्वास को सीधापन का दृष्टात देकर समझाऊगा।

1. मै केवल सरल लक्षणों की बात कर रहा हू, जटिल लक्षणों की नहीं।

स्थान की कमी से बात बहुत सक्षेप में बताई जाएगी, हालांकि सचमुच में सतोषप्रद विवरण देने के लिए कई पृष्ठों की जरूरत होगी, क्योंकि 'सीधा' शब्द का जितने परस्पर सम्बंधित पर अलग-अलग पहचाने जा सकनेवाले संप्रत्ययों के लिए प्रयोग होता है उनकी सख्या बहुत ही अधिक है और ये सप्रत्यय भी कुछ तो स्पष्ट है और कुछ अस्पष्ट। फलत किसी भी विवरण से यह आशा नही की जा सकती कि उसमें उन सभी सम्बन्धों की बात आ जाएगी। फिर भी प्रस्तावना के तौर इतना यहा कह दिया जाए कि 'सीधा' का इस प्रसग में वही अर्थ है जिसे लेकर हम यूक्लिडी त्रिभुज की यह परिभाषा देते हैं कि वह तीन सीधी रेखाओं से घिरी हुई समतलाकृति है। सीधा एक ऐसा सामान्य है जिसके उदाहरण नहीं हैं, ऐसा कहने का एकमात्र कारण यह है कि जब भी हम सीधापन के किसी बताए हुए उदाहरण की काफी सावधानी से जांच करते हैं, तब हम उसमें कोई त्रुटि अवश्य पाएगे और तब हम यह नहीं कह पाएगे कि वह रेखा पूरी तरह से सीधी है। कागज के ऊपर खींची हुई कोई रेखा खाली आंख से देखने पर पूर्णत. सीधी लग सकती है, परंतु एक काफी शक्तिशाली आवर्धक लेन्स से देखने पर उसमें घुमावों और व्यवधानों का बाहुल्य प्रकट हो जाएगा। फलत शायद हमें कहना पड़ेगा कि यद्यपि पूर्णत. सीधी रेखाएं कहीं भी नहीं हैं तथापि एक सीधा-सामान्य अवश्य है, क्योंकि हमारे मन में वस्तुत उसका सप्रत्यय है, जिसकी हम एक रेखा को सीधी न मानने में उतनी ही सहायता लेते हैं जितनी ऐसी रेखा का पता लगाने में लेते जिसे सीधी माना जा सके। अत. हमें कम से कम एक सामान्य को ऐसा मानना पड़ेगा जिसके उदाहरण नहीं हैं, और यह स्वीकृति प्लेटोवी सिद्धांत से संगति रखती है लेकिन अरस्तवी सिद्धांत से नहीं।

इस युक्ति पर कई टिप्पणियां की जा सकती हैं। पहली यह है कि हमारी रेखा अवश्य ही सीधी *दिखाई* देती थी, जो कि इस युक्ति का सुस्पष्ट और प्राय. दिया जानेवाला उत्तर है। एक शक्तिशाली लेन्स से सूक्ष्म जांच करने पर उसमें घुमाव तो अवश्य दिखाई दिए, परंतु इससे यह तथ्य नहीं बदला कि पहले वह सीधी दीख पड़ी थी, अर्थात् यह कि वह अधिक पास से और बारीकी से जांच करने पर भी हूबहू वैसी ही दिखाई दी थी जैसी सीधी होने की स्थिति में दिखाई देती। दूसरे शब्दों में, रेखा का सीधी दिखाई देना ज्ञानमीमासीय दृष्टि से सीधा-सामान्य का एक उदाहरण है, और यह ऐसा तथ्य है जो आवर्धक लेन्स से रेखा (जो कि हर हालत में खाली आख से दिखाई देनेवाली रेखा से बहुत ही भिन्न दिखाई देती है) के सीधी न दिखाई देने से बदलता नहीं।

इससे आगे यह सवाल पैदा होता है कि क्या एक रेखा के सीधी दिखाई देने और उसके सीधी होने के बीच का भेद वास्तव में भ्रामक नहीं है। इसमें निश्चय ही यह प्रकट होता है कि उस शक्ल के अलावा जो एक रेखा की दिखाई देती है एक ऐसी शक्ल भी होती है जो उसकी है और जो बिल्कुल भिन्न हो सकती है। परंतु क्या रेखा की जो शक्ल है उससे हमारा मतलब उस शक्ल का नहीं है जो उसकी कुछ विशिष्ट दशाओं में दिखाई देती है? हम सब जानते हैं कि जब हम यह कहना चाहिए कि टेनिस खेलने के स्थान पर खिंची हुई रेखाएं सीधी हैं और कब नहीं। क्या हम कहें कि कोई हलवाहा कभी सीधी नालियां नहीं खींचता? यह सही है कि जो बात हमें टेनिस के अम्पायरों या हल चलाने की प्रतियोगिताओं के निर्णायकों के रूप में संतुष्ट करेगी वह यथार्थमापी उपकरणों के निरीक्षकों के रूप में हमारी जांच में नहीं टिकेगी। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि किसी रेखा का सीधी होना उस प्रयोजन का जिसके लिए वह खींची गई है तथा उस पैमाने का जो प्रयुक्त हुआ है, सापेक्ष है। यदि दो सतहों के किनारों को इस तरह सीधे होना है कि वे एक-दूसरे पर बिल्कुल सही बैठ जाएँ और एक-दूसरे पर आसानी से फिसलने लगें, तो उनके बीच में छोड़े जा सकनेवाले अवकाश की सीमा इस बात के अनुसार कम या अधिक होगी कि सतहें एक पिस्टन की और जिस सिलिंडर के अंदर वह चलता है उसकी दीवार की है या एक दीवार के अंदर सरकनेवाले लकड़ी के फलक की और जिस खांचे पर वह चलता है उसकी हैं।

ऐसा लगता है कि किसी रेखा का सीधी होना उस पैमाने पर निर्भर करता है जिससे हम उसकी तुलना करते हैं, और कि किसी भी पैमाने से तुलना किए बिना एक रेखा के सीधी होने का प्रत्यय एक शून्य प्रत्यय है। फलतः यदि इस कथन का मतलब कि पूर्णतः सीधी रेखाओं का कहीं अस्तित्व नहीं है, यह है कि कहीं ऐसी रेखाएं नहीं हैं जो किसी स्वीकृत मानक से तुलना के बिना सीधी हों, तो हमें इससे सहमत होना चाहिए। लेकिन उस दशा में हम इस बात में सहमत नहीं होंगे कि सीधापन एक ऐसा सामान्य है जिसके उदाहरण नहीं हैं। एक अर्थ में (सापेक्ष) सीधापन उदाहरणों वाला सामान्य है, दूसरे अर्थ में (निरपेक्ष) सीधापन सामान्य है ही नहीं, अर्थात् 'सीधा' शब्द किसी चीज का द्योतक नहीं है।

7 सादृश्य-सिद्धांत

सामान्यों के बारे में वस्तुवादी सिद्धांतों, जिनमें प्लेटोवादी और अरस्तवी दोनों ही शामिल हैं, से असंतोष होने के कारण एक मौलिक रूप से भिन्न सिद्धांत सामने

आया, जिसके अनुसार सामान्य विशेष्यरूप या विशेषणरूप किसी भी प्रकार का पदार्थ है ही नही। यह सिद्धात, जिसके कि अनेक विविध रूप है, सामान्य को विशेषो और उनके बीच पाए जानेवाले सादृश्य के सबध के द्वारा परिभाषित करता है। इस प्रकार यह प्लेटो की अपेक्षा अरस्तू के अधिक निकट इस बात मे है कि इसके अनुसार सामान्य की आवश्यक रूप से केवल विशेषो के द्वारा ही परिभाषा दी जा सकती है और इस कारण से उदाहरणो के अभाव मे सामान्य हो ही नही सकता। परतु अरस्तू के सिद्धात से इसका अंतर यह है कि यह सामान्य को ऐसा लक्षण नही मानता जिसकी विशेषो की एक बडी सख्या मे पुनरावृत्ति होती हो और जो प्रत्येक विशेष मे सख्यात: अभिन्न हो। इस सिद्धात को सादृश्य-सिद्धात कहा जा सकता है और इसके अनुसार किसी भी निर्दिष्ट वस्तु के गुण उतने ही विशेष और स्थानीय होते है जितनी स्वय वह वस्तु होती है। यदि मेरे पास एक ही रचना, आकार और रग वाली बिलियर्ड की दो गेंदें है जिनमे से एक मेरे सामने मेज पर है और दूसरी मेरे पीछे ताक पर है, तो मेज वाली की लालिमा और गोलाई स्वय भी मेज पर है और इसलिए दूसरी की लालिमा और गोलाई से, जो मेरे पीछे ताक पर है, भिन्न है। अर्थात्, यद्यपि एक अर्थ मे दोनो गेदो की लालिमा एक ही है, तथापि एक दूसरे अर्थ मे वे भिन्न है। प्रत्येक लाल रग उस विशेष गेंद का जिसमे वह है, निजी और विलक्षण रग है, और जिस अर्थ मे दोनो गेंदो का लाल रग एक ही है उसको प्रकट करने का अधिक अच्छा तरीका यह कहना है कि एक का लाल रग ठीक दूसरी के लाल रंग के समान है।

8. नामवाद

शायद यह कहा जाएगा कि सादृश्य-सिद्धात के सब रूपो की यहा तक जितना थोडा-सा बताया गया है उसमे तक सहमति नही है। उदाहरण के बतौर नामवाद का नाम लिया जाएगा, जो निश्चित रूप मे सामान्यो को सादृश्य के द्वारा परिभाष्य मानता है पर साथ ही विशेषो मे एकमात्र सादृश्य उनका एक ही नाम से पुकारा जाना मानता है। परतु जहाँ तक मुझे जानकारी है, नामवाद का यह अतिरजित रूप, जिसके अनुसार विशेषो के एक समूह मे एकमात्र समानता (अथवा एकमात्र बात जिसमे वे सदृश है) उनका एक ही नाम से पुकारा जाना है, किसी के द्वारा कभी भी गभीरतापूर्वक नही माना गया है, अलावा उसके जो शब्दो का मनमाने अर्थ मे प्रयोग करता है और वह भी केवल निर्दिष्ट समय पर बहुत ही सीमित क्षेत्र मे।

यदि गायो के वर्ग मे एकमात्र समान बात यह है कि उन्हे 'गाय' के नाम से पुकारा जाता है, तो स्पष्टत: इस बात का निश्चय कि एक निर्दिष्ट वस्तु को गाय कहना है या नही, या तो मनमाने ढग से करना होगा या परिपाटी के अनुसार। यदि मेरी गाय बच्चे देती है तो उसके बच्चे गाय केवल तभी होंगे जब मैं उन्हे गाय कहूँ और उन सबको अपनी इच्छा का अनुसरण करने के लिए बाध्य करूँ जो उन्हे किसी भी नाम से पुकारना चाहते है, अथवा जब मेरे चरवाहे, पडोसी इत्यादि स्वेच्छा से मेरी बात मानकर उन्हे गाय कहे। तब शहर से मेरे यहाँ आया हुआ कोई आदमी जो उनमे से एक के बारे मे यह पूछता है कि वह गाय है या साड, प्रकृति के तथ्यो के बारे मे अपनी अनभिज्ञता के लिए मेरी हसी का पात्र नही होगा, बल्कि एक पूरी समझदारी का सवाल पूछेगा। निस्सदेह, ऐसे नामवाद की चर्चा केवल यह दिखाने के लिए की गई है कि किसी का इस सिद्धात को मानना एक हद दर्जे की बेवकूफी की बात होगी। यह निश्चय करना कि एक वस्तु गाय है, बिल्कुल भी एक बच्चे या एक जहाज का नाम रखने-जैसी बात नही है। जब हम किसी वस्तु के बारे मे संदेह मे होते है, तब निस्सदेह हम प्रश्न को इस रूप मे पूछ सकते है: 'आप इसे किस प्रकार का जानवर कहते है?' और प्रश्न के इस रूप मे पूछे जाने की उतनी ही सभावना है जितनी इस रूप मे पूछे जाने की कि यह किस प्रकार का जानवर है? परन्तु इसमें इस नामवाद की पुष्टि नही होती, क्योकि यह उत्तर प्राप्त करने के बाद कि यह एक ओकापी है, हमारा उसी बाडे मे उसी तरह के जानवर की ओर संकेत करके यह कहना कि 'और वह भी तो एक ओकापी है', हमे बिल्कुल स्वाभाविक और समझदारी की बात (लेकिन शायद बिल्कुल ही अनावश्यक) लगेगा। यदि नामवाद का यह रूप सही हो, तो यह पिछला कथन एक सुस्पष्ट बात का कथन बिल्कुल भी न होगा, बल्कि अधेरे मे एक सर्वथा नाजायज छलाग लगाने के बरावर होगा।

9 हॉब्ज का नामवाद

नामवाद का कुछ सयत रूप से समर्थन विशेषत: आजकल अनुचित रूप मे उपेक्षित टॉमस हॉब्ज नामक दार्शनिक ने किया था। उसका मत यह था कि विशेषो के एक समूह की चीजें एक ही नाम से पुकारी जाने मे परस्पर सादृश्य रखती है, परतु वह यह भी मानता था कि इन विशेषों मे से प्रत्येक के उस नाम से जो शेष अन्यो का भी है, पुकारे जाने का कारण उसका मात्र एक नाम के अलावा किसी और

गाय मे सादृश्य का संबंध है, पर इनमें से किसी एक और इस घोड़े के बीच ऐसा संबंध नही है। तब इस कथन से कि एक अनेकव्यापी शब्द विशेषों के एक समूह का समान नाम होता है, यह अर्थ निकलेगा कि उनमें से प्रत्येक के लिए (और प्रत्येक बार उसका निर्देश करने के लिए) एक सदृश टोकन-शब्द का प्रयोग किया जाता है। और मूल बात फिर भी यही बनी रहेगी, जैसी कि हमने हॉब्ज के पहले उदाहरण मे देखी थी, कि वस्तुओ के लिए सदृश टोकनों का प्रयोग सिर्फ इसलिए किया जाता है कि वे वस्तुएं सदृश् हैं या ऐसी समझी जाती हैं। यदि सामान्यों की उस सादृश्य के रूप मे जो विशेषो मे होता है परिभाषा नही दी जा सकती, तो हॉब्ज के सामान्य नामों के सिद्धांत को बचाने के लिए कुछ भी नही किया जा सकता; और यदि उनकी उस रूप मे परिभाषा दी जा सकती है, तो भी उसके सिद्धांत की रक्षा केवल इस शर्त पर की जा सकती है कि एक नाम के अनेक उदाहरणों मे समान होने की बात का विश्लेषण उसी प्रकार से किया जाए जिस प्रकार सामान्य के समान होने की बात का किया जाता है, अर्थात् सादृश्य की मदद से किया जाए।

अतः हॉब्ज के सिद्धांत का मडन या खडन साधारण सादृश्य-सिद्धांत के साथ जुडा हुआ है, और यही बात तथा-कथित ब्रिटिश इंद्रियानुभववादियों के संप्रदाय पर लागू होती है, हालांकि उनमे कुछ मतभेद अवश्य है। यह कहना कि एक लाल-सामान्य है, यह कहने के बराबर है कि ऐसी वस्तुएँ है जिनमे से प्रत्येक लाल है, अथवा जिनमे लाल होने मे परस्पर सादृश्य है। और यह सिद्धांत यह कहेगा, जैसा कि हमने पहले अरस्तू के सिद्धांत की चर्चा मे देखा था, कि दो वस्तुओ के बारे मे यह प्रश्न कि क्या वे एक ही सामान्य के उदाहरण है या एक समान गुणधर्म रखती है (जो भी भाषा हमे पसंद हो), अंशतः उन वस्तुओं के बारे मे एक ज्ञातृनिरपेक्ष प्रश्न ("किस सीमा तक के परस्पर सदृश् हैं ?") है और अंशतः एक ज्ञातृसापेक्ष प्रश्न ("क्या वे इतनी अधिक सदृश् हैं कि हम उन्हे एक ही नाम से पुकार सकें ?")। किसी सीमा तक वे सदृश् हैं, यह हमारे पता करने की बात है, और चाहे हम पता लगाएँ या न लगाएँ, वे उस सीमा तक सदृश् होंगे ही। वे इतनी अधिक सदृश् हैं कि हम उन्हे एक ही नाम से पुकार सकते हैं, यह हमारे *निश्चय करने* की बात है; और यह बात कि हमारे निश्चय हमारी आवश्यकताओं और रुचियो पर निर्भर करते हैं, इस तथ्य से प्रकट है कि एक दर्जी या एक चित्रकार ऐसे दो टुकडो के रंगों को दो भिन्न नाम देगा जिन्हे मैं लाल ही कहूगा।

10. अनेकव्यापी शब्द व्यक्तिवाचक नाम नहीं होते।

सादृश्य-सिद्धात और वस्तुवादी सिद्धातो मे मौलिक अंतर यह है कि पहले को दृष्टि में अनेकव्यापी शब्द व्यक्तिवाचक नाम नही हैं जबकि बाद वालो की दृष्टि मे वे व्यक्तिवाचक नाम हैं। जिस प्रकार 'अर्नेस्ट बेविन' या 'वेस्टमिस्टर कैथेड्रल' एक ही चीज़ का नाम है, उस प्रकार कोई एक ही चीज ऐसी नही है जिसके लिए 'लाल'[1] शब्द का प्रयोग होता हो। 'लाल' किसी भी लाल वस्तु मे रहनेवाले लालिमा के गुण का नाम है और 'मेज' नाम से किसी भी मेज का बोध होता है, परन्तु ये नाम कतई ऐसे नही हैं जैसे 'अर्नेस्ट बेविन', जिससे कि उस व्यक्ति का ही बोध होता है जो दूसरे महायुद्ध के दौरान ब्रिटेन का श्रम-मंत्री था और जो बाद मे विदेश-सचिव बना था। किसी व्यक्तिवाचक नाम का तब कोई उपयोग नही है जब वह एक व्यक्ति-विशेष को चुनने में सहायक नही होता, और एक अनेकव्यापी शब्द तब कम ही उपयोगी होगा जब वह केवल एक व्यक्ति-विशेष का ही बोध कराता हो। यदि मैं अपने कुत्तो मे से प्रत्येक को ट्रस्टी कहूँ तो मेरे यह कहने पर कि ट्रस्टी बीमार हो गया है, आप नही बता सकेंगे कि मेरा मतलब किस कुत्ते से है।

सादृश्य-सिद्धात के अनुसार एक अनेकव्यापी शब्द वस्तुओं के एक समूह मे से प्रत्येक का नाम होता है, न कि उसमे से किसी विशिष्ट व्यष्टि का। इस प्रकार 'कुत्ता' एक अनेकव्यापी शब्द है, जबकि 'ट्रस्टी' नही है। और तदनुसार जो गलती अनेक दार्शनिको ने की है वह, पहली, यह मानने की की है कि कोई एक ही चीज ऐसी होनी चाहिए जिसका एक अनेकव्यापी शब्द नाम है (अर्थात् यह कि अनेकव्यापी शब्द एक व्यक्तिवाचक नाम होता है), और, दूसरी, यह मानने की की है कि चूँकि एक अनेकव्यापी शब्द अनेक वस्तुओं पर लागू होता है इसलिए उनमे से प्रत्येक वस्तु को येन-केन प्रकार से उस चीज को अपने अदर समाविष्ट करना चाहिए। पहली बात को मान लेने से हम दूसरी से भी बंध जाते हैं। परतु यह सिद्धात कहता है कि हम पहली बात को मानें ही क्यो ? एक अनेकव्यापी शब्द को एक व्यक्तिवाचक नाम की तरह समझने का हमारे पास क्या आधार है ? निश्चय ही सभी लाल वस्तुओ मे कोई चीज समान होती है, और यह चीज़ उन सबका लाल कहलाना मात्र नही है। समान चीज यह है कि वे सब लाल हैं, और उसको उनमे समान कहने का मत-

---

1. जब तक स्पष्ट रूप से दूसरा अर्थ न बताया जाए, तब तक 'शब्द' का प्रयोग 'प्ररूप-शब्द' के अर्थ में समझना चाहिए।

लव यह है कि उनमें से प्रत्येक के लाल होने में उनका सादृश्य है, हालांकि इस सादृश्य में मात्रा-भेद हो सकता है। सादृश्य-सिद्धांत सामान्यों को समाप्त नहीं करता, बशर्ते 'सामान्य' को किसी पदार्थ का नाम न समझा जाए। वह कहता है कि 'सामान्यों का अस्तित्व है' कहने का मतलब केवल यह है कि वस्तुओं का समूहों में (अ) सादृश्य और असादृश्य की उनमें रहनेवाली मात्राओं के अनुसार और (ब) समूह की सदस्यता की कहां और किस प्रकार सीमा बांधनी है, इस बारे में हमारे निश्चय के अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है।

11. सादृश्य और विवृत वर्ग

यह मानते हुए कि सादृश्य-सिद्धांत काफी सही है, मैं ऐसी तीन आपत्तियों का उल्लेख करूंगा जो आम तौर पर इसके विरुद्ध उठाई जाती है। ये प्रो० प्राइस के पूर्वोल्लिखित व्याख्यान 'थिंकिंग ऐंड रिप्रेज़ेन्टेशन' (पृ० 31-4) में दी गई हैं[1] और संख्या में तीन हैं।

सबसे पहले यह दलील दी जाती है कि 'संवृत वर्गों' की बात को सोचने में तो इसका सामंजस्य है पर 'विवृत वर्गों' के लिए इसमें गुंजाइश नहीं है। संवृत वर्ग ऐसे सदस्यों की सीमित संख्या वाला वर्ग है जो सबके सब एक सूची में गिनाए जा सकते हैं। उदाहरण ये हैं : मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने में इस समय मौजूद पुस्तकें, नॉर्मन विजय से चार्ल्स I की मृत्यु तक के इंग्लैंड के राजा, पहले महायुद्ध में पदक पानेवाले सैनिक, दूसरे महायुद्ध में मारे गए असैनिक, इत्यादि। इनमें से प्रत्येक में सदस्यों की संख्या निश्चित और ज्ञात या जानी जा सकनेवाली है, और प्रत्येक में वर्ग का निर्देश ऊपर के जैसे एक वर्णनात्मक वाक्यांश के द्वारा अथवा सदस्यों की गणना के द्वारा किया जा सकता है। अंतिम दो उदाहरणों में गणना लंबी और कठिन होगी, पर की जा सकती है।

दूसरी ओर, विवृत वर्ग ऐसा वर्ग होता है जिसकी सदस्यता बंद नहीं होती, जैसे कुर्सियाँ, ओक के पेड़, सिगरेटों की डिब्बियाँ, लाल नाक वाले विदूषक, और वास्तव में ध्यान में आने वाला प्रायः कोई भी वर्ग। यदि अब तक के सभी लाल नाक

1. निश्चय ही पहली बार नहीं। इनकी दार्शनिक चर्चाओं में बार बार आवृत्ति हुई है, जैसे जी० एफ० स्टाउट के 'स्टडीज इन फिलासफी ऐंड साइकोलोजी', पृ० 387-8 में पाई जा सकती हैं।

वाले विदूषकों का सही रेकार्ड रखा गया हो, तो भी भविष्य में ऐसे अन्य विदूषक हो सकते हैं जिनका अभी जन्म ही नहीं हुआ, परन्तु ऐसे असैनिक और नहीं हैं जिन्हें दूसरे महायुद्ध में मारे गए असैनिकों के वर्ग में रखा जा सके। यह कहने के बजाय कि "नॉर्मन विजय से लेकर चार्ल्स I की मृत्यु तक के इंग्लैंड के सब राजा विंडसर गए थे", मैं चाहूँ तो कह सकता हूँ कि "विलियम I इंग्लैंड का राजा था और वह विंडसर गया था, विलियम II इंग्लैंड का राजा था और वह विंडसर गया था, ...चार्ल्स I इंग्लैंड का राजा था और वह विंडसर गया था।" इसी प्रकार मैं इस वाक्य को भी खोलकर कह सकता हूँ कि "मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने में इस समय मौजूद सब पुस्तकें जासूसी कहानियाँ हैं।" परन्तु "सब लाल नाकवाले विदूषक दुःखी मनुष्य है," "ओक के सब पेड़ बीजों से पैदा होते हैं" इत्यादि को मैं इस रूप में खोलकर नहीं कह सकता। फिर भी, निस्सन्देह हम इस प्रकार के कथन जितने संवृत वर्गों के बारे में करते हैं उतने ही विवृत वर्गों के बारे में भी करते हैं। परन्तु, आलोचक का कहना है कि यदि सादृश्य-सिद्धान्त सही है तो ऐसा हम कैसे कर सकते हैं? विवृत वर्गों के बारे में हम सोच ही कैसे सकते हैं? अर्थात् हम 'सब' को उन दशाओं में कोई अर्थ दे ही कैसे सकते हैं जिनमें इसके अर्थ को निःशेषकारी गणना के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता?

उन सब पुस्तकों के वर्ग की बात को मैं सोच सकता हूँ जो इस समय मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने में है, क्योंकि इस वर्ग में केवल वही वस्तुएँ हैं जिन्हें मैंने देखा है और ये हैं 'ट्रेन्ट्स लास्ट केस' की मेरी प्रति, 'गाउडी नाइट' की मेरी प्रति... ...'दि माल्टीज फॅल्कन' की मेरी प्रति। मैं इन पुस्तकों में से प्रत्येक के बारे में सोच सकता हूँ और उनके किसी भी जोड़े में यह सादृश्य देख सकता हूँ कि दोनों मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने की पुस्तकें हैं तथा आगे यह भी सादृश्य देख सकता हूँ कि दोनों जासूसी कहानियाँ हैं। फिर मैं इन तुलनाओं में से प्रत्येक को संक्षेप में "मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने में इस समय मौजूद पुस्तकें," इस संप्रत्यय के रूप में रख सकता हूँ, और इससे भी आगे बढ़कर "मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने में इस समय मौजूद पुस्तकें जासूसी कहानियाँ हैं", इस प्रतिज्ञप्ति के रूप में। मैं स्वयं देखे हुए या अन्यों से सुने हुए किन्हीं भी लाल नाक वाले विदूषकों की परस्पर तुलना करके उनके व्यक्तिगत सादृश्यों को संक्षेप में "मुझे ज्ञात सब लाल नाकवाले विदूषक", इस संप्रत्यय के रूप में रख सकता हूँ। लेकिन मैं "सब लाल नाकवाले विदूषक", इस संप्रत्यय को बनाने का अथवा "सब लाल नाक वाले विदूषक दुःखी मनुष्य हैं", इस प्रतिज्ञप्ति को सूत्रबद्ध करने का काम (इसे स्वीकार या अस्वीकार करने की तो बात ही नहीं है) नहीं कर सकता। यह बादवाला

काम इसलिए मैं नहीं कर सकता कि ऐसे लाल नाकवाले विदूषकों के होने से जिनके बारे में न मैंने कभी सुना और न कभी सुनूँगा, मैं उनके पारस्परिक सादृश्यों या उनके और जिनके बारे में मैंने सुना है उनके सादृश्यों की बात मैं सोच ही नहीं सकता।

आपत्ति इस प्रकार यह है कि सादृश्य-सिद्धांत के आधार पर मैं "सब क" के संप्रत्यय को तब तक नहीं बना सकता जब तक सब क मेरे द्वारा देखे हुए ('देखे हुए' का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग हो रहा है) अलग-अलग कर्मों की सूची में नहीं समा जाते। यह एक ज्ञानमीमांसीय आपत्ति है, क्योंकि इसकी दलील यह नहीं है कि विवृत वर्ग हो ही नहीं सकते, बल्कि यह है कि हम उनके बारे में सोच नहीं सकते। परन्तु इस आपत्ति का सादृश्य-सिद्धांत के विरुद्ध क्या जोर है, यह मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आता। वह यह कहती प्रतीत होती है कि यदि सादृश्य-सिद्धांत सही है, तो जब भी कोई किसी वर्ग की बात सोचेगा या जब भी कोई "सब" शब्द का प्रयोग करेगा तब उसका मतलब सदैव एक ही होगा, परन्तु स्पष्ट है कि ऐसा होता नहीं और इसलिए यह सिद्धांत गलत है। "मेरी आलमारी के सबसे ऊपर के खाने में इस समय मौजूद सब पुस्तकें जासूसी कहानियाँ हैं," इस वाक्य के द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति "अ मेरी आलमारी ....एक पुस्तक है इत्यादि," इस प्रकार के एकव्यापी वाक्यों के एक गणनात्मक समूह के द्वारा व्यक्त की जा सकती है, परन्तु "सब लाल नाकवाले विदूषक दुःखी मनुष्य हैं," इस वाक्य के द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति उस प्रकार से व्यक्त नहीं की जा सकती। इस तथ्य से प्रकट होता है कि हम दोनों वाक्यों में 'सब' का प्रयोग एक ही प्रकार से नहीं कर रहे हैं। 'सब' के दोनों अर्थों में यह कहकर भेद किया जा सकता है कि एक में उसका **समष्टिक** प्रयोग है और दूसरे में **व्यष्टिक** प्रयोग; और व्यष्टिक प्रयोग में 'सब' = 'यदि कोई'। तब इस आपत्ति का मतलब यह कहना होगा कि यदि सादृश्य-सिद्धांत सही है तो हम "यदि कोई चीज क है" का संप्रत्यय नहीं बना सकते अथवा "यदि कोई चीज क है तो वह ख है," इस आकार की प्रतिज्ञप्ति को स्थान नहीं दे सकते।

लेकिन क्यों नहीं? उदाहरण के बतौर लाल के संप्रत्यय को और मेरे "यदि कोई चीज लाल है," यह सोचने को लीजिए। यहाँ मैं "यदि कोई चीज लाल होने का गुण रखती है," यह सोच रहा हूँगा, और यदि मुझे इसके मतलब को स्पष्ट करना पड़े तो मैं या तो आलोचक को यह याद दिलाऊँगा कि वह 'लाल' का प्रयोग करना अच्छी तरह से जानता है (अर्थात् किन वस्तुओं के लिए इसका प्रयोग करना है, यह), और यह भी कि मैं किसी भी ऐसी चीज की ओर संकेत कर रहा हूँ जो

प्रसग के अनुसार उन वस्तुओ मे से किसी भी एक के सदृश है, अथवा उसे कुछ लाल और कुछ लाल से भिन्न रगवाली वस्तुएँ दिखाकर यह कहूँगा कि मेरा मतलब किसी भी ऐसी चीज से है जो लाल वस्तुओ से उसी तरह सादृश्य रखती है जिस तरह वे लाल वस्तुएँ एक-दूसरी से सादृश्य रखती हैं और लालेतर वस्तुओं से उसी तरह भेद रखती हैं जिस तरह लाल वस्तुएँ उनमे भेद रखती है। सक्षेप मे, मुझे उन सब वस्तुओ की बात (अर्थात् ऐसी किसी भी वस्तु की बात) सोचकर जो एक निर्दिष्ट वस्तु या वस्तुओ से एक निर्दिष्ट तरीके से सादृश्य रखती हैं, विवृत वर्ग का बोध हो जाना चाहिए। जब तक सादृश्य-सिद्धात को यह कहने मे कोई कठिनाई न हो कि वस्तुएँ *एक निर्दिष्ट* बात मे परस्पर सादृश्य रखती है, तब तक विवृत वर्गों के बारे मे सोचने मे कोई वास्तविक कठिनाई नही दिखाई देती।

12. सादृश्य मौलिक हो सकता है।

परतु यह माना गया है 'एक निर्दिष्ट बात मे सादृश्य' को लेकर सादृश्य-सिद्धात के सामने वास्तव मे एक कठिनाई आती है, और यह इसके विरुद्ध प्रायः उठाई जानेवाली दूसरी आपत्ति है। यह दलील दी जाती है कि जब हम दो चीजो को सदृश कहते हैं तब हमारा कथन न्यून होता है, क्योकि दो चीजो को हम तब तक सदृश नही सोच सकते जबतक यह न सोचें कि वे किसी बात मे सदृश हैं और यह भी न सोचें (भले ही अस्पष्ट रूप से) कि वह बात कौन-सी है जिसमे वे सदृश है, हालाकि हम उसके उल्लेख की जरूरत न समझें। इस चीज की ओर हम पहले ही सकेत कर चुके हैं, और इसे हमने मान लिया था, हालाकि थोडे सकोच के साथ। यह सभव लगता है कि इन दो चीजो मे उलझाव हो जाए : (I) अ बिना किसी बात मे सदृश हुए ब के सदृश नही हो सकता, तथा (II) कोई अ और ब को किसी बात मे सदृश सोचे बिना (अथवा उस बात को सोचे बिना जिसमे वे सदृश है या सदृश सोचे जाते है) अ और ब का सदृश होना नही सोच सकता।

अब, एक प्रवृत्ति यह मानने की पाई जाती है कि यदि (I) सही है तो (II) को भी सही होना होगा। परतु, जैसा कि थोडे-से विचार से पता चल जाएगा, (II) बिल्कुल भी (I) का अनिवार्य परिणाम नही है।

लेकिन (I) यदि सही है तो उसे भी सादृश्य-सिद्धात के विरुद्ध इस आधार पर एक आपत्ति के रूप मे लिया जा सकता है कि सादृश्य को सदैव किसी बात मे सादृश्य मानने मे यह मानना गर्भित होता है कि किन्ही भी जिन दो वस्तुओ में

सादृश्य होता है उनमे अवश्य कोई बात समान होनी चाहिए। परन्तु यह केवल तभी आपत्तिस्वरूप होगा जब सादृश्यवादी यह माने कि दो वस्तुओ मे उन्हे जोडनेवाले सादृश्य-सबध से अलग कोई बिल्कुल अभिन्न चीज समान हो; और तब वस्तुतः वह लौटकर अरस्तू या प्लैटो के सिद्धातो मे पहुँच जाएगा। पर क्या हम यह मानने के लिए बाध्य हैं ? निश्चय ही, यदि अ एक लाल गोला है और ब एक लाल घनाकृति है, तो एक बात है जिसमे वे परस्पर सदृश हैं, दोनो मे कोई चीज समान है। वे लाल होने मे परस्पर सादृश्य रखते हैं; दोनो मे समान यह चीज है कि प्रत्येक लाल है। इन दो चीजो मे अतर करना आवश्यक होगा—

(अ) क (जो लाल है) ख (जो लाल है) के सदृश है, और
(ब) क का लाल रग ख के लाल रग के सदृश है।

'सदृश' का प्रयोग हम इनमे से प्रत्येक वाक्य मे कुछ भिन्न अर्थ मे करते हो सकते है—अर्थात् वस्तुओ (क और ख) के बीच का सादृश्य उनके गुणो (क का लाल रग और ख का लाल रंग) के सादृश्य से तार्किक दृष्टि से भिन्न प्रकार का हो सकता है। परतु प्रत्येक के अर्थ को केवल उसका उदाहरण देकर बताया जा सकेगा। यह कहने का कि क और ख मे कोई चीज समान है जिसकी वजह से वे सदृश हैं, मतलब यह है कि क का लाल रग ख के लाल रग के (शायद हू-ब-हू) सदृश है। क के लाल रंग और ख के लाल रग के बीच का सादृश्य मेरे खयाल से एक मौलिक सबध है जिसका और विश्लेषण नही किया जा सकता। यदि कोई चाहे तो कह सकता है कि यह तो तादात्म्य का मामला है। इसमे तबतक कोई हानि नही है जबतक हमे यह स्पष्ट हो कि हमारा मतलब एक के दूसरे के हूबहू सदृश होने से है। हानि तब है जब इसमे हम यह सोचने लगें कि तादात्म्य से हमारा मतलब उस मतलब की तरह है जो हमारे एक आदमी के बारे मे यह कहने का होता है कि वह *वही* आदमी है जो हमे आज सुबह पैडिंगटन मे मिला था। क्योकि 'तादात्म्य' शब्द और उसके समानार्थक हमे इस तरह सोचने के लिए प्रेरित कर सकते है, इसलिए यह न कहकर कि क का लाल रग ख के लाल रग का तदात्म है, यह कहना अधिक अच्छा है कि वह उसके हू-ब-हू सदृश है।

13. सादृश्य एक विलक्षण सामान्य नही है।

तीसरी आपत्ति भी प्रो० प्राइस के ऊपर उल्लिखित व्याख्यान मे दी हुई है,

और बर्ट्रेंड रसेल ने कुछ अधिक विस्तार से उसकी चर्चा की है।[1] संक्षेप में आपत्ति यह है कि सादृश्य-सिद्धांत को स्वयं सादृश्य को एक सामान्य मानना होगा। "यह एक ऐसी चीज है जिसके *अनेक उदाहरण* हैं। यह निस्संदेह संबंध का एक सामान्य है। इसके उदाहरण वस्तुएं स्वतः नहीं है बल्कि संबंधित वस्तुओं के समूह हैं। इसके बावजूद सामान्य तो वह है ही। इस प्रकार अधिक से अधिक जो किया जा सकेगा वह यह है कि *अन्य सभी सामान्यों को इस एक सावधिक सामान्य में परिणत कर* देना होगा"[2]।

लार्ड रसेल ने उन दार्शनिकों की ओर संकेत करते हुए जो सामान्यों में पिंड छुड़ाना चाहते हैं, इसी प्रकार की दलील दी है, और कहा है कि चूंकि हम एक सामान्य, सादृश्य, से पिंड नहीं छुड़ा सकते, इसलिए शेष सामान्यों को भी हम मान सकते हैं। परन्तु यह तो अपने प्रयोजन को पूरा करने के लिए बात को कहने का एक भ्रामक तरीका है। कोई भी सामान्यों को हटाने या समाप्त करने का उस तरह प्रस्ताव नहीं कर रहा है, या कर सकता है, जिस तरह हाउस ऑफ लार्ड्स या मृत्यु-दंड को समाप्त करने का, या अवांछनीय विदेशियों को देश से निकालने का किया जा सकता है। सामान्यों के अस्तित्व से इस अर्थ में भी इन्कार नहीं किया जा रहा है कि वस्तुओं के वर्ग या जातियां होती हैं और हम उन्हें वर्गों या जातियों से संबंधित रूप में सोचते हैं। इन्कार इस बात से किया जा रहा है कि जातियों में रहनेवाली वस्तुओं की ऐसी और भी द्रव्यकल्प या विशेषणरूप सत्ताओं की जरूरत है जो उन वस्तुओं और उनके संबंधों से परे हों। और प्रस्ताव यदि कोई किया जा रहा है तो वह 'सामान्य' शब्द को हटाने का है जो एक संज्ञा-शब्द होने के कारण यह सोचने के लिए प्रेरित-सा करता है कि यह किसी प्रकार की *वस्तुओं* का नाम है, जैसे अधिकतर संज्ञा-शब्द होते हैं, उदाहरणार्थ, 'ऊंट' 'टाइपराइटर' और 'रोडोडेन्ड्रोन'।

अब हम आपत्ति पर ही वापस आते हैं। सादृश्य को पारंपरिक अर्थ में इसलिए एक सामान्य माना जाता है कि यद्यपि हम अन्य सामान्यों की इसके द्वारा परिभाषा कर सकते हैं, तथापि इसकी स्वयं इसीके द्वारा परिभाषा नहीं कर सकते और इसलिए हम इसे एक उदाहरणों वाला सामान्य माने बिना नहीं कर सकते,

---

1. इन्क्वायरी इनटु मीनिंग एंड ट्रुथ, पृ० 343-7; प्रोब्लेम्स ऑफ फिलासफी, पृ० 150-1
2. प्राइस, ऊपर उद्धृत ग्रंथ, पृ० 32।

अर्थात् इसे हमें उस प्रकार का सामान्य मानना पड़ेगा जिस प्रकार का अरस्तू या प्लेटो के समर्थक वस्तुवादियों ने माना है। उदाहरणार्थ, हम मेज-सामान्य की मेजों में रहनेवाले सादृश्य के द्वारा परिभाषा कर सकते हैं, लाल-सामान्य की लाल वस्तुओं में रहनेवाले सादृश्य के द्वारा, इत्यादि। परंतु स्वयं सादृश्य-सामान्य की परिभाषा कैसे दी जाए? हम वस्तुओं के युग्मों में रहनेवाले अनेक सादृश्य-संबंधों को जानते हैं। हमें उन सबको सादृश्य-संबंध कहने का क्या अधिकार है? यदि हम उनके साथ भी वही बात करने की कोशिश करें जो हमने मेजों और लाल के साथ की है, तो यह सादृश्य-सामान्य की परिभाषा सादृश्य-संबंधों में पाए जानेवाले.......... (अनंतों तक) सादृश्य-संबंधों से करनी होगी। इस अनवस्था-दोष से बचने का एकमात्र उपाय यह है कि सादृश्य-सामान्य को एक विलक्षण सामान्य माना जाए जिसके उदाहरण सब सादृश्य-संबंध होंगे। परंतु यदि हम मान लें कि एक भी सामान्य इस तरह का है, तो अन्य सामान्यों को इस तरह का मानने से इन्कार करने का हम क्या हेतु देंगे? यदि सादृश्य-सामान्य एक ऐसा सामान्य है जिसके यह सादृश्य-संबंध, वह सादृश्य-संबंध उदाहरण हैं, तो यह मानने में क्या आपत्ति है कि लाल-सामान्य भी ऐसा है जिसके यह लाल वस्तु, वह लाल वस्तु उदाहरण हैं? जैसा कि प्रो० प्राइस ने कहा है, यह "एक बहुत ही सुव्यक्त कठिनाई है और शायद अत्यधिक दोहराई जाने से त्रासदायक बन गई है। फिर भी, मैं नहीं समझता कि कभी इसका उत्तर दिया गया हो।" लार्ड रसेल ने हिचकिचाहट प्रकट करते हुए भी यह नतीजा निकाला है कि "सामान्य होते हैं......। कम से कम सादृश्य को तो मानना ही होगा; और उस अवस्था में अन्य सामान्यों को हटाने के लिए श्रम-साध्य उपाय अपनाना मुश्किल से सार्थक लगता है।"

लेकिन इस कठिनाई से मतलब क्या निकला? यह कि हम अनवस्था-दोष किए बिना सादृश्य की स्वयं सादृश्य के द्वारा परिभाषा नहीं कर सकते। परंतु क्या यह 'एक सामान्य की परिभाषा कैसे दें,' इस बात को लेकर अपने को घपले में डाल देना नहीं है? जिस बात को करने में हम दिलचस्पी रखते हैं, जिसे करने में असफल होने पर हमें बेचैनी होगी, वह यह है कि विशेष वस्तुओं का किस्मों या जातियों में वर्गीकरण करना है, और जैसा कि हम देख चुके हैं, ऐसा हम सादृश्यों को देखकर और यह निश्चय करके कर ही लेते हैं कि ये सादृश्य उन वस्तुओं को जिनमें वे हैं एक ही जाति के समूह में रखने के लिए पर्याप्त हैं; तदनुसार हम उनका वर्गीकरण एकसाथ करते हैं और उस किस्म के विशेषों के लिए एक ही अनेकव्यापी शब्द का प्रयोग करते हैं। जो हम वस्तुओं के गुणों के या अन्य सम्बन्धों के सम्बन्ध में करते

है, ठीक वही हम सादृश्य-सबधो के सबध मे भी कर सकते है। यदि हम सादृश्य के आधार पर वर्गीकरण को 'एक सामान्य की परिभाषा देना' कहने का आग्रह करते है, तो स्पष्ट है कि हम सादृश्य-सामान्य की परिभाषा नही दे सकते। परन्तु इससे हम क्यो इस प्रकार अनवस्था मे फँस जाते है कि हमे सादृश्य-सामान्य को किसी *अन्य* अर्थ मे सामान्य मानना पड़े ? आलोचना मे यह सिद्धात मान लिया गया प्रतीत होता है कि यदि अ ब के सदृश है और ब स के सदृश है तो दोनो सादृश्यो को वही होना चाहिए, और फलत. यह कि दोनो ही एक सादृश्य-सामान्य के उदाहरण है। लेकिन यह तो 'वही' की द्वयर्थकता का लाभ उठाना हुआ। मान लीजिए कि अ एक नीली वस्तु है, ब एक नीली वस्तु है और स एक नीली वस्तु है, और मान लीजिए कि हमे यह पूछा जाता है कि क्या अ और ब का सादृश्य वही है जो ब और स का है। उत्तर यह है कि 'वही' के एक प्रयोग के अनुसार है और दूसरे प्रयोग के अनुसार हो भी सकता है और नही भी। प्रयोग (i) के अनुसार हम किन्ही भी नीली वस्तुओ के बारे मे यह कहते है कि वे सब रग मे वही हैं, और यह कहने मे कि वे सब रग मे वही है, हम केवल यह कह रहे होते हैं कि वे सब नीली है, और इस प्रयोग के अनुसार हम कहेगे कि अ और ब का सादृश्य वही है जो ब और स का है। प्रयोग (ii) इस तरह के मामलो मे होता है जैसे अ जामुनी नीला है, ब गहरा नीला है और स आसमानी नीला है, इस मामले मे इस प्रयोग के अनुसार हम यह नही कहते कि अ और ब का सादृश्य वही है जो ब और स का है।[1]

वास्तव मे यह सामान्य प्रश्न कि क्या दो सादृश्य वही है, उत्तर देना तो अलग, तब तक समझा ही नही जा सकता जब तक उस प्रयोग को स्पष्ट न कर दिया जाए जिसके अनुसार हम 'वही' को ले रहे है। यदि हम प्रयोग (i) को अपना रहे है तो अ और ब का सादृश्य वही होना चाहिए जो ब और स का है; परन्तु वे वही है, कहने का मतलब केवल यह है कि अ और ब और स नीले होने मे परस्पर सदृश हैं, और इसलिए इस बात से कि ये सादृश्य वही है, यह बात अनुलग्न नही है कि वे किसी सादृश्य-सामान्य के उदाहरण है। यदि हम प्रयोग (ii) को अपना रहे हैं, तो ये सादृश्य वही नही है, और इस बात मे भी कि वे वही नही है, यह बात अनुलग्न नही है कि वे एक सादृश्य-सामान्य के उदाहरण है। निश्चय ही *हमारे लिए* सादृश्य-सामान्य महासामान्य है, और इसका मतलब यह है कि यदि हम उन सादृश्यो का पता लगाने मे जिनका हमे पता लगता है, काफी चतुर न होते तो हमारे पास

---

[1] निस्सदेह इन दोनों प्रयोगों को पहले उल्लिखित प्रयोग से जिसके द्वारा हम किसी व्यक्ति के अभिन्न या अनन्य होने की बात करते है, भिन्न समझना चाहिए।

अनेकव्यापी शब्द हुए ही न होते। कहने का मतलब यह है कि तार्किक दृष्टि से 'सादृश्य', 'समानता', 'तादात्म्य' इत्यादि शब्द इस तरह के शब्दों से पहले वाले हैं, जैसे 'मेज', 'टाइपराइटर', 'कमाल' इत्यादि, परंतु पहले वाले उतने ही अनेकव्यापी हैं जितने बाद वाले। यदि दुनिया हू-ब-हू वैसी ही होती जैसी अब है, और सिर्फ उसमें सोचनेवाली बुद्धियां न होती, तो उसमें वस्तुएं होतीं और वस्तुओं के बीच सादृश्य और असादृश्य के विविध संबंध भी होते। यह कहने का हमारे पास क्या हेतु है कि बुद्धि की उपस्थिति सादृश्य-सामान्य को उससे भिन्न प्रकार का सामान्य बना देती है जो यह उसकी अनुपस्थिति में होता ?

पंचम अध्याय

निर्णय

1. क्या प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व है

हमने पहले अध्याय में यह प्रश्न उठाया था कि "ज्ञान और विश्वास में हमें चेतना किस चीज की होती है ?" और इसकी प्रारंभिक चर्चा में दो बातें प्रकट हुई थी।[1] पहली बात यह प्रकट हुई थी कि इस प्रश्न का उत्तर 'तथ्य' नही हो सकता; कम से कम विश्वास के मामले में तो 'तथ्य' बिल्कुल नही हो सकता, क्योंकि विश्वास सही भी हो सकते है और गलत भी। चूंकि 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग हम संज्ञान के केवल उस रूप के लिए ही करते हैं जो गलत नही होता, और हम ज्ञान होने के किसी भी दावेदार के लिए जो गलत निकले, इस शब्द का प्रयोग बंद कर देते है (जैसे "मैं समझा था कि मैं इसका उत्तर जानता हूँ, पर अब मैं मानता हूँ कि यह मेरी गलती थी।"), इसलिए यदि हम चाहे तो कह सकते है कि ज्ञाता के मन मे केवल तथ्य विद्यमान रहता है। दूसरी बात जो उस चर्चा मे सामने आई थी यह थी कि विश्वास के मामले में *तथ्य जो काम स्पष्टतः नही कर सकते वह काम प्रतिज्ञप्तियां*[2] *नाम की* चीजें कर सकती हैं। वहां आपाततः द्वैतवाद के पक्ष में मामला बना था, जिसके अनुसार *मानसिक वस्तुएं* किसी तरह मन और जिसके विषय में उसका निर्णय या विश्वास होता है उसके मध्यस्थ होती हैं। इसके बाद आपाततः द्वैतवाद के विरुद्ध मामला पाया गया था और उसे विशेष रूप से प्रत्यक्षविषयक द्वैतवाद के विरुद्ध बनाकर लॉक के सिद्धात का उदाहरण देकर समझाया गया था। मामला लॉक के लिए काफी

---

1. पृ० 21।
2. पृ० 24।

अनिष्टकारी सिद्ध हुआ था और उससे प्रकट हुआ था कि यदि ज्ञानमीमांसीय द्वैतवाद स्वीकार्य हो तो भी कम से कम उस सरल रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता जिसमें लॉक ने उसे प्रस्तुत किया था। अब मैं निर्णय के स्वरूप और प्रतिज्ञप्तियों के प्रकार पर अधिक बारीकी से विचार करना चाहता हूँ, क्योंकि पहले की संक्षिप्त चर्चा के अंत में ये बातें अधर में छोड़ दी गई थीं।

सबसे पहले, प्रस्ताधीन मत के अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ क्या हैं? वे काल-निरपेक्ष स्वतन्त्र वस्तुएं लगती हैं जिनका निर्णय की क्रियाओं से मन को बोध होता है। एक ओर वाक्यों से और दूसरी ओर घटनाओं से उनका भेद करना होगा। अंग्रेजी का वाक्य "जॉर्ज बर्कली वाज बोर्न इन 1685 ऐट डीसर्ट नियर टॉमस टाउन इन को० किलकेनी", हिंदी के वाक्य "जॉर्ज बर्कली किलकेनी जिले में स्थित टॉमस-टाउन के निकट डीसर्ट नामक स्थान में 1685 में पैदा हुआ था" से भिन्न है, परंतु प्रत्येक दूसरे का सही अनुवाद है। वे सही अनुवाद इसलिए हैं कि प्रत्येक अपनी-अपनी भाषा में उसी बात का कथन करता है : एक अंग्रेज पहले वाक्य को सुनकर ठीक वही समझेगा जो एक हिंदीभाषी दूसरे को सुनकर समझेगा। ये दो भिन्न वाक्य जिस एक ही बात को कहते हैं वह यह प्रतिज्ञप्ति है कि जॉर्ज बर्कली किलकेनी जिले में स्थित टॉमसटाउन के निकट डीसर्ट नामक स्थान में 1685 में पैदा हुआ था, और इसका दोनों वाक्यों से भेद करना होगा। फिर इसका उस घटना से भी भेद करना होगा जिसे बताना इसका उद्देश्य है और जिसे यह यहां यथार्थ रूप से बताती है। बर्कली का जन्म उस सन् में उस स्थान पर *हुआ था*। परंतु इस घटना का संबंध तो एक विशेष स्थान और एक विशेष तिथि से है, क्योंकि वह डीसर्ट में एक विशेष मकान के अंदर एक विशेष दिन को घटी थी, जबकि इस बात को बतानेवाली प्रतिज्ञप्ति का न कोई विशेष स्थान है और कोई विशेष तिथि। यद्यपि यह कहना अर्थ रखता है कि एक घटना मार्च 12, 1685 को घटी थी, तथापि प्रतिज्ञप्ति के बारे में ऐसा कहना सार्थक नहीं है। इस प्रकार, प्रतिज्ञप्ति एक तरफ तो लिखित या बोले हुए उन सब विविध वाक्यों से भिन्न होती है, जिनमें उसे व्यक्त किया जा सकता है, और दूसरी तरफ उन घटनाओं से भिन्न होती है, जिन्हें बताना उसका उद्देश्य होता है और जो उसे सही या गलत बनाती हैं।

निस्संदेह ऐसा नहीं मानना चाहिए कि प्रतिज्ञप्ति और घटना का संबंध उतना सीधा-सादा होता है जितना बर्कली के उदाहरण में है। उसमें प्रतिज्ञप्ति ने एक घटना का होना बताया है, परंतु सब प्रतिज्ञप्तियां घटनाओं का होना (या न होना) नहीं बतातीं। कुछ प्रतिज्ञप्तियां यह बताती हैं कि यदि एक घटना होती है तो क्या

बातें होगी, अथवा यदि एक प्रकार की अमुक घटना होती है तो दूसरे प्रकार की एक घटना भी होगी। प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तिया और उसके नियम इस प्रकार के होते है। इस प्रकार की प्रतिज्ञप्तिया किसी एक संबधित घटना के न होने से गलत सिद्ध नही होती, जबकि पहले प्रकार की प्रतिज्ञप्तिया ऐसी स्थिति मे गलत सिद्ध हो जाती हैं। यदि बर्कली 1685 मे डोमर्ट मे पैदा नही हुआ था, तो उसके पैदा होने की बात बतानेवाली प्रतिज्ञप्ति गलत है। परतु "यदि आप बच्चे को खिडकी से बाहर फेंक दें तो वह जमीन पर गिर जाएगा," इस वाक्य मे व्यक्त प्रतिज्ञप्ति उस दशा मे गलत सिद्ध नही होगी जब आप बच्चे को खिडकी से बाहर नहीं फेंकते। वह गलत सिद्ध केवल तब होगी जब आप बच्चे को खिडकी से बाहर तो फेंकते है, पर वह जमीन पर नही गिरता—अर्थात जब साथ-साथ घटनेवाली बताई गई दो घटनाओं मे से एक तो होती है पर दूसरी नहीं होती।

द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियो के पक्ष में युक्तिया।

प्रतिज्ञप्ति-विषयक ऐसे सिद्धात के पक्ष मे अनेक आपातत. आकर्षक युक्तिया दी गई है। वे सब समान रूप से यह प्रदर्शित करती है कि अभ्युपगत प्रकार की प्रतिज्ञप्तिया उन शर्तों को पूरी करती हैं, जिन्हे स्वीकार-योग्य होने के लिए प्रकटत किसी भी निर्णय-विषयक सिद्धात को अवश्य पूरा करना चाहिए। पहली बात यह है कि इस सिद्धात से "विषयिनिरपेक्ष सत्य" (तथा तुल्यत विषयिनिरपेक्ष असत्य) सभव हो जाते है, जैसे गणित या तर्कशास्त्र के सत्य। हम सब न केवल यह मानते है कि $3 \times 4 = 7+5$, बल्कि यह भी यह एक विषयिनिरपेक्ष सत्य है, अर्थात यह भी कि किसी भी व्यक्ति के इसपर विश्वास करने से पहले ही यह सत्य था, और कि किसी भी समय जब कोई इसके बारे मे सोच भी न रहा हो, यह सत्य होगा। हम "स्थिर सत्यों" और "अस्थिर सत्यों" के बीच भेद किया करते है (ऐसा करना सही है या गलत, इससे यहा मतलब नही है)। ये नाम शायद बिल्कुल सही न हो, पर हमारे प्रयोजन के लिए ये पर्याप्त है। एक स्थिर सत्य वह होगा जो स्थान या काल की अपेक्षा रखे बिना सदैव सत्य हो, और अस्थिर सत्य वह होगा जो एक विशेष काल और स्थान से या काल और स्थान की एक निर्दिष्ट परिधि के अदर बंधा हो। "$3 \times 4 = 7 + 5$," और "यदि अ7ब7और ब7स, तो अ7स" कभी भी और कहीं भी सत्य है, जबकि यह कि कल रात तापमान हिमाक से छ अश नीचे था, 'कहीं भी और कभी भी सत्य' नहीं है।[1]

---

1. अर्थात् "कल रात तापमान हिमाक से छः अंश नीचे था." यह वाक्य ऐसी सत्य प्रतिज्ञप्ति

उक्त प्रतिज्ञप्ति-सिद्धांत के पक्ष में यह प्रथम युक्ति केवल स्थिर सत्यों से, जिन्हें मैंने पीछे "विषयिनिरपेक्ष सत्य" कहा है, संबंधित है। हम यह मानते हैं कि ऐसे सत्य किसी व्यक्ति के उन्हें सोचने पर आश्रित नहीं होते, और कि उन्हें सोचना अपने लिए कोई चीज गढ़ना नहीं है बल्कि किसी ऐसी चीज का पता करना है जो पहले से ही विद्यमान है। यदि इस सिद्धांत के द्वारा मानी गई ये कालनिरपेक्ष स्वतंत्र प्रतिज्ञप्तियां जिनसे निर्णय की क्रिया में मन का संपर्क होता है, हैं, तो "$3 \times 4 = 7 + 5$", इस प्रतिज्ञप्ति को सोचना ऐसी चीज का (यहां एक सत्य प्रतिज्ञप्ति का) अन्वेषण या पुनरन्वेषण करना होगा जो अन्वेषण या पुनरन्वेषण के लिए सदा से मौजूद है और हमारे सोचने के समाप्त होने के साथ लुप्त नहीं हो जाती। संक्षेप में, यह सिद्धांत उस स्थिरता और विरतनता की व्याख्या कर देने का दावा करता है जो विषयिनिरपेक्ष सत्यों की मुख्य विशेषता है।

दूसरी बात यह है कि यह प्रतिज्ञप्ति-सिद्धांत हमारे निर्णयों की उस विशेषता के लिए जिसे "सर्वगोचरता" कह सकते हैं और भाषा के माध्यम से संज्ञापन या सूचन की संभावना के लिए गुंजाइश रखता है। दो आदमियों के बीच वार्तालाप उस हालत में असंभव होता है जब वे एक-दूसरे की बात नहीं समझते, और सहमति तब तक असंभव होती है जब तक वे एक-दूसरे को समझने के अतिरिक्त एक ही बात को स्वीकार न करते हों। गलत सहमति ठीक तब होती है जब वे यह सोचते होते हैं कि वे एक ही बात को स्वीकार कर रहे हैं जबकि वे ऐसा नहीं कर रहे होते, और इसका कारण शायद यह होता है कि वे कुछ अंश में एक-दूसरे को गलत समझ रहे होते हैं। मैं अपनी पत्नी से केवल इसलिए बात कर सकता हूं कि जब मैं एक वाक्य का प्रयोग करता हूं तब वह मेरा मतलब समझती है, और उसका मेरे मतलब को सम-

---

को व्यक्त नहीं करता जो कालनिरपेक्ष और स्थाननिरपेक्ष हो। यदि यहां कल रात तापमान हिमांक से छः अंश नीचे था, तो यह बतानेवाली प्रतिज्ञप्ति कि ऐसा था, सत्य है और इसका सत्य होना उस काल और स्थान से निरपेक्ष है जिसमें उसका अभिकथन किया गया है। परंतु वाक्य के जिस रूप में उसका अभिकथन किया गया है वह उनपर अवश्य आश्रित है: यदि मैं कल रात की ठंडक को आज बताना चाहता हूं तो मैं इस वाक्य का प्रयोग करूंगा कि "कल रात तापमान हिमांक से छः अंश नीचे था" और यदि मैं कल यह बताना चाहता हूं तो मेरा वाक्य यह होगा कि "परसों रात तापमान हिमांक से छः अंश नीचे था।" दोनों ही वाक्य उसी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करते हैं, और यदि वाक्य घटना को कैलेंडर की तिथि के अनुसार बताए, न कि कथन के समय के अनुसार, तो दोनों ही अवसरों पर प्रतिज्ञप्ति बिल्कुल एक ही शाब्दिक रूप में व्यक्त होगी, अर्थात्, "15—16 फरवरी, 1947 की रात का यहां का तापमान हिमांक से छः अंश नीचे था," इस रूप में।

ज्ञना न केवल उसका हिंदी [1] के शब्दों का हिंदी-व्याकरण, वाक्य-विन्यास और बोलचाल के नियमों के अनुसार प्रयोग करने में समर्थ होने से है, बल्कि शब्दों को वस्तुओं के प्रतीकों के रूप में लेते हुए उनका अर्थ समझने में समर्थ होने से भी है। यदि बोलना और सुनना नियमों के अनुसार शब्दों का प्रयोग मात्र होता तो वार्तालाप शतरंज का अव्यवस्थित और निरुद्देश्य खेल-जैसा होता (जब लोग बात करने के खातिर बात करते हैं तब बहुत प्राय. लगभग यही होता है)। एक और चीज जो आवश्यक है, यह है कि शब्दों और वाक्यों को किसी के प्रतीक होना चाहिए; जिसके वे प्रतीक होते हैं वह उनका अर्थ होता है और जो उनका अर्थ होता है वह एक प्रतिज्ञप्ति है। इस प्रकार यदि मैं अपनी पत्नी से कहता हूं कि "टेलीफोन खराब है," तो मेरा कहना उसकी समझ में आता है, केवल इसलिए नहीं कि हम दोनों हिंदी-व्याकरण के नियमों के अनुसार वाक्यों का प्रयोग कर सकते हैं, बल्कि इसलिए भी कि हममें से प्रत्येक के सामने वही प्रतिज्ञप्ति है। हमारे मध्य कोई चीज समान या अनेकगोचर होनी चाहिए और वह चीज, जो कि स्पष्टत. मेरे द्वारा उच्चरित वाक्य का अर्थ है इस सिद्धांत के द्वारा एक प्रतिज्ञप्ति के रूप में प्रस्तुत की गई है।

बुद्धिनिरपेक्ष होने से प्रतिज्ञप्तियां किसी एक मन की निजी चीजें नहीं होतीं, इसलिए जो मैं सोच रहा हूँ उसे मेरे अतिरिक्त अन्य लोग भी सोच सकते हैं; और यदि जो मैं सोच रहा हूँ उसे मैं इस वाक्य के रूप में व्यक्त करूं कि "टेलीफोन खराब है," तो इसे सुननेवाले किसी भी व्यक्ति के लिए जो हिंदी की पर्याप्त जानकारी रखता है, ठीक उस चीज को सोचना संभव है जिसे मैं सोच रहा हूँ। निस्संदेह यह सिद्धांत यह नहीं कह रहा है कि जब दो व्यक्ति बातचीत करते होते हैं तब उनके विचारों में कोई भी अंतर नहीं होता, कि एक केवल वही सोच रहा होता है जो दूसरा सोच रहा होता है। उसे ऐसी कोई बात कहने की जरूरत नहीं है, बल्कि केवल यह कहने की जरूरत है कि वार्तालाप को संभव करने के लिए विचारों में कम से कम कितना तादात्म्य हो। हो सकता है कि मैं टेलीफोन की खराबी का कारण स्वचालित एक्सचेंज में रिले स्विच का टूटना या करेंट का न होना सोचूं और मेरी पत्नी रिसीवर में गड़बड़ी होने या कुछ अनिश्चय के साथ टेलीफोन-केन्द्र की दुर्भावना या अकुशलता की बात सोचे। परंतु हममें से प्रत्येक जो कुछ भी ऐसा सोच रहा हो जो दूसरा नहीं सोच रहा है उसके बावजूद दोनों के सोचने में कोई अल्पतम तादात्म्य

1. मूल में 'अंग्रेजी' है—अनु०।

होना जरूरी है, क्योंकि अन्यथा मेरी पत्नी से यह उत्तर मिलने की कि "क्या मुरा-डाइजर को आपने यह बात बता दी है ?" इन उत्तरों से,अधिक संभावना नहीं होगी कि "हमें कुछ अधिक खरीदना होगा" या "मुझे अपना सिगरेट लाइटर देना," अथवा कोई भी अन्य उत्तर जिसका टेलीफोन की खराबी से कोई संबंध न हो।

बोली हुई या लिखित भाषा के द्वारा दो व्यक्तियों के मध्य विचारों का आदान-प्रदान उनके बीच किसी चीज के समान होने का सबसे स्पष्ट उदाहरण है, परंतु यही एकमात्र उदाहरण नहीं है। ऐसा हो सकता है कि दो व्यक्ति स्वतंत्र रूप से एक ही समस्या पर काम करें और उसके एक ही समाधान पर पहुँचें। उनके उसे हल करने के तरीके भिन्न हो सकते हैं, पर मूल प्रश्न और अंतिम हल दोनों के एक ही हैं : इस सिद्धांत के अनुसार, यदि हम समझ लें कि अ ने जिस समस्या को लेकर काम शुरू किया था उसको व्यक्त करनेवाली प्रतिज्ञप्ति, ब ने जिस प्रतिज्ञप्ति को लेकर काम शुरू किया था उसकी जुड़वा मात्र न होकर अक्षरशः वही है, और अ का हल भी अक्षरशः वही है जो ब का हल है, तो यह भी आसान बन जाता है। "डेली ब्लास्ट" नामक अखबार के सब अभ्यस्त पाठक जो उसमें दिए हुए ऐंग्लो-रिटेनियन व्यापार-वार्ताओं की असफलता के कारण से सहमत हैं, एक ही प्रतिज्ञप्ति से सहमत हैं; इससे भिन्न और विपरीत दूसरी प्रतिज्ञप्ति को वे नागरिक स्वीकार करते हैं जो 'मॉर्निंग कू' को पढ़ते और मानते हैं। प्रत्येक मामले में उन व्यक्तियों की एक बड़ी संख्या है जिनके मन में एक ही विचार है (हालांकि दूसरे अर्थ में शायद एक ही विचार नहीं है)। इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक समूह के अलग-अलग सदस्य एक ही विषयिनिरपेक्ष प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार करते हैं।

यह सिद्धांत एक प्रतिज्ञप्ति और उन वाक्यों में जिनके द्वारा समय-समय पर उसे व्यक्त किया जा सकता है, जो भेद करता है उसमें प्रतिज्ञप्तियाँ भाषाओं के वैविध्य के बावजूद तटस्थ बनी रहती हैं। ऊपर उद्धृत अंग्रेजी और हिंदी के वाक्य एक ही प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करते हैं, जो कि इन भाषाओं में से किसी की भी नहीं है और न किसी एक में विशेष रूप से संबंधित ही है। अंग्रेजी या हिंदी प्रतिज्ञप्ति नाम की कोई चीज नहीं होती। केवल अंग्रेजी या हिंदी वाक्य होते हैं जो प्रस्ताधीन प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के अधिक या कम सशक्त तरीके हो सकते हैं। अंग्रेजी वाक्य का प्रयोग करनेवाला अंग्रेज उसी प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त कर रहा होता है जिसे हिंदी वाक्य का प्रयोग करनेवाला हिंदुस्तानी। यदि उनमें से कोई दूसरे की भाषा के संबंधित वाक्य को न जाने और न उसे देखने-सुनने पर पहिचाने, तो यह बिल्कुल ही अप्रासंगिक बात होगी, क्योंकि जो चीज उनके मध्य समान है उसका शब्दों के

ामी रूप से बिल्कुल भी कुछ लेना-देना नही है, वह तो एक भाषानिरपेक्ष प्रतिज्ञप्ति ात है।

इस सिद्धात के अनुसार प्रतिज्ञप्ति जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के बीच टस्थ रहती है (उसको 'अनेकगोचर' कहने का यही अर्थ है) और विभिन्न भाषाओ ; बीच तटस्थ रहती है, उसी प्रकार विभिन्न तिथियो के बीच भी वह तटस्थ रहती । यदि कल मेरा खयाल था कि बडा दिन पिछले साल मगल को पडा था, और दि आज भी मेरा यही खयाल है, तो प्रत्येक मे जिस प्रतिज्ञप्ति को मैं स्वीकार कर रहा हूँ वह एक ही है। इस बात से कि पहला खयाल शनि की सुबह को और दूसरा रवि की शाम को हुआ, यह तथ्य नही बदलता कि दोनों मे खयाल मुझे एक ही चीज का हुआ, अर्थात् उसका जो "बडा दिन पिछले साल मगल को पडा था," इस वाक्य से व्यक्त होती है।

फिर प्रतिज्ञप्तियो को विभिन्न अभिवृत्तियो के बीच भी तटस्थ होना होगा, क्योंकि मुझे यह कुतूहल हो सकता है कि कही अमुक बात तो नही है और बाद मे यह विश्वास हो सकता है कि वह बात है, और जो अब मैं विश्वास करता हूँ वह वही है जिसके बारे मे पहले मुझे कुतूहल हुआ था। मनन, कुतूहल, सशय, विश्वास, अविश्वास, निश्चित मानना इत्यादि विभिन्न मानसिक अभिवृत्तिया विभिन्न अवसरो पर विभिन्न क्रमो मे ली जा सकती है। उदाहरणार्थ, पहले मे यह विश्वास कर सकता हूँ कि बडा दिन पिछले साल मगल को पडा था, तब अपनी पत्नी के जोर देने पर कि मगल को नही पडा था, शायद मुझे कुतूहल हो कि मगल को पड़ा था या नही; फिर यह सोचते हुए कि अन्य बातो मे मैंने अपनी पत्नी की स्मृति को अधिक विश्वसनीय पाया है, शायद मुझे अपनी बात पर सशय हो जाए, फिर मुझे यह समझकर उसपर अविश्वास हो सकता है कि बडा दिन सप्ताह के उसी दिन पडता है जिस दिन अगले साल का पहला दिन और मेरी स्मृति के अनुसार पहला दिन बुध को पडा था; और अत मे मुझे निश्चय हो जाएगा कि बडा दिन मगल को नही पडा था क्योकि अब मुझे पिछले साल का कलेंडर मिल गया है जिसमे बडा दिन बुध को दिखाया गया है। प्रत्येक बाद की अभिवृत्ति उसी बात के प्रति अपनाई गई एक भिन्न अभिवृत्ति है, और वह बात एक अकेली प्रतिज्ञप्ति होगी जिसे मैं क्रमिक रूप से विश्वास, कुतूहल और अविश्वास का विषय बनाता हूँ और अत मे निश्चय के साथ अस्वीकार कर देता हूँ। निर्णयविषयक कोई भी सिद्धात स्वीकार-योग्य तभी होगा जब वह उन सबमे किसी अर्थ मे समान किसी चीज के प्रति अभिवृत्ति के अतरो के लिए गुंजाइश रखे, और प्रश्नाधीन सिद्धात इस समान तत्व को एक

प्रतिज्ञप्ति का रूप देकर, जो उन सबसे स्वतंत्र है, ऐसा काफी सफाई के साथ कर देता है।

इस सिद्धांत के पक्ष में एक इस अंतिम बात का उल्लेख कर देना चाहिए कि यह उस असंगति के लिए गुंजाइश रखता है जो लोगों के विश्वासों में तब होती है जब वे परस्पर असहमत होते हैं। यदि मेरा निर्णय है कि दस बजा है और आपका निर्णय है कि ग्यारह बजा है, तो हमारे विश्वास असंगत हैं, इस अर्थ में कि उनमें से कम से कम एक गलत है, दूसरा चाहे सही हो या नहीं। और यदि मेरा निर्णय है कि इस समय वर्षा हो रही है और आपका निर्णय है कि वर्षा नहीं हो रही है, तो हमारे विश्वास इस अर्थ में असंगत हैं कि हममें से एक सही है और दूसरा अवश्य ही गलत। अब, यदि निर्णय में केवल मन और तथ्य ही शामिल होते तो हमें अपेक्षित असंगति न मिलती। स्पष्ट है कि तथ्य परस्पर असंगत नहीं हो सकते। निस्संदेह, यह दिखाने का सबसे आम तरीका कि एक आदमी ने जो कुछ कहा है वह गलत है, यह दिखा देता है कि वह किसी एक या अन्य तथ्य से असंगति रखता है। परन्तु यदि तथ्य ही परस्पर असंगत हो सकते तो खंडन का यह तरीका वैध न होता।

यदि मैं कहता हूं कि घास कल अपराह्न में काटी गई थी और आप मेरी बात का खंडन यह दिखाकर करते हैं कि घास अब दो इंच लंबी है, तो मैं आपके खंडन को इस आधार पर अवश्य स्वीकार करूंगा कि जो मैंने कहा वह स्वीकृत तथ्य से असंगत है। अथवा, यदि मैं आपके खंडन को स्वीकार नहीं करता, तो इसका कारण मेरा यह मानना नहीं होगा कि तथ्य असंगत हो सकते हैं, बल्कि मेरा यह मानना होगा कि बताई हुई असंगति वास्तव में है ही नहीं—हो सकता है कि घास काटने की मशीन को ऊंचा काटने की स्थिति में रखा गया हो, या उसके ब्लेड कुन्द रहे हों, या घास ही को इतनी खाद मिली हो कि रात-भर में ही वह इतनी अधिक बढ़ गई हो। मेरी समझ से कोई भी इस बात के समर्थन में गंभीरता के साथ दलील नहीं देना चाहेगा कि तथ्य परस्पर असंगत हो सकते हैं, हालांकि ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जिन्हें हम तब तक तथ्य मानकर चलते हैं जब तक हम उन्हें अन्य तथ्यों के विरुद्ध नहीं पाते।

अभिवृत्तियों का मामला कुछ भिन्न है : हम अभिवृत्तियों के परस्पर असंगत होने की बात कहते अवश्य हैं, और ऐसा कहने में हमारा अभिप्राय दो भिन्न चीजों में से एक या दूसरा हो सकता है। बात को सरल बनाने के खातिर, मान लीजिए कि दो असंगत अभिवृत्तियों में से प्रत्येक एक अलग व्यक्ति की है। तब, हमारा अभि-

प्राय, एक ओर, मोटे तौर से यह हो सकता है कि उनकी अभिरुचिया अलग-अलग है और इस मामले मे उनकी अनुभूतिया बडी तीव्र है—जैसे, एक को धूप की सुगंध पसद है और दूसरे के लिए वह असह्य है, कुछ देशो के लोग चित्तप्रकृति की असंगति या मानसिक क्रूरता के आधार पर विवाह-विच्छेद तक का समर्थन कर सकते है। परतु अभिवृत्तियो की इस प्रकार की असगति से स्पष्टत तब हमारा अभिप्राय नही होता जब हम कहते हैं कि मेरा "इस समय वर्षा हो रही है", यह निर्णय आपके "इस समय वर्षा नही हो रही है", इस निर्णय से असंगत है। यहा निश्चय ही उस दूसरे प्रकार की *असगति से अभिप्राय है जो तब होती है जब जिसमे मैं विश्वास करता हू उसमे आप अविश्वास करते हैं। यहाँ भी हमारी अभिवृत्तिया* भिन्न और असगत हैं, पर पहली से भिन्न रूप मे। उन्हे असंगत कहने मे हमारा मतलब यह नही है कि हमारी अनुभूतिया या अभिरुचिया भिन्न हैं (उनकी भिन्नता को लेकर अनुभूति का तीव्र होना तो दूर की बात रही), बल्कि यह है कि एक का जो विश्वास है वह दूसरे के विश्वास से असंगत है, जिसमे हम दोनो सही नही हो सकते।

सक्षेप, मे प्रश्नाधीन असगति, जिसका हम पूरी बात को न बताते हुए अपनी अभिवृत्तियो मे होना कहते हैं, बिल्कुल भी हमारी अभिवृत्तियों की असगति नही है, बल्कि हमारी अभिवृत्तियो के *विषयों की असगति है, और यह ठीक* वही असगति है जिसका तथ्यों मे होना हम पहले ही अस्वीकार कर चुके है। अतः हमे जरूरत किसी ऐसी चीज की है जो एक विश्वास का विषय हो सकती है और जो तथ्यो से असगत हो सकती है, और न केवल तथ्यो से बल्कि अपनी ही तरह *की अन्य चीजो से भी असगत हो सकती है। यदि मेरा विश्वास है कि अभी दस बजा* है और आपका विश्वास है कि अभी ग्यारह बजा है तो हमारे विश्वास परस्पर असंगत हैं, भले ही तथ्यो से वे असगत हो या न हो (यदि अभी वस्तुत बारह बजा है, तो वे तथ्यो से असगत होगे)। इस बात पर कोई शायद ही विवाद करेगा कि इस प्रकार की असगति के लिए हमे कुछ गुंजाइश छोडनी ही होगी। प्रश्नाधीन सिद्धात के द्वारा प्रस्तावित प्रतिज्ञप्तियो को एक बार और स्वीकार कर लेने के अलावा अन्य कौन-सा सरल उपाय ऐसी गुंजाइश छोडने का हो सकता है? क्योकि तथ्य परस्पर असगत नही हो सकते, और क्योकि प्रसंग से सबद्ध अर्थ मे मानसिक अभिवृत्तिया परस्पर *असगत नही होती (वांछित असगति उनमे नही बल्कि उनके विषयों मे होती है),* इसलिए यह दलील दी जाती है कि हमे केवल प्रतिज्ञप्तियो को ही आवश्यकता को पूरी करनेवाली चीजो के रूप मे स्वीकार करना होगा।

3. प्रतिज्ञप्ति-सिद्धांत की कठिनाइयां।

[यहां तक हमने इस सिद्धांत के समर्थन में कहा है कि निर्णय में मन के सामने तथ्य नहीं बल्कि वे स्वतंत्र चीजें होती हैं जिन्हें प्रतिज्ञप्तियां कहा जाता है। जो युक्तियां हमने इस सिद्धांत के पक्ष में दी हैं उनसे ऐसी अनेक शर्तें सामने आई हैं जिन्हें निर्णय-विषयक किसी भी संतोषप्रद सिद्धांत को पूरा करना होगा, और उनका उद्देश्य यह दिखाना है कि प्रश्नाधीन सिद्धांत किस प्रकार उन्हें पूरा करता है। हम अवश्य मानते हैं कि सार्वभौम सत्य, जैसे गणित और तर्कशास्त्र के सत्य होते हैं, एक ऐसी विषयिनिरपेक्षता रखते हैं जो किसी भी व्यक्ति के उनके बारे में सोचने पर आश्रित नहीं होती। लोगों का वही चीजें सोचना जो दूसरे सोचते हैं, वार्तालाप में अपने विचारों का आदान-प्रदान करना, राष्ट्रीयता या भाषा के भिन्न होने के बावजूद एकसी बातें सोचना, जो कल सोचा वही आज भी सोचना, जिस बात में पहले विश्वास या संदेह किया था उसे अस्वीकार या स्वीकार करना, और अंत में परस्पर इस प्रकार असहमत होना कि कम से कम एक विवादी अवश्य ही गलत होगा, यह सब संभव होना चाहिए।]

इन सब बातों को संभव इसलिए होना चाहिए कि ये वास्तव में होती हैं, और हम सब इन सबसे पूरी तरह सुपरिचित होते हैं। फलतः निर्णय के स्वरूप की कोई भी व्याख्या जिसकी इन सबसे संगति न हो, स्वीकार नहीं की जा सकती। और प्रतिज्ञप्ति-सिद्धांत के समर्थन में जो युक्तियां दी गई हैं उनका काम आवश्यक शर्तों की सूची देना तथा यह दिखाना रहा है कि बारी-बारी से प्रत्येक शर्त को प्रश्नाधीन सिद्धांत ने पूरा कर दिया है। परंतु उसका समर्थन करनेवाली इन सब बातों के बावजूद मैं उसे स्वीकार करने में असमर्थ हूं, क्योंकि इस बात से निर्णायक रूप से उसकी सत्यता सिद्ध नहीं होती कि यह सिद्धांत आवश्यक शर्तों को पूरा कर देता है। अन्य सिद्धांत भी ऐसे हो सकते हैं जो उन्हीं शर्तों को पूरा करते हों। और कुछ अन्य शर्तें भी ऐसी हो सकती हैं जो अभी बताई न गई हों और जिन्हें यह सिद्धांत पूरा न करता हो।]

4. प्रतिज्ञप्ति किस प्रकार की चीज़ होगी ?

प्रतिज्ञप्ति-सिद्धांत की आकर्षकता इस बात में रही है कि वह सूची की प्रत्येक शर्त के अनुसार अपेक्षित कोई चीज़ दे सकी है। एक ऐसी चीज़ की जरूरत थी जो विषयिनिरपेक्षतः सत्य हो सके, जो विभिन्न व्यक्तियों, भाषाओं, तिथियों इत्यादि के

मध्य तटस्थ (या अनेकगोचर) रह सकती हो, और यह जरूरी चीज इस सिद्धांत ने एक प्रतिज्ञप्ति के रूप मे प्रदान की थी। परंतु अब प्रश्न यह है कि यह प्रतिज्ञप्ति किस प्रकार की चीज है? अभी तक कुछ भी इसके बारे मे नही बताया गया है, अलावा इसके कि यह वह लापता चीज है जो कुछ शर्तों की पूर्ति करती है। जब यह पूछा जाता है कि प्रतिज्ञप्ति क्या है, तब इस सिद्धांत के अनुसार एक हल्का और बुझा हुआ उत्तर दिया जाता है। पहले हम पूछते है कि इसका अस्तित्व किस प्रकार का है? स्पष्ट है कि इसका अस्तित्व वैसा नही है जैसा एक भौतिक वस्तु का होता है। यह कहने का कि एक भौतिक वस्तु, जैसे यह पुस्तक, अस्तित्व रखती है, यह अर्थ है कि वह जो भी उसे उठाना, पढ़ना या फेंकना चाहे, उसके लिए यहाँ पर रखी है, कि यदि मैं उसे इस मेज पर पड़ी छोड़ दूं तो जो भी व्यक्ति मेरे बाद यहाँ आएगा वह उसे इसी मेज पर पाएगा, न कि आलमारी के अदर, कि यदि वह आग से न जले या पानी मे न गले तो शायद आनेवाले काफी वर्षों तक वह काफी अधिक वैसी ही दिखाई देगी जैसी अब है, इत्यादि। संक्षेप मे, जब हमे एक भौतिक वस्तु के अस्तित्व की बात करनी होती है, तब हम बताते है कि वह कैसी दिखाई देगी, उसकी कहाँ स्थिति है, किस समय स्थिति है, और कितनी अवधि मे स्थिति है।

यदि इंद्रिय-दत्तो और भौतिक वस्तुओ का वह अंतर सही है जो प्रत्यक्षविषयक सिद्धांतों मे प्रायः किया जाता है और इस पुस्तक के प्रारभ मे बताया गया था,[1] तो दत्तो का जिस प्रकार का अस्तित्व समझना है वह शायद उस अस्तित्व से भिन्न है जो वस्तुओ का मानना है। इस बात को हम पूर्णतः यथार्थ तरीके से तो नही बता सकते, लेकिन सुविधा के लिए चित्रात्मक रूप मे यों बता सकते है कि इंद्रिय-दत्त को हम भौतिक वस्तु के इतिहास का एक बहुत ही लघु अश मान सकते हैं। पेनी को देखकर हमे जो दीर्घवृत्तीय आकृति प्राप्त होती है उसका अस्तित्व है; परंतु इस कथन से कि उसका अस्तित्व है, हमारा वह मतलब नही है जो हमारे इस कथन का है कि पेनी का अस्तित्व है। दीर्घवृत्तीय आकृति के अस्तित्व से हमारा मतलब उसका उप-स्थित होना है, और हम यह नही मानते कि वह तब भी बनी रहती है जब हम दूसरी ओर देखते है, या जब हम इस प्रकार अपनी स्थिति बदल देते है कि कुछ भिन्न दीर्घवृत्त देखने लगते हैं। परंतु जो भी अंतर भौतिक वस्तुओं के बताए जानेवाले अस्तित्व और उनकी संवेद्य आकृतियो के बताए जानेवाले अस्तित्व के बीच हो, दोनों ही अस्तित्व उस अस्तित्व से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं जो इस सिद्धांत के अनुसार

---

1. देखिए पीछे अध्याय 1 पृ० 14 इत्यादि।

एक प्रतिज्ञप्ति का माना जा सकता है। भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व और इंद्रिय-दत्तों के अस्तित्व में काल और देश दोनों अंतर्भूत रहते हैं, परंतु प्रतिज्ञप्तियों के अस्तित्व में इनमें से कोई भी अंतर्भूत नहीं हो सकता। यह पूछना कि प्रतिज्ञप्ति कहां स्थित है, स्पष्टतः एक बेवकूफी का प्रश्न है, क्योंकि प्रतिज्ञप्ति कोई उस प्रकार की चीज नहीं है जिसे देखा या छुआ जा सके, या जिसके कोई देशिक संबंध हो सकें।

इसी प्रकार प्रतिज्ञप्तियों के बारे में काल-संबंधी प्रश्न पूछना भी बेवकूफी है, क्योंकि इस सिद्धांत के अनुसार एक महत्व की बात उनके बारे में यह थी कि वे कालनिरपेक्ष हैं। यदि कोई आलोचक यह आपत्ति उठाता है कि हम निश्चय ही एक प्रतिज्ञप्ति के बारे में स्पष्टतः काल-संबंधी प्रश्न पूछते हैं, जैसे यह कि वह सत्य कब होगी, तो उत्तर यह है कि कि हम प्रश्न प्रतिज्ञप्ति के बारे में नहीं बल्कि उसके बारे में पूछते हैं जिसके बारे में वह प्रतिज्ञप्ति स्वयं एक प्रतिज्ञप्ति है। निस्संदेह 'सत्य होना' के एक साधारण और वैध अर्थ में एक प्रतिज्ञप्ति, उदाहरणार्थ, तब सत्य होगी जब वह भविष्य के बारे में हो, और जब घटनाएं वैसी ही निकलें जैसी भविष्यवाणी की गई थी। "कल वर्षा होगी" कल जब वर्षा होगी तब सत्य होगी। परंतु यह तो यह कहने का संक्षिप्त तरीका मात्र है कि प्रतिज्ञप्ति का सत्य या असत्य होना कल होनेवाली घटना पर आश्रित है। यदि कल वर्षा होनेवाली है, तो ऐसा बतानेवाली प्रतिज्ञप्ति अभी सत्य है, यद्यपि हम कल वर्षा होने से पहले यह नहीं जान सकते कि यह सत्य है, तथापि उसको सत्य जानना अलग बात है और वह सत्य है, यह अलग बात।

हमें एक प्रतिज्ञप्ति के देशिक या कालिक निर्देश और उसके स्वयं देशिक या कालिक वस्तु होने में, अर्थात् अन्य वस्तुओं से देशिक या कालिक संबंध रखने में, अंतर करना होगा। अनेक प्रतिज्ञप्तियों में कोई न कोई देशिक निर्देश होता है। (जैसे, जब मैं कहता हूँ कि मेरा मकान सड़क के उत्तर में है), और अनेक प्रतिज्ञप्तियों में कोई न कोई कालिक निर्देश होता है (जैसे, जब मैं कहता हूँ कि मेरा सिरदर्द अब पहले से कम कष्टप्रद है), परंतु कोई भी स्वयं देशिक या कालिक स्थिति नहीं रखती। शायद न्यूटन से पहले किसी ने भी इस प्रतिज्ञप्ति को नहीं सोचा होगा कि भौतिक पिंड एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं, परंतु यह प्रतिज्ञप्ति उस दिन अस्तित्व में नहीं आई जिस दिन न्यूटन ने पहले-पहल इसे सोचा था।

यदि प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व वैसा नहीं है, जैसा भौतिक वस्तुओं का या उनकी प्रतीत आकृतियों का होता है, तो वह वैसा भी नहीं है जैसा मानसिक अवस्थाओं का होता है; और इसका भी उन्हीं दो में से एक हेतु है, जो यह है कि मानसिक

वस्थाएं कालिक स्थिति रखती हैं। जहां तक दिक् का संबंध है, एक निर्दिष्ट मानसिक अवस्था के बारे में यह पूछना कि वह कहां स्थित है, लगभग उतनी ही बेवकूफी का सवाल है (पक्के भौतिकवादी को सिखाइए) जितनी बेवकूफी का यह पूछना कि एक निर्दिष्ट प्रतिज्ञप्ति कहां स्थित है—बिल्कुल उतनी ही बेवकूफी का नहीं, क्योंकि सिनेमा जाने की मेरी इस समय की इच्छा मेरे शरीर से एक विशिष्ट तरीके से संबद्ध है : उसको पैदा करनेवाले कारणों में से एक मेरे शरीर की कोई अवस्था हो सकता है, उसकी पूर्ति केवल तभी हो सकती है जब मेरा शरीर किसी सिनेमाघर में पहुँचे, और हर हालत में वह मेरी इच्छा है, किसी दूसरे की नहीं। फिर भी, हम कभी एक विशिष्ट रूप से मानसिक अवस्था के बारे में यह नहीं पूछते कि 'वह कहां है,' हालांकि किसी शारीरिक अवस्था या संवेदन के बारे में हम निश्चय ही यह पूछते हैं। हम कहते हैं, "दिखाओ कहां दर्द है ?" या "किस हिस्से में तुम्हें दर्द महसूस हो रहा है ?" परन्तु यह हम कभी नहीं कहते कि "तुम्हारी सिगरेट की इच्छा कहां है ?" या "तुम्हारा यह विश्वास कहां है कि मेरी मोटर के पहिए की हवा निकल गई है ?"[1] फिर भी मानसिक अवस्थाएं ऐसी चीजें हैं जो काल में होती हैं और जिनके होने की तिथियां बताई जा सकती हैं, जो प्रकट होती हैं, समाप्त होती हैं और पुन. प्रकट होती हैं। सिनेमा देखने की मेरी इच्छा ठीक कब प्रकट हुई, इसका तो मुझे पूरा निश्चय नहीं है, पर लगभग दस मिनट पहले प्रकट हुई थी, पृथ्वी के तल के गोल होने का विश्वास मुझे पहले-पहल तब हुआ था जब मैंने पानी के जहाजों को क्षितिज के नीचे गायब होते देखा था, अपने घर आए पुलिस के सिपाही को देखकर मुझे तब तक डर लगा रहा जब तक उसने यह नहीं कहा कि वह कारावास-मुक्त कैदियों के लिए चंदा इकट्ठा करने आया है, इत्यादि।

जब यह सिद्धांत प्रतिज्ञप्तियों के अस्तित्व की बात कहता है या यह कहता है कि प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व किसी भी मनुष्य-विशेष के मन पर आश्रित नहीं होता, तब उसका अभिप्राय हमारे यह कहने के अभिप्राय से बिल्कुल भिन्न होता है कि अमुक व्यक्ति, मानसिक अवस्था या भौतिक वस्तु का अस्तित्व है। उसका भाव होता है, परन्तु वह दिक् और काल से परे होती है, वह एक विचित्र द्रव्यकल्प वस्तु है जो किसी भी अन्य चीज से जिसे हम देखते हैं बिल्कुल

1. निःसंदेह ऐसे लाक्षणिक प्रयोग होते हैं, जैसे 'तुम्हारा संकल्प कहां चला गया ?" परन्तु ये रूपक होते हैं और इनमें प्रयुक्त दिक्-सूचक शब्द अभिधार्थ में नहीं लिए जाते। जिस शिष्टाचार-शून्य बालक को यह कहा जाता है कि "आपका शिष्टाचार कहां गया ?" उसे यह उत्तर देने की राय देना ठीक न होगा कि वह कहीं नहीं जा सकता।

भिन्न होती है। यहां मुझे अपनी कल्पनाशून्यता के प्रकट होने का भय तो अवश्य है, पर मुझे मानना पड़ेगा कि मैं एकदम निरुत्तर हूं। इन प्रतिज्ञप्तियों की जो तत्वमीमांसीय स्थिति मानने के लिए हमसे कहा जाता है वह वही प्रतीत होती है जो प्लेटो के प्रत्ययों की है, और यह भी मेरे लिए उतनी ही दुर्बोध बात है। दुर्बोधता का कारण या तो इस सिद्धांत का ही कोई दोष होगा या उसे समझने की कोशिश करनेवाले व्यक्ति की बुद्धि का कोई दोष होगा। मैं केवल इतना कह सकता हूं कि प्रतिज्ञप्तियों के अस्तित्व को लेकर मैं निश्चय ही इस सिद्धांत को दुर्बोध पाता हू और यह कहकर मैं अन्य कठिनाइयों पर आता हूं। सौभाग्य से दुर्बोधता में मात्रा-भेद हुआ करता है; अन्यथा इस सिद्धांत के दुर्बोध होने की कठिनाई हमें अन्य कठिनाइयों के बारे में सोचने तक से रोक देती; और जब तक कोई प्रतिज्ञप्तियों की तत्वमीमांसीय स्थिति के प्रश्न को अंधकार में रखता है तब तक वह अन्य कठिनाइयों को देख सकता है।

5 प्रतिज्ञप्तियों की प्राक्कल्पना असत्यापनीय है।

अगली कठिनाई शायद पहली का ही एक रूपांतर है, परंतु इस योग्य लगती है कि उस पर बल दिया जाए, क्योंकि उसमें एक नई बात सामने आती है। इस सिद्धांत के अनुसार इन द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियों का अस्तित्व हम इसलिए नहीं मानते कि किसी प्रकार के निरीक्षण से हमें उनके अस्तित्व का पता चलता है, भले ही हमने पहले कभी उनकी ओर ध्यान न दिया हो, बल्कि इसलिए मानते हैं कि सत्य और असत्य दोनों ही प्रकार के निर्णयों को करने की संभावना के एक आधार के रूप में उनकी जरूरत है। अब, तर्क की यह प्रणाली अपने-आप में अनापत्तिजनक प्रतीत होती है और उस तरह की लगती है जिसपर प्राकृतिक विज्ञान मुख्य रूप से निर्भर करते हैं। वैज्ञानिक अनेक तरह-तरह की घटनाओं की व्याख्या करना चाहता है और इस उद्देश्य से एक ऐसी प्राक्कल्पना का निर्माण करता है कि यदि वह सही हो तो घटनाएं उसी रूप में घटेंगी जिस रूप में उनका घटना वह पहले ही देख चुका है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया का यह पहला चरण मात्र है, और जब तक आगे के कुछ और विभिन्न चरण पूरे न हो जाएं, तब तक कोई भी योग्य वैज्ञानिक उसपर थोड़ा ही भरोसा करेगा। वह यह पता करना चाहेगा कि कहीं एक से अधिक ऐसी प्राक्कल्पनाएं तो नहीं हैं जो उसके द्वारा प्रेक्षित तथ्यों पर लागू हों अर्थात् क्या उनकी कोई वैकल्पिक व्याख्याएं तो संभव नहीं हैं। वह अपनी प्राक्कल्पना

का सीधे (जहाँ ऐसा शक्य हो) या परोक्ष रूप से सत्यापन करना चाहेगा। अधिक आम परोक्ष सत्यापन ही होता है जिसमे प्राक्कल्पना से यह बात निकाली जाती है कि यदि वह सही है तो कुछ निर्धारित परिस्थितियो मे कौन-सी अन्य घटनाए होगी, और तत्पश्चात् यह निश्चय करने के लिए कि प्रागुक्त घटनाएं होती हैं या नही, उन परिस्थितियो मे एक प्रयोग किया जाता है। यदि वे घटनाएं नही होती और यदि वैज्ञानिक इस बात से सतुष्ट भी है कि प्रयोग सही परिस्थितियो मे सुचारु रूप मे किया गया है तथा प्राक्कल्पना से जो बातें उसने निगमित की थी वे सही निगमित की थी, तो वह प्राक्कल्पना को अस्वीकार कर देगा। यदि उसने शुरू मे दो या अधिक ऐसी प्राक्कल्पनाओ का निर्माण किया था जो उसके द्वारा प्रेक्षित तथ्यो के पहले समूह पर लागू होती है, तो वह प्रत्येक के ऊपर पहले की तरह बारी-बारी से प्रयोग करके उनमे विवेचन करना चाहेगा और प्रत्येक ऐसे विकल्प को छोड़ देगा जिसके आधार पर की गई प्रागुक्तियाँ बाद के प्रयोगो से संपुष्ट नहीं होती। इस प्रकार वह प्राक्कल्पनाओ का बिल्कुल त्याग करते हुए या उनमे सशोधन करते हुए आगे बढ़ता है और अंत मे उसके पास सबसे सरल और सामान्य एक ऐसी प्राक्कल्पना बच रहती है जो पिछले प्रेक्षणो की भी व्याख्या कर देगी और बाद के प्रयोगो से भी पूरी तरह सपुष्ट हो जाएगी।

अब हम फिर प्रतिज्ञप्ति-सिद्धात की बात लेते है। हम देखते है कि इन प्रतिज्ञप्तियो का अस्तित्व निर्णय से सबधित तथ्यो की व्याख्या के लिए बनाई गई प्राक्कल्पना के रूप मे माना गया है। क्या इसे एकमात्र सभव प्राक्कल्पना के रूप मे पेश किया गया है, अर्थात् जो भी निर्णय से सबधित तथ्य है उनसे यही अनिवार्य रूप से अनुलग्न है? यदि हां, तो वैज्ञानिक प्रक्रिया के बाद के चरणो की जरूरत नही है और उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होगा। यदि निर्णय से सबधित तथ्य वही हैं जो है और यदि वे जैसे हैं वैसे तब तक नहीं हो सकते जब तक द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियो का अस्तित्व न हो, तो द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियो के सिद्धात को और अधिक सत्यापन की जरूरत नही हो सकती। परतु यदि द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियो का अस्तित्व वास्तव मे निर्णय के तथ्यो से अनुलग्न है, अर्थात् यदि वह वास्तव मे एकमात्र सभव प्राक्कल्पना है, तो यह बहुत ही विचित्र बात है कि उतने अधिक दार्शनिक जो सूक्ष्मदर्शी बुद्धि या सत्यनिष्ठा से शून्य नही हैं, उसे स्वीकार नहीं कर पाए है।

तो क्या वह एक कम जोरवाली दावेदार है, अर्थात् निर्णय के तथ्यो की कम से कम *एक सभव* व्याख्या है? यहा कठिनाइया दो हैं। पहली, इस प्राक्कल्पना के सत्यापन का आगे कोई तरीका नही दिखाई देता, अर्थात् इससे सभव तथ्यो का

कोई और ऐसा समूह निगमित होता नहीं लगता जिसे बाद के प्रेक्षण से जाँचा जा सके। संक्षेप में यह कहेंगे कि इस सिद्धांत का उपर्युक्त तरीके से इंद्रियानुभव द्वारा सत्यापन नहीं किया जा सकता अर्थात् वह फलप्रद नहीं है। दूसरी कठिनाई यह है ऐसा संदेह होता है कि प्रतिज्ञप्तियों के अस्तित्व की कल्पना देखने मात्र में एक प्राक्कल्पना है, वास्तव में ऐसी प्राक्कल्पना नहीं है जो निर्णय के तथ्यों की व्याख्या करे। इस बात को खोलकर इस प्रकार कहा जा सकता है : यदि एक वैज्ञानिक यह कहे कि हिमांक पर पानी ठोस इसलिए बन जाता है कि तब पानी बर्फ बन जाता है, अथवा इसलिए कि पानी का एक गुणधर्म होता है जो उसे उस अवस्था में ठोस बना देता है, तो हम नहीं मानेंगे कि उसने हिमांक पर पानी के ठोस होने की व्याख्या कर दी है। वैज्ञानिक का पहला हेतु कोई हेतु नहीं है, क्योंकि वह इतना मात्र बताता है कि क्योंकि पानी हिमांक पर ठोस बन जाता है इसलिए पानी हिमांक पर ठोस बन जाता है। और उसका दूसरा वैकल्पिक हेतु भी कोई अच्छा नहीं है, क्योंकि यद्यपि पहले की तरह पुनरावृत्ति वह नहीं है, तथापि वह यह बताकर कि पानी के अंदर कोई विशेषता ऐसी होती है जो उसे ठोस बना देती है, यह नहीं बताता कि वह विशेषता क्या है। उसने किसी भी तरह से घटना का हेतु नहीं बताया है, केवल यह बताया है कि कोई हेतु होना चाहिए, और इससे हमारी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं होती। परंतु यदि वह यह बताता है कि पानी के ठोस होने का कारण अणुओं की अनियमित गति का उस सीमा तक घट जाना है जहाँ पर वह उनके पारस्परिक आकर्षण-बलों के काबू में आ जाती है, जिससे उनका अनियमित द्रवीय या गैसीय विन्यास बर्फ के नियमित ढाँचे में बदल जाता है, तो इसे एक वैज्ञानिक व्याख्या कहा जा सकेगा। और यदि हम उसकी व्याख्या को समझने में समर्थ हुए, तो हमें अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।

अब, क्या द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियों की कल्पना निर्णय के तथ्यों की व्याख्या के लिए यह बताने के अलावा कि (अ) उनकी व्याख्या के लिए कोई चीज होनी चाहिए, तथा (ब) इस 'कोई चीज' का नाम 'प्रतिज्ञप्ति' रखा जाना चाहिए, कुछ और भी करती है ? इससे हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती और इस मामले में हमारी स्थिति वही है जो मध्ययुगीन जिज्ञासुओं की थी। उन्होंने उस तरह की व्याख्या दी थी जिसका मोलियेर ने *ल मालाद इमेजिनैर* में मजाक बनाया है। तदनुसार भावी डाक्टर कहता है कि अफीम नींद इसलिए लाती है कि उसके अंदर <u>निद्राकारक गुण</u> है। ऐसे गुण <u>सामान्यतः "रहस्यमय गुण"</u> कहलाते थे और <u>देकार्त ने उनका निराकरण</u> किया था, जो कि बहुत ही उचित बात थी। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि द्रव्यकल्प <u>प्रतिज्ञप्तियाँ</u> इनसे मिलते-जुलते <u>"रहस्यमय द्रव्य"</u> नहीं हैं और हमें ज्ञानमीमांसा

को एक समस्या की कल्पना की दारण मे जाकर हल करने के लिए नही कहा जा रहा है। यदि प्रतिज्ञप्ति निर्णय के लिए आवश्यक कोई-चीज-जिसे-मैं-नही-जानता-कि-वह-क्या-है प्रकार की है, तो हमारा यह समझना स्वय को भ्रांति मे डालना होगा कि प्रतिज्ञप्तियो को मानने से हम किसी समस्या को हल कर रहे हैं।

6 अनंत प्रतिज्ञप्तियों की जरूरत होगी।

अत मे (यह बात नही है कि अन्य आपत्तिया नही है। है, और अधिकतर काल से सबधित है तथा इतनी जटिल हैं कि यहा उनकी चर्चा नही की जा सकती।), थोडा रुककर हमे यह सोचना होगा कि ऐसी कितनी प्रतिज्ञप्तिया माननी होंगी। यदि एक निर्णय करने के लिए या कोई विश्वास करने के लिए एक प्रतिज्ञप्ति की जरूरत है जिसे सामने रखकर मन निर्णय या विश्वास करता हो, तो ऐसे प्रत्येक निर्णय को सभव बनाने के लिए जो किया जा सकता है, प्रतिज्ञप्तियो के लोक मे प्रतिज्ञप्तियो की विशाल भीड माननी होगी। विश्व के इतिहास मे जितने भी निर्णय भूतकाल मे किए गए है, जितने किए जा रहे है, या जितने किए जाएगे उनमे से प्रत्येक के लिए एक-एक प्रतिज्ञप्ति माननी होगी, और यदि प्रत्येक निर्णय एक दृढ़ कार्य-कारण-योजना के अनुसार निर्धारित न हो, तो ऐसा लगेगा जैसे कि मानो उस लोक मे न केवल प्रत्येक वास्तविक निर्णय के लिए एक भिन्न प्रतिज्ञप्ति होगी बल्कि प्रत्येक सम्भव निर्णय के लिए भी एक भिन्न प्रतिज्ञप्ति होगी। वहाँ न केवल प्रत्येक सभव सत्य प्रतिज्ञप्ति होगी, बल्कि प्रत्येक सभव मिथ्या प्रतिज्ञप्ति भी होगी—बशर्ते इस कथन का कोई अर्थ हो।

निर्णय मे प्रत्येक अल्प भेद के लिए तदनुसार भिन्न प्रतिज्ञप्ति की जरूरत होगी, और हम जो थोड़े-बहुत अस्पष्ट निर्णय करते हैं उनके अनुसार थोडी-बहुत अस्पष्ट प्रतिज्ञप्तिया वहा होगी। उदाहरण के लिए, शायद मैं किसी को एक वयस्क कुत्ते का आकार बताना चाहूँ। परंतु पूरी बात जिसमे समा जाए ऐसी एक प्रतिज्ञप्ति काफी नही होगी, क्योकि कम सही से शुरू करके धीरे-धीरे अधिक सही आकार पर पहुचने तक मैं वर्णनो की कोई भी संख्या दे सकता हूँ। मैं गलत वर्णन भी दे सकता हूँ और प्रत्येक के अनुसार एक-एक प्रतिज्ञप्ति होनी चाहिए, पर इस बात को फिल-हाल छोड़िए। मैं इस बात से शुरू कर सकता हूँ कि एक वयस्क कुत्ता आकार में गिनी-पिग और ऊँट के बीच का होता है, और फिर मैं गिनी-पिग की जगह खरगोश,

बिल्ली इत्यादि तथा ऊंट की जगह शेर, टट्टू इत्यादि बताते हुए आगे बढ़ सकता हूं। इन अधिकाधिक सही वर्णनों में से प्रत्येक के लिए एक-एक प्रतिज्ञप्ति की जरूरत होगी।

फिर, हम सभी जानते हैं कि जब दो आदमी बातचीत करते होते हैं, विशेषतः जब वे एक काफी अधिक सूक्ष्म विषय पर बातचीत करते होते हैं, तब किसी एक के लिए कोई ऐसी बात कहना कितना आसान होता है जिसे सुननेवाला कहनेवाले की अपेक्षा कुछ भिन्न अर्थ में समझता है। शायद वह अर्थ बहुत अधिक भिन्न नहीं होगा, इतना अधिक भिन्न नहीं होगा कि बातचीत का क्रम टूट जाए, पर इतना भिन्न अवश्य होगा कि हम कह सकें कि एक ही वाक्य का एक ने ठीक वही मतलब नहीं लगाया जो दूसरे ने लगाया है। तो क्या हम यह मानें कि अर्थ-निरूपण में प्रत्येक सूक्ष्म अंतर के अनुसार द्रव्यकल्प प्रतिज्ञप्तियों के लोक में एक-एक सूक्ष्म अंतरवाली प्रतिज्ञप्ति रहनी चाहिए ? प्रतिज्ञप्तियों की आवश्यकताओं की तुलना में हिटलर की प्रत्येक जर्मन के लिए रहने-भर के लिए आवश्यक स्थान की मांग 'एक तुच्छ बात मात्र लगेगी। एक और अटपटे समूह का भी उल्लेख किया जा सकता है, जिसके लिए गुंजाइश रखनी होगी—यह है तार्किक दृष्टि से असंभव प्रतिज्ञप्तियों का समूह। इनके लिए स्थान रखना इसलिए जरूरी है कि निर्णयों में इनका उपयोग होता है, जैसे इन निर्णयों में कि वे तार्किक दृष्टि से असंभव है, तथा व्याघात-प्रदर्शक युक्तियों में आधारिकाओं के रूप में उनका उपयोग होता है। अतः हमें न केवल ऐसी प्रतिज्ञप्तियों के लिए स्थान रखना होगा जो वस्तुतः असत्य है, बल्कि उन प्रतिज्ञप्तियों के लिए भी स्थान रखना होगा जिनके किन्हीं भी परिस्थितियों में सत्य होने की कल्पना नहीं की जा सकती। ऐसा लोक न केवल बुद्धि के लिए भयानक लगता है बल्कि मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी खतरनाक प्रतीत होता है।

7. प्रतिज्ञप्ति वाक्य का अर्थ है।

अब हम यह विचार करते है कि पिछले सिद्धांत के स्थान पर उससे अच्छे कौन-से विकल्प हमें सुलभ हैं। मुझे यह आवश्यक लगता है कि मैं 'प्रतिज्ञप्ति' शब्द का प्रयोग जारी रखूं, हालांकि अर्थ इसका अब भिन्न होगा। यदि इससे उलझन मालूम हो, तो मैं केवल यह कह सकता हूं कि सामान्य दार्शनिक भाषा में ऐसा कोई अन्य शब्द नहीं है जिसका इसके स्थान पर प्रयोग किया जा सके, और कि आगे मैं इस दूसरे, अधिक सामान्य और पक्ष-विशेष के समर्थन में कम प्रयुक्त, अर्थ में इस शब्द

का संगति बनाए रखते हुए प्रयोग करता रहूंगा। अब तक हमने यह विचार किया था कि क्या कोई मनःनिरपेक्ष द्रव्य निर्णय के विषय माने जा सकते हैं; और ऐसी कल्पित वस्तुओं को 'प्रतिज्ञप्तियां' कहा गया था। हम वह हेतु बता चुके हैं जिससे इन्हें स्वीकार करना कठिन है। भविष्य में 'प्रतिज्ञप्ति' से मेरा अभिप्राय 'वाक्य का अर्थ' होगा।

पिछले प्रयोग के अनुसार "क्या प्रतिज्ञप्तियां है ?", यह प्रश्न एक महत्वपूर्ण तत्वमीमांसीय प्रश्न प्रतीत हुआ था, क्योंकि यह एक अस्तित्व-विषयक प्रश्न था। अब बड़ी आसानी से इसका जवाब दिया जा सकता है, क्योंकि अब इसका मतलब यह पूछना है कि "क्या वाक्यों के अर्थ होते है ?", जिसका उत्तर स्पष्टत यह है कि उनके अर्थ होते हैं। ऐसी बात नहीं है कि उन सबका अर्थ होता हो, क्योंकि व्याकरण और वाक्य-विन्यास के नियमों के अनुसार अनेक शब्द-संहतियों को ऐसे वाक्यों का रूप दिया जा सकता है जिनका कोई भी वर्णनात्मक अर्थ नहीं होता, उदाहरणार्थ, "३ का वर्गमूल नीला है", "बंदरों और सांपों का गुणनफल शाम की पोशाकों के बराबर होता है", और इसी प्रकार के अनेक व्याकरण की दृष्टि से सही पर निरर्थक वाक्य। परंतु अधिकतर लोग अधिकतर अवसरों पर जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं उनमें से अधिकतर कोई न कोई वर्णनात्मक अर्थ रखते हैं, और अब 'प्रतिज्ञप्ति' से मेरा वही अभिप्राय है।

प्रतिज्ञप्तियों का यह अर्थ सुविधाजनक है, क्योंकि दार्शनिकों की हैसियत से प्रायः हम दो अंतर करना चाहते हैं। पहला यह है कि हम वाक्य और उसके अर्थ में अंतर करना चाहते हैं। वाक्य लिखे हुए या बोले हुए, पढ़े जानेवाले या सुने जानेवाले शब्दों का एक भाषाशास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध (शुद्धता परिपाटी की और मात्रा वाली बात है) रूप होता है, परंतु वाक्य से प्रायः कुछ समझा जाता है और वही कुछ उसका अर्थ है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, एक ही या विभिन्न भाषाओं में विभिन्न वाक्यों का एक ही अर्थ हो सकता है, और विभिन्न प्रसंगों में या विभिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही वाक्य के इस कारण विभिन्न अर्थ हो सकते हैं कि वाक्य अस्पष्ट है या वह अनेकार्थक है—जैसे "9.50 वाली आज देर से नहीं आई", इस वाक्य का अर्थ एक परदेशी वह नहीं समझेगा जो स्थानीय रेलवे विभाग की आदतों से सुपरिचित एक व्यक्ति समझेगा, और चूंकि एक ही शब्द (अर्थात् उसकी शक्ल या उसका उच्चारण) के प्रायः दो बिल्कुल असंबद्ध अर्थ होते हैं, इसलिए श्लेषोक्तियां संभव है (जैसे, "सैन्धव लाओ")[1]। शब्दों के रूप या

---

1. मूल में "Bear right in the middle of the town" है।

भाषाई विन्यास को वाक्य कहकर पुकारना और वाक्य के अर्थ को प्रतिज्ञप्ति कहकर पुकारना सुविधाजनक है।

दूसरा यह है कि हम वाक्य के अर्थ और जो तथ्य उसे सत्य या असत्य बनाता है उसमें अन्तर करना चाहते हैं। यदि यह अंतर हमें प्रतिज्ञप्ति को एक प्रकार की वस्तु और तथ्य को एक भिन्न प्रकार की वस्तु मानने के लिए प्रेरित करे, तो इसे अंशत: समर्थन-योग्य शायद न माना जाए, (जैसाकि हम बाद में देखेंगे, यह समर्थन-योग्य है भी नहीं)। परंतु यह काफी सामान्य और कामचलाऊ अन्तर है, जो तब तक उपयोगी है जब तक हमें गुमराह न करे। प्रायः हम वाक्य को सत्य या असत्य नहीं कहते बल्कि शुद्ध या अशुद्ध कहते हैं, और वाक्य जिस बात को कहता है उसे सत्य या असत्य कहते हैं। और हम आम तौर पर इस तरह के प्रयोग करते हैं जैसे "उसका जो अर्थ है उसे मालूम करना एक बात है और जो उसका अर्थ है वह सत्य है यह मालूम करना एक बिल्कुल भिन्न बात है।"

3. प्रतिज्ञप्तियां स्वतंत्र वस्तुएं नहीं हैं।

यदि प्रतिज्ञप्ति वह है जो बोलने या लिखने में हमारा मतलब होता है, तो प्रतिज्ञप्ति सोचने या निर्णय करने के समय हमारे मन में विद्यमान रहती है। हम एक प्रतिज्ञप्ति पर मनन करने की, अर्थात् एक अर्थ को स्वीकार या अस्वीकार करने, विधायक या निषेधक निर्णय करने, के पहले उस पर विचार करने की, बात कह सकते हैं। इसका मतलब यह कहना नहीं होगा कि सोचना वाक्यों के द्वारा ही होना चाहिए, हालांकि मुझे अपने अनुभव से यह मालूम होता है कि सोचना सदैव किसी न किसी तरह के प्रतीकों के द्वारा होता है। परंतु स्पष्ट है कि सोचना और निर्णय अर्थों के साथ किए जाते हैं, अर्थात् यदि विचारों और निर्णयों को शब्दों का रूप दिया जाए तो हमारे वाक्यों या वाक्यांशों के कुछ अर्थ रहेंगे।

विचार और भाषा का संबंध ठीक-ठीक क्या है, इस विषय में अनेक कठिन और रोचक प्रश्न पैदा होते हैं जिनकी चर्चा यहां नहीं की जा सकती। परंतु ऐसा जरूर लगता है कि उनका संबंध बहुत घनिष्ठ है—इतना अधिक घनिष्ठ कि यह समझ पाना बड़ा मुश्किल होता है कि कैसे (उदाहरणार्थ) बोलने की शक्ति न रखनेवाला एक जानवर यह इच्छा कर सकता है कि उसे इस खेत से हटाकर चार दिन के अंदर अगले खेत में पहुंचा दिया जाए। अब हम जो अर्थ ले रहे हैं उसमें प्रतिज्ञप्तियां निर्णय के लिए अनिवार्य हैं, और अब हमें करना यह है कि हम पिछले सिद्धांत को

निरंतर अपनी संख्या बढ़ाती जानेवाली सत्ताओं को लाए बिना निर्णय की एक संतोषप्रद व्याख्या प्रस्तुत करें। यदि हम एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत कर सकें जिसके अनुसार प्रतिज्ञप्तियाँ मनःनिरपेक्ष तत्वों से बनी होने के बावजूद स्वयं मन सापेक्ष हों, तो यह आशा की जा सकती है कि हम द्रव्यकल्प-सिद्धांत के समान सत्ताओं की संख्या को अत्यधिक बढ़ाने से भी बच जाएंगे और साधारण द्वैतवाद की कठिनाइयों से भी।

ऐसी व्याख्या पहले बताई हुई शर्तों के साथ भी पूरी संगति रखेगी। सत्यों के मनःनिरपेक्ष होने के लिए यह जरूरी नहीं है कि प्रतिज्ञप्तियाँ मन निरपेक्ष हों। उदाहरणार्थ, यह सही है कि "3+4=7+5", यह प्रतिज्ञप्ति किसीके उसके बारे में सोचने से पहले ही सत्य थी और किसी समय किसीके उसके बारे में न सोचने पर उसका सत्य होना नहीं रुक जाता। लेकिन उसकी मनःनिरपेक्षता तब भी बनी रहेगी जब कभी कोई उसको सोचे, बशर्ते उसका सोचना सत्य हो। यह कहना कि वह एक मनःनिरपेक्ष सत्य है, यह मतलब रखता है कि यद्यपि प्रतिज्ञप्ति स्वयं मन पर आश्रित है अर्थात् किसी इस या उस मन की अपेक्षा रखती है, तथापि उसका सत्य होने का गुण किसी अतिरिक्त अर्थ में मनस्तंत्र नहीं है। इस प्रतिज्ञप्ति को सोचना या न सोचना मेरे चाहने पर निर्भर है, परंतु यदि मैं उसे सोचूं तो उसकी सत्यता मेरे या सोचनेवाले किसी भी अन्य व्यक्ति के ऊपर आश्रित नहीं होगी। कोई कुछ भी करे, उसके सत्य होने के गुण पर कुछ भी प्रभाव नहीं होगा।

रेडियो प्रोग्राम को सुनना मेरे ऊपर अवश्य निर्भर है, क्योंकि यदि मैं रेडियो का स्विच न खोलूं तो मैं उसे नहीं सुन सकूंगा, परंतु स्विच खोलने के बाद जो मैं सुनूंगा वह मेरे ऊपर निर्भर नहीं है, और उसकी विशेषता को बदलना मेरे वश की बात बिल्कुल भी नहीं है। हां, मैं स्विच बंद कर सकता हूं, पर फिर तो प्रोग्राम ही बंद हो जाएगा। दूसरे शब्दों में, यद्यपि एक चीज अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य चीज पर आश्रित हो सकती है, तथापि अस्तित्व में आने पर उसका गुण क्या होगा, यह अनिवार्यतः उस अन्य चीज पर निर्भर नहीं होगा। एक प्रतिज्ञप्ति को प्रतिज्ञप्ति होने के लिए एक मन की आवश्यकता हो सकती है, परंतु उसके सत्यता-मूल्य का उसी मन या किसी अन्य मन पर आश्रित होना आवश्यक नहीं है। मनःनिरपेक्ष सत्यों के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उनकी सत्यता इस, उस, या किसी अन्य मन से स्वतंत्र हो। अन्य शर्तें भी इसी प्रकार हैं एक प्रतिज्ञप्ति मन पर आश्रित होने के बावजूद भी विभिन्न मनों, वाक्यों, भाषाओं, कालों और मानसिक अभिवृत्तियों के बीच तटस्थ या अनेकगोचर हो सकती है; और तार्किक दृष्टि से

परस्पर असगत होने के लिए दो प्रतिज्ञप्तियो का द्रव्यकल्प वस्तुएं होना जरूरी नहीं है।

9. निर्णय करना एक बहुपदी सबंध है।

हम जिस द्रव्य-सिद्धात पर विचार कर रहे थे, उसके अनुसार निर्णय दो पदो को जोड़नेवाला सबंध है, जिनमे से एक मन है और दूसरा प्रतिज्ञप्ति है। पहले हमने एतद्विषयक प्रकृत सिद्धात का उल्लेख किया था[1] जो वह मानता है कि निर्णय करने या सोचने मे मन के सामने एक तथ्य होता है। यह भी निर्णय को एक द्विपदी सबध मानता है, और इस सबध के दो पद मन और तथ्य है। चूंकि निर्णयविषयक ये दोनो ही द्विपदी-सबंध-सिद्धात गलत सिद्ध हो चुके है—प्रतिज्ञप्ति-सिद्धांत इसलिए कि वह हमे अत्यधिक संदिग्ध प्रकार की वस्तुओ का अस्तित्व मानने के लिए कहता है, और तथ्य-सिद्धात इसलिए कि निर्णय की जो गलतिया हम करते हैं उनके लिए इसमे गु जाइश नही है—इसलिए अब हम एक अधिक आशाजनक सिद्धात पर आते है जो उक्त सिद्धात का ठीक उल्टा है, और यह सिद्धात है बर्ट्रेंड रसेल द्वारा अनुमोदित बहुपदी-सबध-सिद्धात[2]।

अन्य सिद्धातो के अनुसार निर्णय मे मन के आगे कोई एक ही चीज प्रस्तुत रहती है, परतु इस सिद्धात के अनुसार निर्णय के विषयो की एकता स्वय निर्णय करने की क्रिया या सबध के द्वारा पैदा की जाती है। फलतः यदि ऐसे सिद्धात की सपुष्टि की जा सके तो अन्य हेतुओं के अलावा केवल लाघव के कारण भी इसके आशातीत लाभ हैं : यदि अब प्रतिज्ञप्ति निर्णय की क्रिया से निर्मित होती है तो हमे भडार मे प्रतिज्ञप्तियो के उस विशाल सग्रह को मानने की जरूरत नही है जिसकी जरूरत द्रव्य-सिद्धात के अनुसार थी। अब हमे केवल यह मानने की जरूरत होगी कि सामग्री का पहले से अस्तित्व हो ताकि जिस रूप मे भी आवश्यक हो उस रूप मे उसे सयुक्त किया जा सके।

10. बहुपदी सम्बन्ध क्या है ?

इस सिद्धात की रूपरेखा बताने से पहले बहुपदी सबध के स्वरूप का शुरू मे

1. अध्याय 1, पृ० 21।
2. प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी, अध्याय XII।

स्पष्टीकरण जरूरी है। सवध दो या अधिक पदो मे एकता लाता है और उन्हे एक विशेष क्रम में जोड़ता है। नीचे के उदाहरणो मे रेखांकित शब्द संबंध के प्रतीक हैं और अन्य शब्द सबंधित पद है :

(अ) चूहा सदूक के ऊपर दौडा।

(आ) ब्रूटस ने सीजर को मारा।

(इ) अमेरिका ने इंगलैंड से वाइटमन कप जीता।

(ई) आक्सफोर्ड बैनबरी के दक्षिण मे है।

(उ) जोन्स ने अपनी पत्नी से उसकी किताब को पुस्तकालय को लौटाने को कहा।

(ऊ) ब्राउन साइकिल से लैंड्स एन्ड मे जॉन ओ' ग्रोट्स तक गया।

उदाहरणों के पहले जोड़े मे सबंध का सरलतम रूप दिखाया गया है, जो दो पदो के मध्य है। दूसरे जोड़े मे तीन पद हैं (इस जोड़े के दूसरे उदाहरण मे प्रकटतः दो ही पद हैं, परंतु एक तीसरा पद भी चाहिए जो ध्रुवो मे से कोई एक होगा)। तीसरे जोडे मे चार पद है। दौडने मे एक चीज तो वह चाहिए जो दौडती है और दूसरी वह जिस पर दौडा जाता है। किसीसे जीतने मे एक जीतनेवाला चाहिए, दूसरी वह चीज जो जीती गई है और तीसरा वह जिससे जीती गई है। किसी को लौटाने के लिए कहने के लिए एक कहनेवाला चाहिए, दूसरा वह जिसे कहा जाता है, तीसरी वह चीज जिसे लौटाना है, और चौथा वह जिसके पास वह लौटानी है। अन्य ऐसे वाक्य भी आसानी से बनाए जा सकते हैं जिनमे सम्बन्ध पाँच या अधिक पदों मे होता है। अतः निर्णय को एक बहुपदी सम्बन्ध कहने का मतलब यह है कि उसमे अनेक पदो मे सबंध जोडा जाता है और पदो की सख्या अलग-अलग निर्णयों मे अलग-अलग होती है। ऊपर के उदाहरणों मे से प्रत्येक को जब निर्णय के विषय के रूप मे देखा जाता है तब, जैसा कि हम देखेंगे, वह एक नए सबध का भाग बन जाता है और मूल पदों के साथ दो और पद जुड़ जाते हैं। इस प्रकार मेरा यह निर्णय कि चूहा संदूक के ऊपर दौडा, चार पदो वाला एक संबंध बन जाएगा, हालाकि चूहे का सदूक के ऊपर दौड़ना केवल दो पदो वाला सबध होता है।

सबध की दूसरी विशेषता जो हमारे प्रयोजनो के लिए महत्व की सिद्ध होगी, वह है जिसे उसका क्रम या उसकी दिशा कहा जाता है। यद्यपि "ब्रूटस ने सीजर को मारा," इस प्रतिज्ञप्ति मे पदो की ठीक वही संख्या है जो 'सीजर ने ब्रूटस को मारा,' इस प्रतिज्ञप्ति मे है और संबंध भी दोनों मे ठीक वही है, तथापि, जैसा कि कोई भी

साफ-साफ देख सकता है, दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ भिन्न हैं। प्रत्येक में सबंधित पदों का क्रम भिन्न है, और तदनुसार प्रत्येक का अर्थ दूसरी से भिन्न हो जाता है। इस बात को दूसरे रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि पहली प्रतिज्ञप्ति में मारने के सम्बन्ध की दिशा ब्रूटस से सीजर की ओर है और दूसरी प्रतिज्ञप्ति में सम्बन्ध की दिशा सीजर से ब्रूटस की ओर है।

यही बात सबंधों के सभी अन्य उदाहरणों में भी होती है। लेकिन इसका एक अपवाद वह है जिसमें सम्बन्ध समता का, या तादात्म्य का, या भेद का होता है। यदि जॉन की आयु ठीक वही है जो जेन की है, तो "जॉन की वही आयु है जो जेन की है" और "जेन की वही आयु है जो जॉन की है", ये दो वाक्य एक ही प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करते हैं। यहाँ चाहे मैं यह सोचूँ कि जॉन की आयु वही है जो जेन की है, चाहे यह सोचूँ कि जेन की आयु वही है जो जॉन की है, सबंधित पदों का क्रम अर्थ में कोई अन्तर नहीं लाता, अर्थात् उससे कोई भिन्न प्रतिज्ञप्ति नहीं बनती। अन्य सभी मामलों में उससे प्रतिज्ञप्ति भिन्न हो जाती है। जहाँ पद वही होते हैं और सम्बन्ध भी वही होता है तथा भिन्न प्रतिज्ञप्तियाँ सत्य होती हैं वहाँ तक ऐसा ही होता है। उदाहरणार्थ, यद्यपि ये दोनों बातें सत्य हो सकती हैं कि "डार्बी जोन को प्यार करता है" और "जोन डार्बी को प्यार करती है", तथापि "डार्बी जोन को प्यार करता है" और "जोन डार्बी को प्यार करती है," ये दो वाक्य एक ही प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त नहीं करते, क्योंकि डार्बी का जोन के प्रति जो प्यार है वह उस प्यार से अलग तथ्य है जो जोन का डार्बी के प्रति है। यहाँ भी सम्बन्धित पद जिस क्रम में रखे गए हैं वह वाक्य के अथवा वाक्य द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्ति के अर्थ को निर्धारित करता है।

यही बात किसी के मन में आनेवाले किसी भी अन्य उदाहरण पर लागू होगी। तीन ताशों के खेल से पैसा जीतने के लिए यह जानना काफी नहीं है कि एक हुकुम का इक्का है, दूसरा चिड़ी की दुग्गी है और तीसरा ईंट की दुग्गी है, और इनमें से एक शेष दो के बीच में है; यह जानना या सही निर्णय करना भी आपके लिए आवश्यक है कि क्या हुकुम का इक्का बीच में है, और यदि नहीं है तो क्या वह बाईं ओर है या दाईं ओर। यदि आप पदों का क्रम गलत समझे हों तो आपकी प्रतिज्ञप्ति गलत होगी और आप पैसा हार जाएंगे।

11. बहुपदी-सबंध-सिद्धांत

रसेल के सिद्धांत के अनुसार निर्णय करना एक बहुपदी सम्बन्ध है, जिसका

एक पद निर्णय करनेवाला मन (जिसे विषयी कहते हैं) होता है और शेष सारे पद (जिन्हें विषय कहते हैं) जिसका निर्णय किया जाता है उसके घटक होते हैं। ये घटक विशेष और सामान्य होते है जिनमे मन का सीधा परिचय होता है या हो सकता है। हम रसेल का ही दिया हुआ, ओथलो के इस निर्णय का उदाहरण लेते है कि डेस्डेमोना कैसियो को प्यार करती है। हम यह नही कहते कि ओथलो एक अकेली वस्तु, डेस्डेमोना का कैसियो के प्रति प्यार, का मनन करता है, क्योकि ऐसी कोई वस्तु नही है। इसके बजाय हम कहते है कि "जब ओथलो यह विश्वास करता है कि डेस्डेमोना कैसियो को प्यार करती है तब जो सबध बनता है उसमे डेस्डेमोना और प्यार करना और कैसियो सबको पद होना चाहिए····। इस प्रकार ओथलो के अपने विश्वास को मन मे धारण करते समय वस्तुत जो होता है वह यह है कि 'विश्वास करना' कहलानेवाला सबध ओथलो, डेस्डेमोना, प्यार करना, और कैसियो, इन चार पदो को एक जटिल समष्टि के अदर सयुक्त कर देता है। जिसे विश्वास या निर्णय कहते हैं वह विश्वास करने या निर्णय करने के इस सबध के अलावा कुछ भी नही है, जो एक मन को उससे भिन्न कई चीजो से सबधित करता है।"[1]

यहा भी समष्टि के अंदर पदो का क्रम महत्वपूर्ण चीज है, क्योकि सब पदों और निर्णय के सबध के वही होने के बावजूद ओथलो का यह निर्णय कि डेस्डेमोना कैसियो को प्यार करती है, उसके इस निर्णय से भिन्न (और असत्य) है कि कैसियो डेस्डेमोना को प्यार करता है, और यह निर्णय भी कैसियो के इस निर्णय से (जो कि सत्य है) भिन्न (और सत्य) है कि डेस्डेमोना ओथलो को प्यार करती है। एक विश्वास या निर्णय, निर्णय करने की सक्रिया से उत्पन्न एक जटिल एकता होता है, जो तब सत्य होता है जब उसके अनुरूप एक अन्य जटिल एकता होती है जिसमे निर्णय की वस्तुए उस क्रम मे सयुक्त होती है जिस क्रम मे वे निर्णय-समष्टि मे सयुक्त होती है। "इस प्रकार यदि ओथलो का यह विश्वास सत्य है कि डेस्डेमोना कैसियो को प्यार करती है, तो एक जटिल एकता, 'डेस्डेमोना का कैसियो के प्रति प्यार', ऐसी है जो एकातत. विश्वास की ठीक विश्वास मे दिए क्रम से युक्त वस्तुओ से निर्मित है और जिसमे पहले जो सबध वस्तुओ म से ही एक था वह अब विश्वास की अन्य वस्तुओ को परस्पर जोडनेवाले सीमेन्ट की तरह है। इसके विपरीत, जब विश्वास असत्य होता है तब कोई ऐसी जटिल एकता नही होती जो एकातत: विश्वास की वस्तुओ से ही निर्मित हो। यदि ओथलो का यह

---

1. *प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी*, पृ० 196–7।

विश्वास असत्य है कि डेस्डेमोना कैसियो को प्यार करती है तो 'डेस्डेमोना का कैसियो के प्रति प्यार' नाम की कोई जटिल एकता नहीं है।"[1]

हमने सिद्धांत को काफी स्पष्ट कर दिया है और अब इसे संक्षेप में नीचे की तीन प्रतिज्ञप्तियों में बताया जा सकता है।

1. निर्णय करना एक बहुपदी संबंध है जिसमें (i) घटकों के रूप में एक निर्णय करनेवाले मन (विषयी) और निर्णीत प्रतिज्ञप्ति के अंशों (विषय) की जरूरत होती है, और जो (ii) उन्हें एक निश्चित क्रम में व्यवस्थित करता है।

2. पूरा निर्णय एक जटिल एकता होता है, जिसमें अलग-अलग पद निर्णय के संबंध के द्वारा संयुक्त होते हैं।

3. निर्णय तब सत्य होता है जब उसके अनुरूप एक जटिल एकता का अस्तित्व होता है—इस अर्थ में कि निर्णय-समष्टि में जो वस्तुएं होती हैं वे निर्णय-समष्टि के बाहर (और उसी के क्रम में) एक एकता के रूप में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं।

12. इस सिद्धांत की आलोचनाएं

सभी अन्य सिद्धांतों की तरह इसकी भी काफी अधिक आलोचनाएं हुई हैं,[2] जिनमें से अधिकतर असली बात को नजरदाज करती प्रतीत होती हैं या जो बातें बिल्कुल भी आवश्यक नहीं लगती उन्हें आवश्यक बताती हैं; और इसलिए यदि यह सिद्धांत उन्हें पूरा करने में असमर्थ है तो इससे उसका कोई दोष सिद्ध नहीं होता। मेरे मत से यह सिद्धांत सार-रूप में सही है (हालांकि शायद अपर्याप्त जानकारी देता है)[3] : इसमें सरलता और लाघव की अच्छाइयां हैं, और इसमें वे

1. वही, पृ० 200-1।

2. देखिए, जी० एफ० स्टाउट, *स्टडीज इन फिलॉसफी ऐंड साइकोलोजी* XII

3 इसका काफी अधिक विस्तार करना (यहां जितना स्थान इस प्रयोजन के लिए दिया जा सकता उससे भी अधिक में) आवश्यक है, और तभी यह समझाया जा सकेगा कि इसमें हेतुफलात्मक निर्णय, निषेधक निर्णय और वे निर्णय कैसे ठीक बैठते हैं, जिनमें या तो उद्देश्य-पद का अस्तित्व ही नहीं होता (जैसे, "विंचेस्टर का लाट पादरी गंजा है") या उसका अस्तित्व हो या न हो, निर्णय-कर्ता उससे परिचित नहीं होता (जैसे, "इंग्लैंड का अंतिम ट्यूडर राजा दाढ़ी रखता था")। इसके अलावा सामान्यों (विशेषों के साथ) के निर्णय की सामग्री में शामिल होने की बात का उस सामान्यविषयक मत के अनुसार विश्लेषण आवश्यक होगा जिसकी पिछले अध्याय में रूप-रेखा बताई गई है।

कठिनाइयां नहीं हैं जो पहले उल्लिखित सिद्धांतों में पाई गई थीं। मुझे यह बात संदिग्ध लगती है कि रसेल ऊपर की प्रतिज्ञप्ति 3 में प्रकट सत्यता-विषयक जिस सिद्धांत को सोचता प्रतीत होता है (अर्थात् संवाद-सिद्धांत) वह इसमें आपादित है या समर्थन-योग्य है, परंतु इस विषय की चर्चा मैं अगले अध्याय में करूंगा।

लेकिन इसी में जुड़ी हुई एक अन्य बात जिसने आलोचकों के लिए सदैव उलझन पैदा की है, उन अवयवों की है जो समष्टियों के ऊपर बताए जोड़े (निर्णय-समष्टि और तथ्य-समष्टि) में प्रतीत होते हैं। विशेषतः इन समष्टियों में से प्रत्येक में एक घटक जो भिन्न भूमिका अदा करता है वह उलझन पैदा करती है। मान लीजिए कि हम एक सरल द्विपदी संबंध वाली प्रतिज्ञप्ति को लेते हैं (जिसे हम सत्य मानकर चलेंगे), और उसे प्रतीकों के द्वारा अ स ब के रूप में व्यक्त करते हैं, जिसमें अ और ब पद हैं और स उनका संबंध है तथा प्रतीक जिस क्रम में लिखे गए हैं वह पदों के क्रम या संबंध की दिशा का सूचक है—अ का ब से स संबंध है। अब, यदि हम इस प्रतिज्ञप्ति को निर्णय का विषय बनाते हैं जिसमें कि म विषयी यानी निर्णय करनेवाला मन है और न निर्णय करने का संबंध है, तो ये दो समष्टियां बनती हैं :

(अ) निर्णय-समष्टि म न अ स ब,

(ब) तथ्य-समष्टि अ स ब।

और ये दो समष्टियां परस्पर संवादी कहलाती हैं क्योंकि इनमें से प्रत्येक में अ और स और ब विद्यमान हैं और उसी क्रम अ स ब में विद्यमान हैं। यदि तथ्य-समष्टि ब स अ हुई होती तो दोनों समष्टियों में संवाद न हुआ होता, और यदि स "का पिता है" या "को हराया" जैसे संबंध का प्रतीक होता तो निर्णय-समष्टि असत्य हुई होती, क्योंकि यदि ब अ का पिता होता या यदि ब ने अ को हराया होता तो यह निर्णय असत्य होता कि अ ब का पिता है या अ ने ब को हराया। जहां स इस तरह के संबंध का प्रतीक होता है जैसे "की बहिन है, "को प्यार करता है" इत्यादि, वहां यदि तथ्य-समष्टि ब स अ है तो निर्णय-समष्टि म न अ स ब उसकी संवादी नहीं होगी, पर इसके बावजूद सत्य हो सकती है, क्योंकि जब ब अ की बहिन है या जब ब अ को प्यार करता है तब शायद अ ब की बहिन हो भी या न भी हो तथा अ ब को प्यार करे या न भी करे। यदि ऐसी दशा में निर्णय-समष्टि म न अ स ब सत्य हो, तो उसके सत्य होने का कारण तथ्य ब स अ के अतिरिक्त दूसरे तथ्य अ स ब का भी होना तथा निर्णय का इस दूसरे तथ्य से संवाद रखना होगा। यदि

हम ऊपर की दो समष्टियों (अ) और (ब) पर विचार करें और उनके अंतरों को खोजें तो नीचे लिखे अंतर पाएंगे :

(i) (अ) में चार पद (म, अ, स, ब) और एक संबंध (न) है। (ब) में दो पद (अ और ब) और एक संबंध (स) है।

(ii) (अ) में स एक पद है; (ब) में यह एक संबंध है।

(iii) (अ) में अ, स और ब का क्रम न के द्वारा निर्धारित है; (ब) में अ, स और ब का क्रम स के द्वारा निर्धारित है।

अब यह पूछा जाता है कि इन अंतरों को देखते हुए इस सिद्धांत के लिए यह दावा करना कैसे संभव है कि दोनों समष्टियों में संवाद है ? प्रश्न को अधिक विशेष करके यह पूछा जाता है कि वह निर्णय-समष्टि के भाग अ स ब और पूरी तथ्य-समष्टि अ स ब के मध्य संवाद होने का दावा कैसे कर सकता है ? रसेल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'संवाद' से उसका तात्पर्य क्या है, परंतु उसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जब निर्णय-समष्टि और तथ्य-समष्टि में एकमात्र अंतर यह होता है कि एक में निर्णय करनेवाला मन म विद्यमान होता है और दूसरे में उसका अभाव होता है तब एक सत्य निर्णय तथ्य का संवादी होता है। परंतु यदि यही उसका तात्पर्य है तो निश्चित रूप से वह गलती कर रहा है, क्योंकि यद्यपि यह अंतर ऊपर (i) में आ जाता है तथापि (ii) और (iii) में बताए हुए अंतर बाकी रह जाते हैं। असली कठिनाई यह है कि दोनों समष्टियों में से प्रत्येक में स का काम अलग-अलग है, यानी एक में वह एक पद है और दूसरी में संबंध; और फलतः यह दलील दी गई है कि संबंध न चाहे जैसे भी निर्णय-समष्टि के अंशों को परस्पर जोड़ता हो, यह तथ्य बना रहता है, जैसा कि रसेल ने भी माना है, कि इस काम को करनेवाला न है, न कि स और कि अ को स से और स को ब से संबंधित करनेवाला न है। यदि ऐसी बात है तो निर्णय के अंदर स संबंध के रूप में काम नहीं कर रहा है, और इसके फलस्वरूप जिस संवाद को हम निर्णय के अंश अ स ब और तथ्य अ स ब, जिसमें स संबंध के रूप में काम कर रहा है, के मध्य चाहते हैं वह है ही नहीं।

सिद्धांत जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उस रूप में वह अवश्य ही आक्षेपार्ह लगता है। परंतु इस आक्षेप से उसे अवश्य ही नया अर्थ देकर (जो शायद रसेल का भी अभिप्राय रहा हो) या कुछ संशोधित करके बचाया जा सकता है। यदि हम निर्णय के अंदर मनन और स्वीकार (या अस्वीकार), इन दो प्रावस्थाओं का अंतर

करें तो इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। मनन की प्रावस्था में यदि मन को दो पद अ और ब तथा संबंध स को संयुक्त करना है तो अ स ब और ब स अ, इन दो संयोगों से अधिक मननीय संयोग नहीं बन सकते, शेष शाब्दिक संयोग अ ब स, स ब अ इत्यादि मननीय संयोग नहीं होंगे। तात्पर्य यह है कि मनन की प्रावस्था में स पहले ही सम्बन्ध के रूप में अपना काम कर गया होगा, जिससे संभव प्रतिज्ञप्तियां अ स ब और ब स अ, इन दो तक ही सीमित रहेंगी, और इन प्रतिज्ञप्तियों को उसने पहले ही उनकी एकता प्रदान कर दी होगी। इसके बाद प्रमाण या पूर्वग्रह या जो भी अन्य चीज़ किसी को निश्चित धारणा बनाने के लिए प्रेरित करे उसे देखते हुए मन मनन की हुई प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार या अस्वीकार करने की प्रावस्था में आ जाता है।

यह स्पष्टीकरण उस चीज़ को बनाए रखता है जो इस सिद्धान्त के लिए आवश्यक है : इस प्रकार द्रव्यरूप प्रतिज्ञप्तियों से बचाव हो जाता है और उनका स्थान उनके अंश वाली विशेष और सामान्य ले लेते है। इसमें न केवल प्रतिज्ञप्ति का होना बल्कि उसकी एकता भी निर्णय करने की क्रिया पर आश्रित हो जाती है, और सत्यता की व्याख्या भी नहीं बदलती। यह केवल इस तथ्य को ध्यान में रखना है कि कोई यह सोचे बगैर कि संबंध वस्तुओं की उपयुक्त संख्या को संबंधित करते हैं, संबंधों की बात सोच ही नहीं सकता (जैसे कोई यह सोचे बिना कि गुण किसी चीज़ के होते हैं, गुणों की बात नहीं सोच सकता), और इसके परिणामस्वरूप इस तथ्य को भी ध्यान में रखता है कि यद्यपि प्रतिज्ञप्ति की एकता मन पर अवश्य ही इस अर्थ में आश्रित होती है कि मन ही उसका मनन करनेवाला या रचनेवाला होता है, तथापि वह मन पर इस अर्थ में आश्रित नहीं होती कि मन इच्छानुसार उसको उत्पन्न कर सकता है। एक संबंध और कुछ पदों को लेकर केवल कुछ ही एकताएं संभव होती हैं। चुनाव के उस क्षेत्र के अंदर मन मुक्त होता है, पर उसके बाहर नहीं, क्योंकि मन किस बात का चुनाव करेगा यह उसकी सीमाओं के भीतर ही उस संबंध के द्वारा निर्धारित होता है जिसे कि चुनी हुई प्रतिज्ञप्ति का घटक बनना है।[1]

---

[1] इस सिद्धांत का और अधिक विशदीकरण रैमज़ी ने फाउन्डेशन्स ऑफ मैथेमैटिक्स में "फैक्ट्स एंड प्रोपोज़ीशन्स" के प्रकरण में किया है।

षष्ठ अध्याय

सत्यता संवाद के रूप में

1. सत्यताविषयक सिद्धांत और सामान्य बुद्धि

बहुत वर्षों से दार्शनिक सिद्धांतों के सबसे अधिक दु:खद और घातक युद्धों में से एक वह रहा है जो सत्यताविषयक प्रतिद्वंद्वी सिद्धांतों के बीच चला है। कभी-कभी यह लड़ाई तीन प्रतिद्वंद्वियों के मध्य लड़ी गई है, परंतु अधिक सामान्य उसका सीधे दो प्रतिद्वंद्वियों, संवाद-सिद्धांत और संसक्तता-सिद्धांत, के बीच लड़ा जाना है। जैसा कि नतीजे से, जिसे मैं समय आने पर बताऊंगा, प्रकट होता है, मेरा झुकाव यह सोचने की ओर है कि उनकी लड़ाई बेमतलब की लड़ाई है, और मैं सैमुअल बटलर के इस कथन से सहमत हूं कि "सत्यता को बिल्कुल नजरअंदाज तो नहीं करना है पर बात उसके बारे में नहीं करनी चाहिए।" फिर भी, चूंकि इस विषय पर काफी अधिक पहले कहा जा चुका है, इसलिए ज्ञानमीमांसा-संबंधी इस पुस्तक में उसका संक्षेप थोड़ा-सा यह बताने के लिए देना जरूरी है कि विवादास्पद बातें कौन-सी हैं या कौन-सी मानी गई हैं।[1]

---

[1] इन दोनों में एक या अन्य या दोनों ही की चर्चा करनेवाले ग्रंथों की विशाल संख्या में से निम्नलिखित का चुनाव उपयोगी होगा—संसक्तता के समर्थक: एफ० एच० ब्रैडली, *प्रिंसिपुल्स आफ लॉजिक*, *एसेज ऑन ट्रुथ ऐंड रियलिटी*, *अपियरेन्स ऐंड रियलिटी*, अध्याय XV और XXIV; एच० एच० जोआकिम, *नेचर आफ ट्रुथ*, बी० ब्लैन्शर्ड, *नेचर ऑफ थॉट*, जि० II, अध्याय XXV—XXVII; संवाद-समर्थक- बी० रसेल, *प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी*, अध्याय XII; सी० डी० ब्रॉड, *इक्जामिनेशन ऑफ मैटकागर्ट्स फिलासफी*, जि० I, अध्याय IV; ए० सी० यूइंग, *आइडियलिज़्म*, अध्याय V।

जहा तक स्वयं सिद्धांतों के नामों से पता चलता है, सवाद-सिद्धांत का सही होना इतना स्पष्ट लगेगा कि यदि किसी को यह आश्चर्य हो कि इसमें सदेह ही कभी कैसे प्रकट किया गया है, तो उसे क्षमा किया जा सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार कोई निर्णय तब सही होता है या कोई प्रतिज्ञप्ति तब सत्य होती है जब कोई तथ्य उसका सवादी होता है, और असत्य तब होती है जब कोई तथ्य ऐसा नहीं होता। ससक्तता-सिद्धांत के अनुसार किसी निर्णय की सत्यता निर्णयों के एक तत्र के अदर उसका ससक्त होना है। सामान्य बुद्धि सवाद-सिद्धांत की समर्थक प्रतीत होती है, और इस बात के पक्ष में कि इस सिद्धांत का यदि सब नहीं तो अधिकतर लोग तो अवश्य ही मानते है, वह प्रमाण के बतौर भाषा के प्रयोगों को उद्धृत करेगी। हम कहते है कि एक आदमी का विश्वास तब सही होता है जब वह तथ्यों के अनुसार या अनुरूप होता है या उनसे सामजस्य या सवाद रखता है, और ये सभी प्रयोग यह प्रकट करते हैं कि सत्यता (अ) किसी प्रकार का एक सबध है जो एक ओर निर्णय के विषय और दूसरी ओर तथ्यों के बीच होता है, तथा (ब) एक विशिष्ट प्रकार का सबध है जिसे हम 'अनुसार', 'अनुरूप', 'सवाद' इत्यादि शब्दों के द्वारा बताते हैं।

अब अगर सिर्फ इतना ही सवाद-सिद्धांत के द्वारा माना जाता (और सामान्य बुद्धि प्रायः केवल इतना ही मानती है), तो वास्तव में कोई झगडा था ही नहीं, और उस रूप में, जहा तक मैं जानता हूं, कोई भी ससक्तता का समर्थक विवाद करना न चाहता। वह अगर कुछ कहना चाहता, तो यह कहता, और यहा मैं उससे सहमत हूगा, कि जो कुछ अब तक कहा गया है वह इतना कम है कि उससे कोई सिद्धांत बनता ही नहीं, और कि उससे न दार्शनिकों के सवाद-सिद्धांत का समर्थन होता है और न दार्शनिकों के ससक्तता-सिद्धांत का समर्थन (या विरोध) होता है। (अ) केवल यह बताता है कि किसी आदमी के विश्वास का सही होना या न होना विश्वास से भिन्न किसी चीज पर आश्रित होता है। इस तथ्य से कि मैं सामने के दरवाजे के बद होने का विश्वास करता हू यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सामने का दरवाजा बद है, अर्थात् यह सिद्ध नहीं होता कि मेरा विश्वास सही है। सक्षेप में, किसी विश्वास के सत्य या असत्य होने के लिए उस विश्वास के बाहर कोई बात होनी चाहिए जिसकी वजह से वह सत्य या असत्य है। परतु यह आपत्ति की जा सकती है कि सामान्य बुद्धि इससे भी अधिक कुछ अवश्य मानती है, क्योंकि उसके अनुसार वह अधिक कुछ जिसकी वजह से एक सत्य विश्वास सत्य और एक मिथ्या विश्वास मिथ्या होता है, एक तथ्य होता है। यह ठीक है कि वह ऐसा मानती है,

पर मैं समझता हूँ कि सबद्धता के समर्थक भी ऐसा मानते हैं। उनमें से किसी के भी इस बात से इन्कार करने की कल्पना नहीं की जाएगी कि यदि मेरा सामने के दरवाजे के बंद होने में विश्वास सत्य है तो वह सामने के दरवाजे के बंद रहने के कारण सत्य है। लेकिन वे कहेंगे कि एक तथ्य जैसी सरल बात नहीं होती जैसा हम बिना प्रतिवाद किए मान लिया करते हैं, और कि यदि हम मामले की जाँच करें तो हम स्वयं को संसक्तता के दार्शनिक सिद्धांत को मानने के लिए बाध्य पाएंगे।

तो अभी तक सामान्य बुद्धि के द्वारा मानी हुई बात में ऐसी कोई चीज नहीं है जो हमें संसक्तता के बजाय संवाद को स्वीकार करने के लिए मजबूर करे। हम सब इस बात में सहमत हैं कि यदि एक विश्वास सत्य है तो उसका सत्य होना विश्वास से स्वतंत्र है, और कि उसकी सत्यता तथ्यों पर आश्रित होती है। यदि हमारी और अधिक सवाल पूछने की प्रवृत्ति न होती तो हम संवाद के समर्थक कहलाना पसंद करते। परंतु तब हम सब जिस संवाद का समर्थन करते वह इस नाम के दार्शनिक सिद्धांत की तुलना में एक बहुत ही अस्पष्ट और समन्वयहीन बात होता; और दुर्भाग्य की बात यह है कि अन्य सवाल भी पूछने को हैं।

इसकी अस्पष्टता के एक उदाहरण के रूप में संसक्ततावादी आलोचक ऊपर (ब) की ओर इशारा करेगा, अर्थात् इस धारणा की ओर कि एक विश्वास और जो चीज उस विश्वास को सत्य बनाती है उसके बीच का सत्यता-संबंध एक विशिष्ट प्रकार का संबंध होता है, जिसे हम 'सामंजस्य' या 'संवाद' जैसे शब्दों से प्रकट करते हैं। इस बात को तो शायद वह मानेगा, परंतु आगे सवाल यह करेगा कि जो हमने यह कहा कि सत्यता वह संबंध है जिसे हम सामान्यतः 'सामंजस्य' और 'संवाद' जैसे नामों से प्रकट करते हैं, उसमें कितना अंश ऐसा है जो संवाद-सिद्धांत का समर्थन करता है, क्योंकि ये शब्द स्वयं ही अत्यधिक अस्पष्ट या अनेकार्थक या दोनों ही हैं। हम किसी समस्या के दो स्वतंत्र रूप से किए गए समाधानों के बारे में कहते हैं कि उनमें सामंजस्य है, जिसका मतलब यह है कि उनके निष्कर्ष अभिन्न हैं। हम कहते हैं कि प्रयोगशाला में किए गए एक प्रयोग के निष्कर्ष उस प्राक्कल्पना से सामंजस्य रखते हैं जिसकी हम जाँच कर रहे हैं, जिसका मतलब यह है कि जिन निष्कर्षों पर हम प्रयोग से पहुँचे हैं वे वही हैं जो उस प्राक्कल्पना से (और परीक्षण को निर्धारित करनेवाली परिस्थितियों से) निगमित होते हैं। हम एक रेलवे टिकट के दो फाड़े हुए टुकड़ों के बारे में कहते हैं कि उनमें सामंजस्य है, जिसका मतलब यह है कि जोड़े जाने पर वे परस्पर ठीक बैठते हैं, और इसी तरह हम एक विशेष पाव

की छाप मे ठीक बैठने वाले एक विशेष जूते के बारे मे भी यह कहते हैं कि उसका उससे सामजस्य है। इनमे से किसी भी उदाहरण मे अर्थ को न बदलते हुए हम 'सामजस्य' शब्द की जगह 'संवाद' शब्द (या 'मेल' इत्यादि अनेक शब्दो) का भी प्रयोग कर सकते थे; परन्तु यह कहना कठिन होगा कि प्रत्येक उदाहरण मे 'सामजस्य' (या जो भी शब्द हम अधिक पसद करें) शब्द का अर्थ ठीक वही सबध है।

फिर, 'सामजस्य' शब्द का हम जिन अर्थो मे प्रयोग करते है उनमे से बहुत-से सवाद-सिद्धात के बजाय ससक्तता-सिद्धात के अधिक अनुरूप है। शायद निषेध के मामले मे यह बात विशेष रूप मे दृष्टिगोचर होती है, जिसमे हम एक निर्णय को किसी ऐसी चीज से उसकी असगति होने पर जिसे हम स्वतत्र रूप से सत्य मानते हैं असत्य कहकर अस्वीकार कर देते हैं। यदि प्रयोगशाला में किए हुए हमारे प्रयोग के निष्कर्ष वे नही हैं जो हमारी प्राक्कल्पना से निगमित होते, और यदि हम अपनी प्रयोगगत परिस्थितियो तथा अपने निष्कर्षो के बारे मे आश्वस्त है, तो हम प्राक्कल्पना को प्रयोग के निष्कर्षो से असगत कहकर अस्वीकार कर देते हैं। हम दो विश्वासो के बारे मे कहते है कि उनमे सामजस्य नही है, जिसका मतलब यह है कि वे परस्पर असगत हैं, कि दोनो एकसाथ सत्य नही हो सकते, हालाकि दोनों असत्य हो सकते है।

यह सब कहने से नतीजा यह निकला कि (ब) सवाद-सिद्धात का (अ) की अपेक्षा कोई अधिक समर्थन नही करता, कि हम मात्र इस तथ्य के आधार पर कि सत्यता-सबध को प्राय: 'सामजस्य' 'सवाद' इत्यादि शब्दो के द्वारा प्रकट किया जाता है, यह दलील नही दे सकते कि सवाद-सिद्धात सही है और ससक्तता-सिद्धात गलत। इसका कारण यह है कि ये शब्द (और इनके स्थान पर प्रयुक्त अन्य शब्द) सामान्य प्रयोग मे दोनो ही सिद्धातो के समर्थक अर्थ रखते हैं और नही भी रखते। यह हम स्वीकार करते हैं कि शब्दो का अर्थ एक महत्वपूर्ण प्रमाण होता है जिसकी दर्शनशास्त्री उपेक्षा नही कर सकते और जिसपर आजकल वे विशेष रूप से जोर देते है, परतु हमें उस प्रमाण का उपयोग करने मे जान-बूझकर या आलस्य-वश छल नही करना चाहिए। प्रस्तुत मामले मे, इस तथ्य से कि सामान्य बुद्धि के द्वारा जिन ध्वनियो या चिह्नो का प्रयोग किया जाता है वे वही है जिनका प्रयोग सवाद-सिद्धात के द्वारा किया जाता है, यह अनुमान नही निकालना चाहिए कि दोनो का उनसे एक ही अभिप्राय है, उस दशा मे भी नही जब हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार हो (हममे से अनेक इसके लिए तैयार नही होंगे) कि यदि अभिप्राय एक ही हो तो सवाद-सिद्धात को सही होना चाहिए।

संक्षेप में, हमें शब्दों की ध्वनियों या आकृतियों से धोखा खाकर यह नहीं मान लेना चाहिए कि सत्यता के बारे में जिस बात पर कोई भी (मैं समझता हूं) गंभीरता से विवाद नहीं करेगा वह संवाद-सिद्धांत को अनिवार्य बना देती है। कहने का मतलब केवल यह है कि सत्यता के बारे में जिस बात का कोई भी गंभीरतापूर्वक विरोध नहीं करेगा वह इतनी थोड़ी और इतनी अस्पष्ट है कि उससे किसी भी सिद्धांत की पुष्टि नहीं होती। यह कहने से कि किसी विश्वास की सत्यता विश्वास मात्र पर आश्रित न होकर उन तथ्यों पर आश्रित होती है जिनके बारे में वह विश्वास होता है, संवाद-सिद्धांत और संसक्तता-सिद्धांत के झगड़े का वैसे ही निपटारा नहीं होता जैसे यह कहने से कि किसी देश की आर्थिक सुरक्षा आयात और निर्यात के असंतुलन को दूर रखने पर आश्रित होती है, ऊंचे कर लगाने, अनिवार्य बचत, या पूंजीगत व्यय के नियंत्रण की नीतियों का झगड़ा नहीं निपटता। प्रस्तुत मामले में प्रश्न कुछ ऐसा है . यह मानते हुए कि हम सब बिल्कुल अच्छी तरह से इस कथन का अर्थ समझते हैं कि एक विश्वास सत्य है (अर्थात् यह मानते हुए कि हमें इस कथन को इस तरह के अन्य कथनों से उलझाने का कोई खतरा नहीं है जैसे एक विश्वास अयुक्तियुक्त है या वह पुराने जमाने का है या उसे अधिक दृढ़ता के साथ नहीं माना जाता इत्यादि), क्या सत्यता की धारणा के और अधिक विश्लेषण से हम उसके स्वरूप के बारे में उससे अधिक कुछ कहने में समर्थ हो सकते हैं जितना हम पहले ही सामान्य बुद्धि रखनेवाले व्यक्तियों की हैसियत से कह चुके हैं?

2. दो प्रश्नों में भेद करना आवश्यक है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए प्रतिद्वन्द्वी सिद्धांतों पर हम एक-एक करके विचार करेंगे। और उनपर विचार करने में हमारे लिए दो भिन्न प्रश्नों में अंतर करना आवश्यक है, जो अंतर बता दिए जाने पर इतने अधिक स्पष्ट रूप से भिन्न प्रतीत होते हैं कि किसी व्यक्ति के उन्हें एक-दूसरे से अलग रखने में असफल होने पर आश्चर्य होता है। फिर भी, उनके फर्क के ध्यान में न रखे जाने के फलस्वरूप ही एक सिद्धांत के समर्थकों के द्वारा दूसरे के दावों को कुछ गलत समझा गया है, और शायद यही बात सत्यताविषयक अर्थक्रियावादी सिद्धांत के विकास के लिए भी मुख्य रूप से जिम्मेदार है, जिसका विलियम जेम्स के संरक्षण में अमेरिका में उतना व्यापक प्रचार रहा। वे दो प्रश्न ये हैं

(i) किसी विश्वास की सत्यता किस बात में होती है?

(ii) किसी विश्वास के सत्य होने के दावे की हम किस प्रकार जांच कर सकते हैं?

हो सकता है कि दोनों ही प्रश्नों का उत्तर एक ही हो, कि जो बात एक सत्य विश्वास को सत्य बनाती है उसी के द्वारा हमें उसके सत्य होने का पता भी चले। परन्तु शुरू में ही यह मानकर कि दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही होना चाहिए या सदैव एक ही होता है, हम वाद-विषय का बगैर जांच किए फैसला नहीं कर सकते। स्पष्ट है कि यदि (i) का कोई संतोषप्रद उत्तर मिल सके, अर्थात् यदि हम सत्यता के स्वरूप के बारे में फैसला कर सकें, तो जिस किसी मामले में हम उस स्वरूप को विद्यमान देख सकेंगे उसमें हम संबंधित विश्वास के सत्य होने के दावे की भी जांच कर चुके होंगे।

उस अर्थ में (i) का उत्तर (ii) का भी उत्तर होगा, परन्तु वह केवल एक हेतुफलात्मक उत्तर होगा जो यह कहेगा कि यदि एक विशेष विश्वास के संबंध में हम उन लक्षणों को वर्तमान पा सकें जिन्हें हमने (i) के उत्तर में पाया है तो हम उस विश्वास को सत्य सिद्ध कर देंगे। लेकिन ऐसे हेतुफलात्मक उत्तर से इस बात की कोई गारंटी नहीं मिलती कि हम एक विशेष विश्वास में सत्यता के उन लक्षणों की उपस्थिति को कभी पाएंगे। व्यवहार में, यह निर्धारित करने के लिए कि एक विश्वास सत्य है या नहीं, हमें शायद कभी-कभी या प्राय या सदैव कोई अन्य तरीका अपनाना पड़ सकता है, क्योंकि हमें यह मानने की दूसरी गलती, जिसे कि दार्शनिक कर बैठते हैं, नहीं करनी है कि प्रश्न (ii) का केवल एक ही उत्तर है। एक विश्वास की सत्यता को जाचने के अनेक तरीके हो सकते हैं जिनमें से कुछ अन्यों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होंगे। यह वैसी ही बात है जैसी यह कि तालाब के ऊपर जमी बर्फ की परत की दृढ़ता को जांचने के अनेक तरीके होते हैं, जिनमें से कुछ अन्यों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होते हैं। हत्या की जांच में इन सुरागों के मिलने और उनके अर्थ-निरूपण से हत्यारों के दावे को सत्य मानने का अच्छा हेतु प्राप्त हो सकता है, परन्तु जब हम उसे सत्य कहते हैं तब हमारा अभिप्राय उनसे नहीं होता।

यही अर्थक्रियावादी सिद्धांत का मूल दोष प्रतीत होता है। इस सिद्धांत के अनुसार एक विश्वास तब सत्य होता है जब वह उपयोगी होता है और असत्य तब होता है जब वह उपयोगी नहीं होता, अथवा, अधिक प्रचलित शब्दों में, एक विश्वास सत्य तब होता है जब वह "काम देता है।" अब एक विश्वास का उपयोगी होना या काम देना उसकी सत्यता को जांचने की एक बहुत ही महत्त्व की कसौटी हो सकता है। परन्तु यह कहना कि वह उपयोगी है, निश्चय ही इस कथन का अर्थ नहीं है कि वह सत्य है क्योंकि यदि वह उसका अर्थ होता तो यह प्रतिज्ञप्ति कि "... [illegible] अ... था पर उपयोगी था," स्वतोव्याघाती होती। न केवल यह

स्वतोव्याघाती नहीं है, बल्कि किसी को ऐसे असत्य विश्वासों की बात सोचने में भी कठिनाई नहीं होगी जो उपयोगी रहे हैं, और इसके विपरीत ऐसे अनुपयोगी विश्वासों की बात सोचने में भी कठिनाई नहीं होगी जो सत्य हैं। यदि अर्थक्रियावादियों ने यह कहा होता कि सत्यता की जाच का प्रश्न सत्यता के स्वरूप के प्रश्न से अधिक महत्वपूर्ण है, तो अर्थक्रियावाद का आधार कहीं अधिक पक्का हुआ होता। हो सकता है कि प्रश्न (i) तब अततोगत्वा बहुत रोचक न हो और कि प्रश्न (ii) का अर्थक्रियावादी उत्तर बहुत ही फलप्रद हो और वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुरूप भी हो। उस अवस्था में अर्थक्रियावादी यह कह सकता है कि (i) के बारे में उसे कोई चिंता नहीं है, परतु जो उसे मानना नहीं चाहिए, और जिसे वह अवश्य ही मानता है, वह यह है कि (ii) का उसने जो उत्तर दिया है वह वास्तव में (i) का उत्तर है।

3 सवाद किन पदों के मध्य होता है?

सवाद-सिद्धात के बारे में पहला सवाल जो स्वभावतः पैदा होता है, यह पूछना है कि वे पद कौन-से हैं जिनके बीच सवाद का संबंध होता है। अब तक हमने इस सिद्धात का जो अर्थ बताया है उसके अनुसार यह संबंध एक ओर किसी विश्वास और दूसरी ओर तत्संबधी तथ्यों के बीच होता है। तो, क्या यह समझा जाए कि यह सबध दो तथ्यों के बीच होता है, जिनमें से पहला एक विश्वास या एक निर्णय के रूप में होता है? ऐसा समझने का आधार यह है कि मेरा यह विश्वास करना कि सूर्य चमक रहा है, ठीक उतना ही एक वस्तुनिष्ठ तथ्य है जितना यह कि सूर्य चमक रहा है। मेरे विचार से इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यदि हम चाहें तो कह सकते हैं कि सवाद मेरा विश्वास है कि सूर्य चमक रहा है, इस तथ्य और सूर्य चमक रहा है, इस तथ्य के बीच है, परंतु ऐसा कहना विशेष सहायक नहीं होगा। सहायक इसलिए नहीं है कि इससे विश्वास में मौजूद वह बात ध्यान से उतर सकती है जिसका सवाद-सिद्धात से मुख्य सबध है, और वह है विश्वास का विषय। यदि सवाद विश्वास और तथ्य का सबध है, तो यह बात महत्वहीन लगती है कि सूर्य चमक रहा है, यह विश्वास आपका न होकर मेरा है: हममें से कौन यह विश्वास कर रहा है, इस बात से इस बात में कोई फर्क नहीं आता कि सवाद का सबध विश्वास और तथ्य के मध्य होता है।

फिर, इस बात से भी कोई फर्क नहीं आता कि जिसे मैंने अब तक "विश्वास" कहा है उसे अधिक विशिष्ट करके "दृढ़ धारणा" या "अस्थिर मत" या केवल 'आशका' कह दिया जाए। विश्वास चाहे जिस रूप में किया जाए, उसके सत्य

या असत्य होने पर इसका कोई असर नहीं होता। अतः यद्यपि संवाद-सिद्धांत की ओर से यह कहना पूर्णतः सही होगा कि संवाद दो तथ्यों का संबंध है, तथापि ऐसा कहना भ्रामक होगा। संवाद असल में जो विश्वास किया जाता है उसके तथा सूर्य चमक रहा है, इस तथ्य के बीच होगा, और पिछले अध्याय में बताई हुई पद्धति के अनुसार जो विश्वास किया जाता है उसका हम प्रतिज्ञप्ति कहकर निर्देश कर सकते हैं।

इससे हमारा यह मानना जरूरी नहीं हो जाता कि कुछ ऐसी रहस्यमय वस्तुएँ हैं जिन्हें केवल दार्शनिक ही देख सकते हैं और जिन्हें प्रतिज्ञप्तियां कहते हैं। इसका उद्देश्य केवल इस तथ्य की ओर ध्यान खींचना है कि जब भी हम विश्वास करते हैं तब किसी बात का विश्वास करते हैं, और कि जब हम बोलते या लिखते हैं, तब हमारे वाक्यों का (सामान्यतः) कोई अर्थ होता है। चूंकि सूर्य चमक रहा है, यह प्रतिज्ञप्ति मेरे इस विश्वास का कि सूर्य चमक रहा है, वह अंश है जिसकी वजह से मेरे विश्वास (या विश्वास करने के तथ्य) को सूर्य के चमकने के तथ्य से संवाद रखनेवाला कहा जा सकता है, इसलिए मैं संवाद-सिद्धांत की चर्चा में आगे प्रतिज्ञप्ति को संवाद-संबंध का एक पद, अर्थात् वह जिसे हम जो भी प्रश्नाधीन विश्वास को सत्य बनाता है उसके संवादी के रूप में चाहते हैं, कहूंगा। मेरे विचार से यही संवाद के समर्थकों की सामान्य पद्धति है, और शायद यही वे गलती भी करते हैं, ऐसी मुझे आशंका है। परंतु इस आशंका पर विचार अगले अध्याय में ही किया जा सकेगा।

वह दूसरा पद क्या है जिसकी वजह से एक प्रतिज्ञप्ति सत्य होती है? अब तक उसे एक तथ्य कहकर उसका निर्देश किया गया है, परंतु अभी तक इस बात का पक्ष-पोषण नहीं किया गया है और न तथ्य की वास्तव में परिभाषा ही दी गई है। यद्यपि मैं नहीं समझता कि "तथ्य" की परिभाषा दी जा सकती है, तथापि शायद दार्शनिक जिसे "प्रयोगनिष्ठ परिभाषा" कहेंगे वह दी जा सकती है, अर्थात् उसके बारे में इतना काफी कहा जा सकता है जिससे हम यह पहचान सकें कि किसी चीज को तथ्य कहते समय हम किसका निर्देश कर रहे हैं, और उसे बताने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि घटना से उसका भेद दिखा दिया जाए। क के बारे में यह कहना कि वह एक घटना है, यह मतलब रखता है कि वह काल की किसी अवधि में हुई। वह कितनी अवधि तक चलती है, यह बात बिल्कुल महत्वहीन है, और हमें इतिहास या किसी प्रक्रम के एक कालिक खंड को एक घटना मानते हैं या घटनाओं का एक अनुक्रम, यह मात्र परिपाटी की बात है। हम एक खेल-कूद-संबंधी

समारोह को सत्र-विशेष की मुख्य घटना कह सकते हैं और समारोह में हुई घोड़ की दौड़ को भी प्रोग्राम की प्रथम घटना कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में, कहाँ हम घटना का आगे की घटना से विभाजन करते हैं, एक प्रक्रम के किन भागों को हम मिलाकर एक घटना मानते हैं, इस बात का फैसला परिपाटी के अनुसार और रुचि के आधार पर किया जाता है। "एक घटना कितनी देर तक चलती है ?" यह सवाल उतना ही निरर्थक है जितना यह कि "एक कोण कितना चौड़ा है ?"

जो भी हो, घटना की आवश्यक विशेषता यह है कि उसकी कोई तारीख होती है और कुछ अवधि होती है। अनेक घटनाओं की दिक् में भी स्थिति होती है, क्योंकि बहुत-सी घटनाएं भौतिक वस्तुओं के साथ घटती हैं। अतः किसी घटना के बारे में यह पूछना कि "वह कब घटी ?," और कुछ घटनाओं के बारे में यह पूछना कि "वह कहाँ घटी ?" मायने रखता है। जिस रूप में मैं "तथ्य" शब्द का प्रयोग कर रहा हूं और सामान्यतः इसका प्रयोग किया जाता है वह ऐसा है कि एक तथ्य के बारे में यह पूछना कोई मायने नहीं रखता कि "वह कब घटा ?" या "वह कहां घटा ?" हिरोशिमा पर परमाणु-बम का गिराया जाना एक घटना था जो अगस्त 1945 में घटी; यह एक तथ्य है कि परमाणु-बम हिरोशिमा पर अगस्त 1945 में गिराया गया था, लेकिन यह तथ्य तब नहीं घटा। हम घटनाओं के होने को बताने के लिए क्रियाओं के अनेक कालों (भूत, वर्तमान, और भविष्य) का प्रयोग करते हैं, परन्तु तथ्यों को बताने के लिए केवल 'होना' क्रिया के कालनिरपेक्ष वर्तमान-सूचनार्थक रूप का प्रयोग करते हैं।[1] इस दृष्टि से एक तथ्य एक वस्तूकृत घटना, किसी घटना में जो हुआ उसका अपाकृष्ट रूप, होता है। हिरोशिमा के ऊपर परमाणु-बम गिराए जाने की वास्तविक घटना एक बहुत ही जटिल बात थी, जिसकी मोटी-मोटी बातें तक बताना कठिन है। तथ्य घटना का एक आसानी से समझ में आ जानेवाला पक्ष होता है, घटना का वह रूप होता है जो उसके बारे में सोचनेवाली बुद्धि को दिखाई देता है।

फिर, साधारण प्रयोग के अनुसार, घटना विशिष्ट होती है, लेकिन एक तथ्य का विशिष्ट होना आवश्यक नहीं है। यह तथ्य कि हिरोशिमा पर अगस्त 1945 में

---

1. "यह तथ्य कि हिरोशिमा के ऊपर परमाणु-बम गिराया गया, जापानी सरकार के आत्म-समर्पण में शीघ्रता लाने का कारण बना", यह अपवाद प्रतीत होनेवाला उदाहरण दिखावटी मात्र है, क्योंकि आत्म-समर्पण में शीघ्रता लाने वाला वह तथ्य नहीं था, बल्कि जापान के शासकों के दिमाग में उसका बैठना था, और उनके दिमाग में उसका बैठना स्वयं एक घटना या घटनाओं का एक समूह था।

परमाणु-बम गिराया गया था, विशिष्ट इस बात मे है कि इसमे उसका निर्देश है जो एक विशेष स्थान पर एक विशेष तिथि को हुआ ; और यदि उस स्थान पर उस तिथि को कोई बम न गिराया गया होता तो ऐसा कोई तथ्य न हुआ होता। परन्तु हम सामान्य तथ्यों की बात भी करते है, जैसे अधिक या कम व्यापक प्राकृतिक नियमो की। एक आदमी को शायद इस तथ्य का पता न हो कि इग्लैंड मे सड़क के बाई ओर गाड़ियाँ चलाई जाती है, यह एक सामान्य रूप मे स्वीकृत तथ्य है कि एक स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था मे क्रय-शक्ति की वृद्धि से दाम बढ जाते है, कोई भी वैज्ञानिक इस तथ्य का विरोध नही करेगा कि पानी जमने पर फैल जाता है, इत्यादि। यह कहकर कि ये तथ्य है, हम किसी विशेष घटना का निर्देश नही कर रहे है। तब भी जब हम घटनाओ के किसी *वर्ग* का निर्देश करते है, यह सभव है कि वह वर्ग ऐसा हो जिसके कोई सदस्य न हो। वैज्ञानिकों को पानी के फैलने के बारे मे प्राकृतिक नियमो का तब भी पता चल गया होता जब कभी पानी जमा ही न होता, और वे निश्चित रूप से घर्षणहीन इजनो से सबंधित नियमो का तब भी उपयोग करते हैं जब ऐसा कोई इजन बनाया ही नही गया है या वर्तमान कार्य-कारण-सत्र के अदर बनाया ही नही जाएगा।

हम सार्वभौम और अनिवार्य तथ्यो की बात भी कह सकते है, जिनका प्राकृतिक नियमो मे व्यक्त तथ्यो से भेद किया जाता है, क्योंकि वे जैसे ह उनसे भिन्न होने की उनकी कल्पना की जा सकती है, जबकि अनिवार्य तथ्य भिन्न नही हो सकते। यद्यपि ऐसी बात नही है कि गरम की हुई धातुएँ सिकुड जाएँ, तथापि ऐसा होना सभव है। शायद हम कल यह देखकर कि वे सिकुड गई है, आश्चर्यचकित हो जाएँ और क्रुद्ध भी हो जाएँ, परतु प्रागनुभवतः हम नही जान सकते कि वे सिकुडेंगी या नही। इसके विपरीत, 2+3=5, यदि अ 7 ब और ब 7 स तो अ 7 स जो भी रग-युक्त है वह विस्तार-युक्त है, इनको अनिवार्य तथ्य माना जाता है, अर्थात् ये न केवल इस जगत् पर बल्कि किसी भी अन्य संभव जगत् पर भी लागू होंगे।

इस स्पष्टीकरण से पर्याप्त रूप से प्रकट हो जाता है कि मैं "तथ्य" शब्द का किस अर्थ मे प्रयोग कर रहा हूँ ; और जहाँ तक मैं जानता हूँ, इसी अर्थ मे सामान्यतः इसका प्रयोग किया जाता है। मुझे इस मत से बधा हुआ न समझा जाए कि इस अर्थ मे तथ्य होते हैं, परतु सवाद-सिद्धात का विवेचन शुरू करने तक के लिए इस तरह बात करना आवश्यक है जैसे कि मानो ऐसे तथ्य होते हैं।

4 घटना के बजाय तथ्य को दूसरा पद होना चाहिए।

तो, संवाद-संबंध का दूसरा पद क्या है—तथ्य या घटना ? इसका जवाब बिल्कुल आसान नहीं है और इसका कारण अंशतः यह है कि इस सिद्धांत के समर्थक हमेशा साफ-साफ यह नहीं बताते कि तथ्य से उनका ठीक-ठीक क्या मतलब है, विशेषतः यह कि यदि तथ्यों के बारे में सोचनेवाली बुद्धियां न होतीं तो क्या तब भी वे तथ्यों का होना मानते। फिर भी, यदि हम एकव्यापी विधायक प्रतिज्ञप्तियों के उदाहरणों को लें (जैसे "मि० एटली ने 10 अगस्त 1947 को रात के 9 15 बजे होम सर्विस रेडियो पर वार्ता प्रसारित की", "मि० विन्स्टन चर्चिल का उनके लंदन-स्थित निवास में 11 अगस्त 1947 को देहान्त हुआ", "ग्लोसेस्टर-शायर ने 1947 में ब्रैडफर्ड में यार्कशायर को हराया", इत्यादि), तो यह कहना उचित लगेगा कि दूसरा पद एक घटना होता है।

इनमें से प्रत्येक उदाहरण में प्रतिज्ञप्ति एक विशेष घटना का होना बताती है, और इस तथ्य से कि बाद के उदाहरणों में घटना की तिथि उत्तरोत्तर कम निश्चित है, कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि मि० चर्चिल का देहांत केवल एक बार ही हो सकता था (यदि चर्चिल का बताए हुए दिन को किसी भी समय उनके लंदन-स्थित निवास पर देहांत हुआ तो प्रतिज्ञप्ति सत्य होगी), और ग्लोसेस्टरशायर का यार्कशायर के साथ खेल एक बार ही 1947 के क्रिकेट-सत्र के दौरान हुआ था। तो, प्रत्येक उदाहरण में प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनानेवाला एक विशेष घटना का होना होगा : पहले और तीसरे उदाहरण में प्रतिज्ञप्ति सत्य है, क्योंकि उनसे संवाद रखनेवाली एक घटना अवश्य हुई थी—मि० एटली ने उस समय अवश्य वार्ता प्रसारित की थी, और क्रिकेट के उस खेल का अवश्य ही वह परिणाम हुआ था। दूसरे उदाहरण में प्रतिज्ञप्ति असत्य है, क्योंकि उससे संवाद रखनेवाली घटना हुई ही नहीं—मि० चर्चिल का उस दिन अपने लंदन-स्थित निवास में देहान्त नहीं हुआ।

परन्तु यदि हम एकव्यापी विधायक प्रतिज्ञप्तियों के अपेक्षाकृत सीधे मामले को छोड़कर, जिसमें किसी चीज का घटित होना बताया जाता है, अधिक जटिल मामलों को लें, तो यह मत कि सत्य प्रतिज्ञप्तियों से संवाद घटनाओं का होता है, बहुत कम युक्तियुक्त प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, इस तरह की एक निषेधक प्रतिज्ञप्ति को लीजिए जैसे "मि० चर्चिल का 11 अगस्त 1947 को देहान्त नहीं हुआ।" यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है, लेकिन इसका संवाद किस घटना से है ? यदि हम एक सिद्धांत को बचाने के लिए आखिरी दम तक संघर्ष नहीं कर रहे हैं, तो हम शायद ही कह पाएंगे कि मि० चर्चिल के उस दिन न मरने की घटना हुई थी।

उस दिन किस समय वह घटना हुई ? हम नहीं कह सकते कि वह सुबह हुई थी, क्योंकि इसकी संगति उसके अपराह्न या शाम को देहान्त होने के साथ होगी, और उस दशा में प्रतिज्ञप्ति असत्य होगी। हमें यह कहना चाहिए कि मि० चर्चिल के न मरने की घटना 11 अगस्त 1947 को पूरे दिन हुई, और यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, यह कहना आपत्तिजनक नहीं है कि कोई घटना पूरे दिन घटी, तथापि यह सुझाव अजीब लगता है कि यदि हमें मि० चर्चिल के जीवन का उस दिन का पूरा ब्योरा देना है तो उसमें न केवल हमें वे सब बातें बतानी चाहिए जो उसके साथ घटी बल्कि वे सब बातें भी बतानी चाहिए जो उसके साथ नहीं घटी। प्रतिज्ञप्ति को सत्य बनानेवाली चीज उसे सत्य बनाने के लिए एक घटना का होना नहीं है, बल्कि उसे असत्य बनाने के लिए एक घटना (मि० चर्चिल की मृत्यु) का न होना है, और एक घटना का न होना कोई घटना नहीं है बल्कि एक तथ्य है। यह तथ्य शायद एक विचित्र प्रकार का तथ्य होगा, जिसके सही विश्लेषण के बारे में तर्कशास्त्री अभी भी उलझे हुए हैं, पर फिर भी वह एक तथ्य ही है। हम यह कहेंगे कि यह एक तथ्य है कि मि० चर्चिल उस दिन नहीं मरे या कि तथ्यतः वे उस दिन नहीं मरे, या यह कि हम इस तथ्य को जानते हैं कि वे उस दिन नहीं मरे।

इस प्रकार की कठिनाइयाँ उन प्रतिज्ञप्तियों को लेकर भी पैदा होती हैं, जो, किसी घटना का होना या न होना बताना तो अलग रहा, किसी घटना की ओर प्रकट रूप से संकेत भी नहीं करती। प्रथम, अंशव्यापी प्रतिज्ञप्तियाँ ("कुछ" के बारे में बतानेवाली), यदि वे विधानात्मक हों तो, किन्हीं घटनाओं के होने की या किसी प्रकार की किन्हीं वस्तुओं के अस्तित्व की अपेक्षा करती हैं, परन्तु इस मामले में प्रतिज्ञप्ति और घटनाओं का संवाद उस संवाद-जैसा बिल्कुल नहीं लगता जो एकव्यापी विधायक प्रतिज्ञप्तियों के मामले में होता है। "कुछ अंग्रेज 1947 में स्विट्ज़रलैंड गए", यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है, बशर्ते कम से कम दो अंग्रेज वहाँ गए हों ("कुछ" का अर्थ "एक से अधिक" मानते हुए), और वास्तव में दो से कहीं अधिक वहाँ गए जिससे कि यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है। परन्तु, इसके बावजूद कि प्रतिज्ञप्ति को सत्य करने के लिए घटनाओं की आवश्यक संख्या हुई, उनमें से कोई भी घटना उससे वैसा संवाद नहीं रखती जैसा घटनाओं का एकव्यापी प्रतिज्ञप्तियों से होता है। यदि जोन्स और ब्राउन, जो अंग्रेज हैं, 1947 में स्विट्ज़रलैंड गए तो "जोन्स और ब्राउन 1947 में स्विट्ज़रलैंड गए", यह प्रतिज्ञप्ति सत्य है और "कुछ अंग्रेज 1947 में स्विट्ज़रलैंड गए", यह प्रतिज्ञप्ति भी सत्य है। परन्तु स्पष्टतः दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ बहुत भिन्न हैं, और यदि जिस प्रकार कुछ घटनाओं को पहली प्रतिज्ञप्ति की संवादी कहा जा सकता है

उसी प्रकार की कोई चीज ऐसी बतानी है जो दूसरी प्रतिज्ञप्ति की सवादी हो, तो वह चीज एक घटना या कई घटनाएँ न होकर घटनाओ के बारे मे एक तथ्य होगी।

"कुछ" का प्रत्यय एक कोरे चेक की तरह है, जिसकी राशि देनेवाले आदमी ने अनिर्धारित छोड दी हो, और घटनाएं उस निर्धारित राशि की तरह हैं जो चेक को प्राप्त करनेवाला चेक मे भर देता है। घटनाए निश्चित मूल्य रखनेवाली पूर्णत: निर्धारित चीजें होती हैं। "कुछ ऐसा या वैसा हुआ" जैसी कोई घटनाए नहीं हो सकती, क्योकि कुछ-ऐसा-या-वैसा कभी भी नही होता। होती कोई पूरी तरह निश्चित बात ही है, जिसका हम अज्ञान या जिज्ञासा न होने के कारण अनिश्चित रूप मे कुछ-ऐसा-या-वैसा कहकर निर्देश करते है। 1947 मे हुई घटनाओ की एक विशेषता यह रही कि उनमे से एक से अधिक अंग्रेजों के स्विट्जरलैंड जाने की थी; लेकिन यह स्वयं उनमे से एक घटना नही थी, बल्कि उनके बारे मे एक तथ्य था।

द्वितीयतः, जिस तरह एकव्यापी विधायक प्रतिज्ञप्तियो के बारे मे यह कहा जाता है कि घटनाए उनकी सवादी होती हैं, ठीक उसी तरह *सर्वव्यापी* प्रतिज्ञप्तियो के बारे मे यह कहना बिलकुल भी यौक्तिक नही हो सकता कि उनकी सवादी घटनाएं होती हैं। हम कह सकते है कि सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति प्रासगिक अर्थ मे घटनाओ से अशव्यापी प्रतिज्ञप्तियो की अपेक्षा और भी अधिक दूर होती है, क्योकि वह, एकव्यापी प्रतिज्ञप्ति की तरह किसी बात के घटने या अस्तित्व को विशिष्ट करके बताना तो दूर रहा, उसके घटने या अस्तित्व का उल्लेख तक नहीं करती। सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति करती केवल यह है कि विशेषताओ मे एक सबध जोड़ देती है, लेकिन यह नहीं बताती कि उन विशेषताओ से युक्त कोई चीज अस्तित्व भी रखती है [1]; और विशेषताओ के सबध का स्वरूप सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्ति के प्रकार के साथ बदलता है (तात्त्विक संबध, आकारिक आपादन इत्यादि)। उदाहरण: "पानी 32 अंश फारेनहाइट पर जम जाता है", "अंग्रेज कपटी होता है", "2+4=6"। पहले उदाहरण का सवादी यदि किसी को कहा जा सकता है तो वह उस तापमान पर पानी के जमने की कोई घटना नही है, अथवा ऐसी घटनाओं का कोई कितना ही

1. सर्वव्यापी के आकार के कुछ वाक्य अवश्य ही अस्तित्वपरक प्रतिज्ञप्तियों को व्यक्त करते हैं, जैसे "सभी बसें रुहा रुकती है", "स्टोर में कोई चीज छः पेन्स से अधिक कीमत की नहीं है"। चूंकि इन वाक्यों का आम प्रयोग होता है, इसलिए यदि बसें हों ही नहीं या स्टोर में कुछ भी न हो तो ये वाक्य गलत माने जायगे।

बड़ा समूह भी नहीं है, बल्कि उस तापमान तक लाए जानेवाले पानी के द्रव बने रहने या न होना है, और, जैसाकि हम पहले देख चुके है, न होना स्वय एक घटना नहीं है बल्कि घटनाओ के बारे में एक तथ्य है ।

उस तापमान पर पानी के जमने के एक विशेष उदाहरण से सबधित प्रतिज्ञप्ति यह होगी . "पानी के इस कटोरे का तापमान घटाकर 32 अंश फारेनहाइट तक लाया गया और उस तापमान पर वह जम गया ।" इस घटना की पुनरावृत्ति, अर्थात् सबधित बातो मे इसकी तरह की अन्य घटनाओं का होना, ऐसी प्रतिज्ञप्तियो की हमारी सख्या मे वृद्धि मात्र करेगी। परन्तु "पानी 32 अंश फारेनहाइट पर जम जाता है", यह प्रतिज्ञप्ति ऐसी प्रतिज्ञप्तियो का सक्षिप्त रूप मात्र नही है, बल्कि उससे भी अधिक कुछ बताती है, जो यह है कि ऐसे कोई मामले नही हैं (अर्थात् हुए, है और होगे) जिनमें पानी 32 अंश फारेनहाइट पर न जमता हो; और इस प्रतिज्ञप्ति की सवादी न कोई घटना है और न घटनाओ की कोई शृ खला। यदि कोई उसका सवादी है तो वह पानी की रचना के बारे में एक भौतिक तथ्य है, और तदनुसार *यदि* कोई पानी है और *यदि* उस पानी को अमुक परिस्थितियो मे रखा जाता है तो वह अमुक तरीके से व्यवहार करेगा ।

सक्षेप मे, सवाद के समर्थक एकव्यापी विधायक प्रतिज्ञप्तियो को, यदि वे सत्य हैं तो, घटनाओं की सवादी कहे या न कहे, अन्य प्रतिज्ञप्तियो से सवाद बताने के लिए उन्हे घटनाओं के बजाय तथ्यो की जरूरत होगी। अत· प्रतिपादन में सरलता लाने के लिए मैं कहूंगा कि यह सिद्धात सत्यता को प्रतिज्ञप्तियो और तथ्यो के बीच होनेवाला संवाद-संबध बताता है; और इन पदो का अर्थ वही है जो मैंने समझाया है।

5 संवाद का सबध

अगला प्रश्न जिस पर अब स्वभावतः विचार करना होगा, यह है कि स्वय संवाद का स्वरूप क्या है। जैसा कि हम देख चुके हैं, सबध को 'सवाद' नाम दे देने मात्र से हमें इतनी पर्याप्त जानकारी नही मिलती कि हम सवाद-सिद्धात और ससक्तता-सिद्धात के विरोध को समझ सकें। इस प्रसग मे जो विभिन्न विवरण प्रस्तुत किए गए हैं उनमे से पाच ऐसो की मैं सक्षिप्त चर्चा करूगा जो सबसे आम हैं, और वे ये हैं :

(i) सवाद अनुकृति का मूल से सबध है ।

(ii) सवाद एक पद के तत्वो का दूसरे पद के तत्वो से एकैक-सबध है।

(iii) सवाद दो ऐसे पदो का संबंध है जिनकी संरचना समान होती है ।

(iv) सवाद (ii) और (iii) का सयुक्त रूप है ।

(v) सवाद-सबध विलक्षण और अविश्लेष्य है ।

पहला यानी अनुकृति-मत प्रतिज्ञप्ति को उसे जो सत्य बनाता है, प्रतिबिंबित करनेवाला दर्पण-जैसा बना देता है, और स्पष्टतः सबसे सरल और स्वच्छ विवरण है : यह कह पाना स्पष्टतः सतोषजनक लगेगा कि प्रतिज्ञप्ति वास्तविकता का मानसिक प्रतिबिंब होती है और तब सत्य होती है जब वह ठीक उसकी तरह होती है जिसे वह प्रतिबिंबित करती है तथा तब असत्य होती है जब वह किसी बात में उससे भिन्न होती है। ऐसी दशा में एक सत्य प्रतिज्ञप्ति मेरी उस परछाई की तरह होगी जिसे मैं एक चिकने, समतल दर्पण में देखता हू, [1] और एक असत्य प्रतिज्ञप्ति उस परछाई की तरह होगी जिसे मैं एक दोषपूर्ण या आकृति को बिगाड़नेवाले दर्पण मे देखता हूं।

इस विवरण के विरुद्ध आलोचक प्रायः दो आपत्तिया उठाते हैं, पहली यह कि प्रतिज्ञप्तियां सामान्यत. उन चीजों से थोड़ा भी सादृश्य नही रखतीं जिनके बारे में वे होती हैं, और दूसरी यह कि विशेषतः प्रतिज्ञप्तियो मे यथार्थता की मात्राएं हुआ करती हैं जबकि जिन चीजों के बारे मे वे होती है उनमें ऐसा नही होता। पहली के उदाहरण के बतौर, "मेरा कुत्ता भूरा और सुस्त है", यह प्रतिज्ञप्ति तब सत्य है जब मेरा कुत्ता भूरा और सुस्त हो, परतु यह प्रतिज्ञप्ति तनिक भी मेरे भूरे सुस्त कुत्ते की तरह नहीं है। यह कहना मायने रखता है कि मेरा कुत्ता भूरा है या सुस्त है या उसे बुरुश की जरूरत है, परंतु यह कहना कोई मायने नही रखता कि प्रतिज्ञप्ति ऐसी है। दर्पणगत प्रतिबिंब तक के मामले मे केवल कुछ ही बातें ऐसी होती है जिनमें प्रतिबिंब मूल से सादृश्य रख सकता है, और मेरे कुत्ते के दर्पणगत प्रतिबिंब के बारे मे यह कहना कोई मायने नही रखेगा कि उसे बुरुश की जरूरत है। परतु प्रतिज्ञप्ति के मामले में क्या कोई भी बात ऐसी हो सकती है जिसमे प्रतिज्ञप्ति मूल से सादृश्य रखे ?

अब, यह आपत्ति दूसरे पद को एक वस्तु या घटना माननेवाले सवाद-सिद्धात के खिलाफ तो उचित होगी, परतु उसे एक तथ्य माननेवाले सिद्धात के खिलाफ उतनी प्रभावकारी नही होगी, क्योंकि मेरे भूरे कुत्ते के सुस्त होने का तथ्य भी मेरे

---

1. यहां यह बात महत्त्वहीन है कि दर्पण दाहिने हिस्से को बाईं ओर और बाएं हिस्से को दाहिनी ओर दिखलाता है।

सुस्त भूरे कुत्ते के उतना ही असदृश है जितनी वह प्रतिज्ञप्ति। निस्सदेह हम 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग बहुत ही अटपटे अर्थ मे कर रहे है, क्योकि एक चीज को तब तक अन्य चीज की अनुकृति सामान्यत. नही कहा जाता जब तक दोनो दृश्य न हो. और यद्यपि मेरा कुत्ता दृश्य है, तथापि न तो उसके सुस्त और भूरे होने का तथ्य दृश्य है और न ऐसा बतानेवाली प्रतिज्ञप्ति दृश्य है।

इसके बावजूद, यदि 'अनुकृति' शब्द का प्रयोग 'सादृश्य रखने' के पर्याय के रूप मे किया जा रहा है तो प्रतिज्ञप्ति और तथ्य का अदृश्य होना उन्हे एक-दूसरे के सदृश होने से नही रोक सकता, क्योकि न केवल दो सवेद्य चीजे, जैसे दो गधें, दो ध्वनिया, या दो स्वाद, परस्पर सादृश्य रख सकती है बल्कि दो असवेद्य चीजें भी, जैसे दो तर्क, या दो धार्मिक सिद्धात। मुझे मालूम नही है कि यह उत्तर सवाद के समर्थक को कहा पहुचाएगा, क्योकि जब तक वह यह न माने कि सादृश्य का सबध आधारभूत होता है तब तक उसे उस बात या उन बातो को बताना जरूरी होगा जिनमे प्रतिज्ञप्ति और तथ्य परस्पर सदृश है, और ऐसा करना उसे कठिन लगेगा, जब तक वह (ii), (iii) या (iv) मे दिए विवरण की सहायता न ले, और सहायता लेने पर तथाकथित अनुकृतिपरक विवरण को वह त्याग चुका होगा।

लेकिन सवाद का अनुकृति-सिद्धात मुझे स्वीकार्य नही है। जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, इसके विरुद्ध जो आपत्तिया उठाई गई है उनसे बचने के लिए उसे इस सबध के बारे मे आगे जिन अन्य मतो पर विचार करना है उनमे से किसी एक के साथ अपना अभेद करना पड़ेगा। और इससे भी अधिक गभीर बात यह है कि (बाद मे इसकी विशद चर्चा की जाएगी) एक सत्य प्रतिज्ञप्ति और उसके सवादी तथ्य का एक-दूसरे से सादृश्य कैसे होगा, यह समझने मे मै असमर्थ हू, क्योकि मेरी समझ मे यह बिल्कुल भी नही आता कि उनमे भिन्नता क्या होगी। दो चीजो मे प्रकारात्मक सादृश्य होने के लिए उनमे संख्यात्मक भेद होना चाहिए, अर्थात् उन्हे दो चीजें होना चाहिए; और मुझे यह समझ मे नही आता कि हमे तथ्यो और सत्य प्रतिज्ञप्तियो दोनो की आवश्यकता है। पर इस बात की चर्चा बाद मे की जाएगी।

ऊपर उल्लिखित दूसरे मत के अनुसार सवाद का सबध वह है जिसे प्रतिज्ञप्ति और तथ्य का एकैक-सबध कहते है। एकैक-सबध का मतलब यह है कि एक के एक तत्व के अनुरूप दूसरे मे एक तत्व है। इसे स्कूल के अध्यापक का उदाहरण देकर स[मझा]या जा सकता है जो अपनी कक्षा की हाजिरी लेते समय "उपस्थित" कहने-

वाले प्रत्येक छात्र के नाम के आगे रजिस्टर में टिक का निशान बना देता है और जिस का ऐसा उत्तर नहीं मिला उसके नाम के आगे क्रास का निशान बना देता है। यह मानते हुए कि उसकी नामावली पूरी है और कोई भी उपस्थित छात्र "उपस्थित" बोले बिना नहीं रहा और न उसने किसी अनुपस्थित छात्र के लिए "उपस्थित" कहा, टिक और क्रास का कालम कक्षा की वर्तमान स्थिति के बिल्कुल अनुरूप होगा, जिसमें प्रत्येक टिक एक उपस्थित छात्र का और प्रत्येक क्रास एक अनुपस्थित छात्र का सूचक होगा।

परंतु सत्यता में प्रतिज्ञप्ति के तत्वों और तथ्य के तत्वों के बीच एकैक-संबंध हो या न हो, ऐसा नहीं हो सकता कि उसमें मात्र इतना ही हो, अर्थात् यद्यपि शायद एकैक-संबंध होना एक प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने की एक अनिवार्य शर्त हो तथापि यह उनकी पर्याप्त शर्त नहीं होगी। अंगों के बीच रहनेवाले उन अलग-अलग संवाद-संबंधों के स्वरूप को खोलकर समझाने की कठिनाई से बिल्कुल अलग जिनके संयोग से वाक्यों के बीच संवाद होता है, दो विशेष कठिनाइयां भी हैं।

(अ) पहले जिन प्रतीकों का प्रयोग किया गया था उनका यहां भी प्रयोग किया जाता है। तदनुसार अ और ब दो पद हैं, और स उनका संबंध है। हम मानेंगे कि प्रतिज्ञप्ति अ स ब और तथ्य अ स ब के मध्य एकैक-संबंध है; परंतु यह हम नहीं मानेंगे कि (कुछ विशेष प्रकार के संबंधों की बात को छोड़कर) प्रतिज्ञप्ति अ स ब तथ्य ब स अ की वजह से सत्य है, और कुछ संबंधों को लेकर हमको कहना होगा कि प्रतिज्ञप्ति अ स ब तथ्य ब स अ की वजह से निश्चित रूप से असत्य है। फिर भी, प्रतिज्ञप्ति के प्रत्येक तत्व का संवादी तथ्य में एक तत्व है, और तथ्य में ऐसा कोई भी तत्व शेष नहीं बचता जिसका संवादी कोई तत्व प्रतिज्ञप्ति में न हो।

उदाहरण के लिए, "विलियम मेरी को प्यार करता है," इस प्रतिज्ञप्ति की तुलना इस तथ्य से कीजिए कि विलियम मेरी को प्यार करता है; और फिर "जैक जिल से बड़ा है," इस प्रतिज्ञप्ति की इस तथ्य से भी तुलना कीजिए कि जिल जैक से बड़ी है। प्रत्येक मामले में प्रतिज्ञप्ति के प्रत्येक तत्व का संवादी तथ्य में एक तत्व है, और तथ्य के प्रत्येक तत्व का संवादी प्रतिज्ञप्ति में एक तत्व है। फिर भी, पहले जोड़े के मामले में यदि प्रतिज्ञप्ति, "विलियम मेरी को प्यार करता है," वाकई सत्य है तो वह सत्य इस तथ्य की वजह से नहीं है कि मेरी विलियम को प्यार करती है, बल्कि इस तथ्य की वजह से है कि विलियम मेरी को प्यार करता है, जो कि पहले तथ्य से बिल्कुल भिन्न है। और दूसरे जोड़े के मामले में न केवल यह बात है कि

प्रतिज्ञप्ति, "जैक जिल से बड़ा है," इस तथ्य की वजह से सत्य नहीं है कि जिल जैक से बड़ी है, बल्कि यह भी है कि वह इस तथ्य की वजह से निश्चित रूप से असत्य है।

(व) फिर, हमारे पास एक प्रतिज्ञप्ति (प्रतीकों के रूप में, अ स व हो सकती है और तथ्य अ स ब हो सकता है, जैसे "सब पिता अपने पुत्रों के प्रति कोई अभिवृत्ति रखते हैं", यह प्रतिज्ञप्ति और तथ्य यह कि मि० ब्राउन अपने पुत्र से निराश हैं। यहां एकैक-संबंध इस तरह है कि प्रतिज्ञप्ति और तथ्य के प्रत्येक तत्व का संवादी एक तत्व तथ्य और प्रतिज्ञप्ति में है। और इसी प्रकार एक अन्य एकैक-संबंध भी होगा, यदि दूसरा तथ्य क स ख हो, और हो भी सकता है, जैसे यह कि मि० थाम्पसन अपने पुत्र पर गर्व करते थे। परन्तु हम यह कहने के लिए तैयार नहीं होंगे कि "सब पिता अपने पुत्रों के प्रति कोई अभिवृत्ति रखते हैं," यह प्रतिज्ञप्ति मि० ब्राउन के अपने पुत्र से निराश होने या मि० थाम्पसन के अपने पुत्र पर गर्व करने की वजह से सत्य है। एक बार फिर यह सिद्ध हो गया है कि यद्यपि किसी प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने के लिए एक एकैक-संबंध आवश्यक हो सकता है, तथापि स्पष्टत: उसकी सत्यता के लिए यह पर्याप्त नहीं है।

मत (iii) के अनुसार संवाद प्रतिज्ञप्ति और तथ्य के मध्य संरचना की एकता है। इसके सामने भी इसी तरह की कठिनाइयां हैं और यह पिछले मतों से भी कम युक्तियुक्त लगता है। संरचना की एकता से मतलब यह है कि प्रतिज्ञप्ति का आकारिक ढांचा वही है जो तथ्य का है। परन्तु "एडिनबरा विन्चेस्टर की अपेक्षा समुद्र के अधिक निकट है," इस प्रतिज्ञप्ति का ढांचा ठीक वही है जो निम्नलिखित तथ्यों में से किसी भी एक का है साउथेम्पटन न्यूबरी की अपेक्षा समुद्र के अधिक निकट है, एडिनबरा पेरिस की अपेक्षा उत्तरी ध्रुव के अधिक निकट है, प्रधान मंत्री बर्मिंघम के पादरी की अपेक्षा संसद्-सदनों के अधिक निकट रहते हैं। वह प्रतिज्ञप्ति और ये तथ्य सब एक ही ढांचा प्रदर्शित करते हैं, परन्तु इस अर्थ में प्रतिज्ञप्ति के उनमें से प्रत्येक से संवादित होने के बावजूद वह उनमें से किसी की वजह से सत्य नहीं है, और वास्तव में वह असत्य है।

मत (iv) भी जिसमें (ii) और (iii) संयुक्त हैं, कोई अच्छा नहीं निकलता, क्योंकि मत (ii) की कठिनाई (अ) से बच जाने के बावजूद भी वह कठिनाई (ब) से और मत (iii) के विरुद्ध ऊपर बताई हुई आपत्ति से नहीं बच पाता। फिर, दाएं से गिने जानेवाले सैनिकों की एक लाइन में "न० 9 न० 11 से एक छोड़कर अगला है," यह प्रतिज्ञप्ति आवश्यक अर्थ में इस तथ्य की संवादी है कि न० 3

नं० 5 से एक छोड़कर अगला है, परंतु वह सत्य बिल्कुल भी इस तथ्य की वजह से नहीं है। वह वास्तव में उस दशा में असत्य होगी यदि नं० 11 कोई हो ही नहीं अथवा यदि नं० 11 तो हो पर नं० 10 न हो (अर्थात् यदि लाइन एक पिछली लाइन हो और नं० 10 एक खाली फाइल हो), क्योंकि तब नं० 9 न० 11 से अगला होगा।

संवाद-संबंध के ऊपर दिए हुए सारे विवरणों की अपर्याप्तता को सिद्ध करने के लिए अब और श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। अब हमारे पास अंत में विकल्प (v) बच रहता है जिसके अनुसार संवाद एक ऐसा विलक्षण और अविश्लेष्य संबंध है कि उसे अन्य विवरणों के द्वारा बताए हुए किसी भी तरीके से खोलकर बताने की कोशिश करना व्यर्थ है।

अब, यही बात इस मत के अपनाए जाने योग्य होने में बाधक बन जाती है। यह तो ठीक है कि कुछ गुण और संबंध अवश्य ही विलक्षण और अविश्लेष्य होते हैं, पर जो गुण और संबंध अधिक जटिल है उनके लिए मूल घटक जुटाने के लिए किसी भी विशेष गुण या संबंध को लेकर उसके विलक्षण और अविश्लेष्य होने के बारे में ऐकमत्य प्राप्त करना अत्यधिक कठिन है। हम उसे तब विश्लेष्य सिद्ध कर सकते हैं जब हम उसका एक ऐसा विश्लेषण प्रस्तुत कर सकें जो उन सब मामलों में ठीक बैठे जिनमें वह स्वयं ठीक बैठता हो, और जो जिन मामलों में ठीक बैठता है उनमें वह भी ठीक बैठता हो। परन्तु यदि कोई प्रस्तुत किया हुआ विश्लेषण उस शर्त को पूरा करने में असफल रहता है, तो हमारे पास ये विकल्प बच रहते हैं (अ), कोई सही विश्लेषण है जिस पर पहुंचने में हम अभी सफल नहीं हो पाए हैं, अथवा (ब) वह अमिश्रित और अविश्लेष्य है।

कोई शायद यह आशा करेगा कि प्रश्नाधीन गुण या संबंध को जांचने और यह देखने मात्र से कि वह अविश्लेष्य है, वह पहचान सकेगा कि बात वह है जो (ब) में कही गई है, और इसके बावजूद वह मालूम करेगा कि यह देखना कितना कठिन है या अविश्लेष्यता को ठीक-ठीक पहचानना कितना मुश्किल है। और इस मत के समर्थक कि अमुक संबंध अविश्लेष्य है, वास्तव में लगभग सदैव इसका समर्थन इसलिए करते हैं कि उसका विश्लेषण करने के पिछले प्रयत्न असफल हो चुके होते हैं। अतः उनके बारे में यह आशंका होती है कि अपने सिद्धांत को स्वीकार-योग्य बनाने की अपनी पिछली असफलताओं से भागकर वे एक रहस्यमय सूत्र की शरण ले रहे हैं। यह बात नहीं है कि संबंध स्पष्ट रूप से अविश्लेष्य हो, बल्कि यह मान लिया जाता है कि उसे प्रकटतः अविश्लेष्य होना चाहिए। परंतु "प्रकटतः अविश्लेष्य होना चाहिए" का असली मतलब यह निकलता है कि यदि इस सिद्धांत को बचाना है तो

सबध को अविश्लेष्य होना चाहिए। लेकिन विवाद मुख्यतः ठीक इसी बात पर है कि क्या इस सिद्धात को बचाना है। मैं यह कहने के लिए तैयार नही हूँ कि सवाद एक अमिश्रित और अविश्लेष्य सबध नही हो सकता, परतु यह मालूम करने का तरीका कि वह ऐसा है, मुझे बुद्धि को अशात करनेवाला लगता है। मेरा विचार यह बनता है कि यह एक कपटपूर्ण समाधान-जैसा कुछ है। परतु मेरी समझ मे नहीं आ रहा है कि इसके खिलाफ आगे क्या दलील दूं।

6 इस आपत्ति पर विचार कि कोई निर्णय सत्यापनीय नहीं होगा।

संवाद-सिद्धात के विरुद्ध सामान्यत जो बाकी आपत्तियाँ की जाती है वे जैसा कि अब तक रहा है, इस सबध के पदो के स्वरूप या स्वय सबध के ही स्वरूप के बारे मे पूछे जानेवाले प्रश्नो का रूप नही लेती, बल्कि इस जिज्ञासा का रूप लेती हैं कि यदि सवाद-सिद्धात सत्य हो तो परिणाम क्या होगे। यह दलील दी जाती है कि यदि वह सत्य हो तो हम कदापि किसी निर्णय का सत्यापन नही कर सकेंगे, क्योकि सत्यापन के लिए अपेक्षित अनुभव स्वय ही निर्णयो के रूप मे होता है। अर्थात् (i) हम अवश्य ही कुछ निर्णयो का अनुवर्ती अनुभव से सत्यापन करते हैं, (ii) अनुभव स्वय निर्णयो के रूप मे होता है, (iii) अत सवाद-सिद्धात के द्वारा आवश्यक बताए गए प्रकार के तथ्यो तक हम कदापि नही पहुँच सकते,(iv) अतः यदि सवाद-सिद्धात सत्य है तो निर्णयो का सत्यापन, जिसे कि हम भलीभांति जानते है कि हम वास्तव मे करते हैं, हम कर नही सकते, (v) अत संवाद-सिद्धात गलत है। अब, यह दलील एक या अधिक, परस्पर कुछ भिन्न, रूप ले सकती है, जो पृ० 143 पर भिन्न बताए गए दो प्रश्नो को एक-दूसरे से अलग रखने की बात को याद न रखनेवाले पाठक को आसानी से चक्कर मे डाल सकते हैं। इस प्रसग मे वे प्रश्न इस प्रकार बन जाते है:

(i) क्या सवाद सत्यता का स्वरूप है ?

(ii) क्या सवाद सत्यता की एक (या एकमात्र) कसौटी है ?

इस आपत्ति का मतलब यह निकलता है कि हम तथ्य के साथ सवाद होने का प्रतिज्ञप्ति की सत्यता की कसौटी के रूप मे उपयोग नही कर सकते, क्योकि हम कभी प्रतिज्ञप्तियो से छुटकारा पाकर इस तरह शुद्ध तथ्यो मे नही पहुँच सकते कि प्रतिज्ञप्ति और तथ्य की आवश्यक तुलना कर सकें। परतु यदि हम आपत्ति की इस आधारिका को स्वीकार कर भी लें कि तथ्यो का तथाकथित प्रेक्षण सदैव स्वय

प्रतिज्ञप्ति के रूप में होता है, तो भी इससे अधिक से अधिक यही सिद्ध होगा कि संवाद को सत्यता की कसौटी नहीं बनाया जा सकेगा : यह इससे सिद्ध नहीं होगा कि सत्यता संवाद नहीं है। ऐसा लगता है कि संवाद-सिद्धांत के कुछ आलोचकों ने इस बात को अन्यों से अधिक साफ रूप में समझा है।[1]

निस्संदेह, यदि इस आपत्ति को स्वीकार कर लिया जाए, तो यह मालूम पड़ेगा कि संवाद-सिद्धांत के दावे घटकर बहुत ही कम और महत्वहीन रह जाएँगे ; और इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि संवाद-सिद्धांत के अधिकतर समर्थकों के अनुसार संवाद न केवल सत्यता का स्वरूप है बल्कि उसकी कम से कम एक कसौटी भी है। इसके बावजूद इस तथ्य (यदि यह तथ्य हो तो) से कि संवाद सत्यता की कोई सुलभ कसौटी प्रदान नहीं करता, इस बात का निकलना सिद्ध नहीं होता कि संवाद सत्यता का स्वरूप नहीं है। एक कसौटी के रूप में भी संवाद की त्रुटि यह नहीं होगी कि उसका उपयोग यदि किया भी जा सके तो भी वह काम नहीं देगा, बल्कि यह है कि वह है ही ऐसा कि हम उसका उपयोग नहीं कर सकते।

7 आपत्ति की आधारिका : अनुभव सदैव प्रतिज्ञप्तिमय होता है।

अब हम आपत्ति की आधारिका पर, यानी इस बात पर कि अनुभव सदैव प्रतिज्ञप्तिमय होता है, विचार करते हैं, और एक विशेष दृष्टांत को लेते हैं। मान लीजिए कि आपने अपनी किताब गलत स्थान पर रख दी है और मैं आपको बताता हूँ कि वह बगल के कमरे में मेज पर पड़ी है, आप उस कमरे में जाते हैं, किताब को मेरी बताई जगह पर पाते हैं, और मानते हैं कि मेरी बात सही है ; अपने व्यवहार से आपने मेरे निर्णय को सत्यापित कर दिया है। ये मुकदमे के दस्तावेजों के मानिंद हैं जिनको लेकर सत्यता का कोई भी सिद्धांत विवाद उठाना नहीं चाहेगा, हालांकि इनका और स्पष्टीकरण वह चाह सकता है। संवाद-सिद्धांत के अनुसार (उसके सीधे रूप में) मैंने एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति का कथन किया है जिसे आपने एक संवादी तथ्य का प्रेक्षण करके सत्यापित कर दिया है। (यह बात महत्वहीन है कि

---

1. जैसे प्रो० ब्लैन्शर्ड, पीछे उद्धृत पुस्तक का जि० II, पृ० 228 इत्यादि पर, इसे "सत्यता की कसौटियाँ" नामक अध्याय में शामिल करते हैं। इसके विपरीत प्रो० जोआकिम, पीछे उद्धृत पुस्तक के पृ० 19-24 पर, दोनों प्रश्नों को बुरी तरह परस्पर उलझा देते हैं।

सत्यापन मेरे बजाय आपने किया है, क्योंकि मैं भी बगल के कमरे मे उतनी ही आसानी से जा सकता था।)

परतु आलोचक कहेगा कि बात इतनी सीधी-सादी नही है : ऐसा नही होता कि एक तरफ हमारी शुद्ध रूप से मानसिक प्रतिज्ञप्तिया हो और दूसरी तरफ पूर्णतः अमानसिक तथ्य जो, यदि हमारा उनसे सामना हो जाए और हम उनका मानसिक प्रतिज्ञप्तियो से सवाद भाप ले तो, हमे प्रतिज्ञप्तियो का सत्यापन करने मे समर्थ बना देंगे, प्रतिज्ञप्तियो और वास्तविकता का विभाजन दुर्भाग्य से इतना सुस्पष्ट नही है; विशेष बात यह है कि तथ्य का प्रेक्षण, जो सत्यापन के लिए जरूरी है, किसी दी हुई चीज को आँखे खोलकर ग्रहण करना मात्र नही होता। जब आप बगल के कमरे मे गए और आपने मेज के ऊपर किताब पड़ी देखी, तब आपने उसे मेज पर एक किताब (या अपनी ही किताब) के रूप मे देखा, और उसे उस रूप मे देखने मे आप जो आपकी ज्ञानेन्द्रियों के सामने प्रस्तुत हुआ था उसे मन मे अकित करने मात्र से अधिक काफी कुछ कर रहे थे। आप मेज पर किताब को देखने जैसा अनुभव करने मे समर्थ होने के लिए अनेक रूपो मे अपने अतीत का उपयोग कर रहे थे। जब तक आपके मन मे किताब और मेज के सप्रत्यय पहले से मौजूद न रहे हो, तब तक आप एक को किताब के रूप मे और दूसरे को मेज के रूप मे कैसे सोच पाते ? और ये सप्रत्यय आए कहाँ से ? निश्चित है कि ये अभी-अभी आपने प्राप्त नही किए, क्योंकि वस्तुएँ आपके सामने इन लेबलो के साथ चलकर नही आई कि "मैं किताब हूँ" और "मै मेज हूँ।"

इस प्रकार, तथाकथित प्रत्यक्ष या प्रेक्षण मात्र दी हुई चीज का कैमरे से फोटो उतारने जैसा कुछ नही होता, उसमे मन के द्वारा अतीत अनुभव के ढाचे के अनुसार अर्थ-निरूपण भी शामिल रहता है। और ठीक क्या आप देखते है, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि आपके अनुभव का ढाचा क्या रहा है, विशेष रूप से इस बात पर कि आपकी रुचिया, सामान्य रूप से या इस विशेष मामले म, क्या है। इस उदाहरण मे कही अधिक सभावना आपके पहिचान के उन चिह्नो को देखने की है जिनके द्वारा वह विशेष किताब जिसे आप ढूढ रहे है शिनाख्त की जाती है, जैसे पुट्ठे पर सबसे नीचे पडा हुआ स्याही का छोटा-सा दाग। ऐसी बहुत कम सभावना है कि आप अखबार ढूढते-ढूढते बगल के कमरे मे पहुँच गए होते और उसे किताब के नीचे पा गए होते। अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष को केवल व्यक्ति के पिछले अनुभव की रोशनी मे ही समझा जा सकता है और वह तदनुसार स्वय भी एक ˋ ˋयˋˋ ˋ ा है ऐसा स्पष्ट निर्णय नही जिसमे "यह किताब वे मेरे सप्रत्यय मे

ठीक बैठ जाता है", इस तरह का स्पष्ट वाक्य समाविष्ट हो, बल्कि दत्त को व्यक्ति के अनुभव की योजना के अंदर व्यवस्थित करनेवाला अचेतन निर्णय होता है।

कोई कान्ट की तरह यह भी कह सकता है कि अतीत अनुभव से लिए हुए "मेज" और "किताब" जैसे विशेष मानसिक संप्रत्ययों के अलावा "द्रव्य" (वस्तुत्व के अर्थ में) और "कारण" जैसे अधिक आधारभूत संप्रत्ययों के उपयोग की भी जरूरत होती है, जो अनुभव से व्युत्पन्न संप्रत्यय नहीं होते बल्कि किसी अज्ञात रूप से अनुभव में निहित रहते हैं और जैसा हमें होता है वैसे किसी भी अनुभव की संभावना के लिए अनिवार्य शर्तों के रूप में होते हैं। अर्थात् अपने प्रत्यक्षों में मैं निस्संदेह वस्तुओं को वस्तुओं के रूप में देखता हूँ (दृष्टि को उदाहरण के बतौर लिया जा रहा है), मैं किताब को एक वस्तु रूप में, मेज को एक अन्य वस्तु के रूप में, और इन दोनों को किताब के बगल में पड़ी राखदानी से या मेज के नीचे बिछी हुई दरी से भिन्न रूप में देखता हूँ। अब, यद्यपि शायद मैंने अनुभव से किताबों को राखदानियों से और मेजों को दरियों से अलग पहचानना सीख लिया होगा, तथापि ऐसा मैं तब तक बिलकुल भी नहीं कर सकता था जब तक वस्तुत्व का संप्रत्यय मुझे स्वतंत्र रूप से प्राप्त न रहा हो। मैं तब तक स्वयं से यह सवाल नहीं पूछ सकता कि "यह वस्तु कहाँ समाप्त होती है और वह वस्तु कहाँ शुरू होती है ?", जब तक वस्तुओं के रूप में सोचना मैं पहले से ही न जानूँ और यह जानकारी कि कोई एक वस्तु है मुझे अपनी ज्ञानेन्द्रियों से नहीं मिलती।

अब चाहे कोई ऊपर कही इस बात से सहमत हो या न हो कि प्रत्यक्षों को अनुभव से अव्युत्पन्न कुछ आधारभूत संप्रत्ययों की जरूरत होती है, मेरी समझ से कोई भी इस बात पर विवाद खड़ा करना न चाहेगा कि बाह्य जगत् का हमारा प्रत्यक्ष हमारे पिछले अनुभव से लिए हुए तत्त्वों से बनता है, अथवा कोई भी यह न मानना चाहेगा कि जो कुछ मैं इस समय देखता हूँ वह जो पहले अनुभव हो चुका है उसके ढाँचे में बैठे बिना समझ में आ सकता है। इसका एक परिणाम यह होगा कि कोई भी प्रत्यक्ष शंकातीत नहीं माना जाएगा : यदि प्रत्यक्ष में सदैव चेतन या अवचेतन रूप से स्मृति का उपयोग, अतीत की फाइल-पद्धति में वर्तमान का वर्गीकरण, शामिल रहता है, तो किसी भी निर्दिष्ट प्रत्यक्ष को लेकर यह तार्किक गारंटी नहीं दी जा सकती कि प्रत्यक्षकर्ता गलती नहीं कर रहा है या गलत वर्गीकरण नहीं कर रहा है। आखिर हम ठीक इस प्रकार की गलतियाँ करते तो हैं ही, जैसे किसी चीज को जो वास्तव में खच्चर है घोड़ा मानने की या जो वास्तव में क्लेरिनेट है उसे ओबो मानने की।

अनेक इंद्रियानुभववादी दार्शनिकों को उनकी सुरक्षा को इस प्रकार धक्का लगने से इतना अधिक भय हो गया है कि यद्यपि भौतिक जगत् को उन्हें अनिश्चय में झूलता छोड़ देना पड़ा है तथापि संवेद्य जगत् से वे चिपके रहे और उन्होंने यह आग्रह किया कि जब तक हम अपने इंद्रिय-दत्तों की सूचना देने तक स्वयं को सीमित रखते हैं तब तक हम गलती नहीं करेंगे। मैं यह मानने में गलती कर सकता हूँ कि जो मैं देख रहा हूँ वह पेनी है, परन्तु यह मानने में मैं गलती नहीं कर सकता कि जिसका मुझे संवेदन हो रहा है वह एक भूरा-सा गोल-सा धब्बा है। जिसे अव्यवहित रूप से दिए हुए के बाहर फैला हुआ माना जाता है उसे छोड़ देने से वे समझते हैं कि अपने इंद्रिय-दत्तों की असंदिग्धता को वे बचा लेंगे, क्योंकि वे ही अव्यवहित रूप में दिए हुए हैं। यह मत कि मैं अपने इंद्रिय-दत्तों के स्वरूप के बारे में गलतियाँ (भाषाई गलतियों को छोड़कर) नहीं कर सकता, काफी लंबे अरसे से प्रचलित रहा है, और इसकी आकर्षकता स्पष्ट ही है। परन्तु इसकी वैधता बहुत ही संदिग्ध लगती है।

क्या किसी चीज के "भूरा-सा गोल-सा धब्बा" जैसे संवेदन में सप्रत्यय या वर्गीकरण या स्मृति उससे कम शामिल रहते हैं जितना ये किसी चीज को एक पेनी के रूप में देखने में शामिल रहते हैं? यह सही है कि यहाँ शामिल सप्रत्यय ऐसे अधिकतर सप्रत्ययों से कहीं अधिक प्रारंभिक या कम जटिल हैं जो भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष में शामिल रहते हैं। परन्तु भौतिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष के मामले में यद्यपि सप्रत्ययों की जटिलता गलती की जोखिम को बढ़ाती अवश्य है, तथापि गलती होती तो सप्रत्ययों के द्वारा अर्थ-निरूपण और वर्गीकरण से ही है। अतः यह मानने का कोई हेतु नहीं है कि गलतियों की दृष्टि से संवेदन, जिसमें सप्रत्यय, भले ही वे बहुत ही आदिम प्रकार के हों, शामिल अवश्य रहते हैं, एक विलक्षण रूप में विशेषाधिकारपूर्ण स्थिति में होता है। और क्या हममें से सभी को इस बारे में अनिश्चय का अनुभव नहीं हुआ है कि एक विशेष रंग या गंध या स्वाद या ध्वनि किस प्रकार की है? बात इतनी मात्र नहीं है कि गंध कहाँ से आ रही है, या इस प्रकार की गंध का आम भाषा में क्या नाम है, इस बारे में हमें निश्चय न हो (इन दोनों ही के बारे में एकसाथ हमें अनिश्चय हो सकता है), बल्कि स्वयं गंध के स्वरूप के बारे में —वह ठीक किस किस्म की है, इस बारे में—हमें अनिश्चय होता है। और यदि हमें अनिश्चय हो सकता है तो गलतियाँ भी हम अवश्य करते होंगे।

8 संवाद-सिद्धांत के साथ इसकी संबद्धता

अब यह सब संवाद-सिद्धांत पर क्या असर डालता है ? यह याद रखने की बात है कि यह संवाद को सत्यता की एक कसौटी मानने के विरुद्ध, अर्थात् इस मत के विरुद्ध कि हम एक प्रतिज्ञप्ति का उसके संवादी तथ्य का प्रेक्षण करके सत्यापन कर सकते हैं और दोनों की तुलना करके उनके बीच संवाद-संबंध का पता लगा सकते हैं, एक आपत्ति के रूप में कहा गया है। हमने माना यह है कि प्रत्यक्ष, अव्यक्त रूप से ही सही, पर होता प्रतिज्ञप्तिमय ही है; और उक्त आपत्ति इस बात का आग्रह करके कि प्रेक्षण के द्वारा आखिर हम एक प्रतिज्ञप्ति और एक तथ्य के मध्य एक संबंध को नहीं ढूंढते बल्कि एक प्रतिज्ञप्ति और अन्य प्रतिज्ञप्तियों के तंत्र—यानी उन प्रतिज्ञप्तियों के जिनके ढांचे के अंदर प्रेक्षण का हमारा वर्तमान अनुभव स्थान रखता है—के बीच एक संबंध को ढूंढते हैं, इस बात को मस्तिष्क में ठूंसकर मानो संवाद-सिद्धांत के ताबूत में एक कील ठोंक देती है। संक्षेप में, सत्यापन कदापि एक प्रतिज्ञप्ति की एक तथ्य से तुलना करने से अथवा उनके बीच एक संबंध खोज लेने से नहीं होता। असल में उसे एक प्रतिज्ञप्ति और प्रतिज्ञप्तियों के एक तंत्र के बीच एक संबंध को खोज लेने से ही होना चाहिए, और वह संबंध, जैसा कि हम थोड़ी देर में देखेंगे, संसक्तता का संबंध है।

9. आपत्ति वैध नहीं है।

यह आपत्ति प्रायः इस मत के लिए घातक मानी जाती है कि संवाद को सत्यता की एक कसौटी के बतौर इस्तेमाल किया जा सकता है, परंतु मुझे इसका महत्व बहुत ही संदिग्ध लगता है। पहली बात यह है कि यह भाषा में अव्यवस्था पैदा करती है, उस तरह की अव्यवस्था जिसका दार्शनिकों के द्वारा खास तौर से पैदा किया जाना प्रसिद्ध है। व्यवहारतः वह यह कहती है कि हम तथ्यों के प्रेक्षण से एक प्रतिज्ञप्ति को सत्य नहीं जान सकते, क्योंकि हमको अभी-अभी यह दिखा दिया गया है कि तथ्यों का प्रेक्षण नाम की कोई चीज होती ही नहीं। जिसे हम सदा तथ्य का प्रेक्षण समझते रहे वह छान-बीन से तथ्य का प्रेक्षण बनता ही नहीं। हम सब तब तक एक सामूहिक विभ्रम के शिकार बने रहे जब तक संसक्तता-सिद्धांत ने आकर हमें बचा नहीं लिया।

अब ऐसी दलील काम नहीं देगी। यह कहना बेतुका है कि तथ्यों का प्रेक्षण जैसी कोई चीज नहीं होती, जबकि "तथ्यों का प्रेक्षण", यह वाक्यांश ऐसा है जिसे

खास तौर पर एक प्रकार के अनुभव को नाम देने के लिए बनाया गया है। यह ऐसी ही बात हुई जैसे कि मानो एक भौतिकीविद् यह मानते हुए कि वस्तुएं स्वयं रंगयुक्त नहीं होतीं, यह कहे कि रंगों को देखना जैसा कोई अनुभव नहीं होता। हो सकता है कि किसी भौतिकीविद् ने इतनी बेवकूफी की बात कभी कही हो न हो, परन्तु उनका यह कहना प्रसिद्ध ही है कि सूक्ष्मदर्शीय भौतिकी की खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि एक मेज को हमारा ठोस कहना बिल्कुल गलत है।[1] एक मेज के ठोस होने से इसलिए इन्कार करना कि वह प्रोटोन की उन्नत अवस्था में रहनेवाले इलेक्ट्रोनों और प्रोटोनों से बनी है, इससे इन्कार करने से अधिक बेवकूफी की बात नहीं है कि तथ्य का प्रेक्षण नामक कोई अनुभव होता है, क्योंकि तथ्य के प्रेक्षण में किसी तरह का निर्णय शामिल रहता है।

यदि आलोचक की दलील से कुछ सिद्ध हुआ है तो वह यह नहीं कि तथ्य का प्रेक्षण जैसी कोई चीज नहीं है, बल्कि यह है कि तथ्य का प्रेक्षण शायद उससे अधिक जटिल चीज़ है जो संवाद के समर्थकों ने समझा है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका यह कहना गलत है कि एक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता तथ्यों का प्रेक्षण करके और प्रतिज्ञप्ति तथा तथ्य के बीच संवाद का पता लगाकर जानी जा सकती है। अनुषंगतः यह कुतूहल हो सकता है कि इस दलील ने एक वस्तु के प्रत्यक्ष (जैसे एक किताब या मेज के प्रत्यक्ष) और एक तथ्य (जैसे मेज पर किताब का होना) के प्रेक्षण के बीच भेद करने में कितनी सावधानी बरती है। इस दलील के समर्थक की यह कहने की बहुत संभावना है कि इस तथ्य से कि प्रत्यक्ष में प्रतिज्ञप्तियां शामिल रहती है, यह निष्कर्ष निकलता है कि तथ्य का प्रेक्षण जैसी चीज हो ही नहीं सकती; परन्तु असल में उससे यह निष्कर्ष निकलता बिल्कुल नहीं।

10. एक और आपत्ति का निराकरण

उक्त आपत्ति को कभी-कभी इस दलील से पुष्ट किया जाता है कि प्रेक्षण, भले ही वे कितनी ही सतर्कता के साथ किए जाएं और पूरी तरह से उनकी पड़ताल की गई हो, उस दशा में स्वीकार नहीं किए जाते जब उनका पहले से मौजूद वैज्ञानिक निर्णयों की एक समष्टि से विरोध होता है,[2] जैसे चमत्कार या परामानसिकीय

1. एडिंग्टन के *नेचर ऑफ दि फिज़िकल वर्ल्ड*, पृ० 342 का जीन्स के *मिस्टीरियस यूनिवर्स*, पृ०138 से अंतर देखिए।

2. देखिए ब्लैन्शर्ड, पीछे उद्धृत ग्रंथ, पृ० 235-7।

बातें। अतः संवाद कभी एक पर्याप्त कसौटी नहीं हो सकता, क्योंकि यदि वह ऐसी कसौटी हो तो हम ऐसे प्रेक्षणों को अस्वीकार नहीं कर पाए गे। इस दलील के संक्षेप में अनेक जवाब दिए जा सकते हैं। पहला, इसमें अधिक से अधिक यह सिद्ध होगा कि कभी-कभी (या शायद प्रायः) हम वास्तव में संवाद का कसौटी के रूप में उपयोग नहीं करते, परंतु यह उस बात को सिद्ध नहीं करती जिसे इसे सिद्ध करना चाहिए, अर्थात् यह कि हमें उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। जैसा कि स्वयं विज्ञान की प्रगति से ज्ञात होता है, ऐसी अकेली प्रतिज्ञप्ति जो मौजूदा सिद्धांत के विरुद्ध रही है, बार-बार सत्य निकली है, जैसे गैलिलियो की "फिर भी, वह घूमती है।" अर्थात् अनेक सुप्रमाणित दृष्टांत हमारे सामने हैं जिनमें प्रेक्षण के साथ संवाद का एक कसौटी के रूप में उपयोग न करने की पद्धति गलत सिद्ध हुई है।

दूसरा, यदि उक्त आपत्ति में गर्भित इस नियम को हम सतर्कता बरतने के लिए कहनेवाला न मानकर एक सार्वभौम नियम के रूप में मानें कि निर्णयों की विद्यमान समष्टि (यदि वास्तव में केवल एक ही ऐसी समष्टि हो) के विरुद्ध पड़ने-वाली किसी भी प्रेक्षणमूलक प्रतिज्ञप्ति को स्वीकार न किया जाए, तो हमें कुछ अटपटे परिणामों का सामना करना होगा। यदि हम कोई बहुत ही आश्चर्यजनक चीज होती दिखाई दे जिसका पिछले अनुभव से मेल न बैठता हो, तो हम तब तक यह नहीं मानेंगे कि हमने उसे होते देखा जब तक हमें अतीत अनुभव से उसका मेल बैठाने का तरीका न मिल जाए या जब तक उसकी तरह की चीजें इतनी अधिक बार होनी शुरू न हो जाएं कि उनकी संख्या और विस्तार हमारे पिछले अनुभवों की तुलना में अधिक भारी पड़ जाएं।

अब निस्संदेह आश्चर्यजनक प्रेक्षणों को स्वीकार करने में सावधानी बरतना बुद्धिमानी की बात है, परंतु यदि हमने ऐसे किसी भी प्रेक्षण को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया होता तो मानवीय ज्ञान में इतनी अधिक प्रगति न हुई होती। आश्चर्यजनक प्रेक्षण को स्वीकार करने में हमारा संकोच करना हमारे अनुभव से यह सबक सीख लेने पर आधारित है कि *सामान्यतः* चीजें अवश्य ही एक-दूसरी से संगति रखती हुए व्यवहार करती हैं और इस तरह हमको कठिनाई से काफी अधिक बचा देती है। परंतु जब चीजों का व्यवहार असामान्य हो जाता है और ऐसा बना रहता है तब हमारा संगति (ससक्तता) का आधार ढह जाता है और हम संवाद का आश्रय लेते हैं।

उदाहरणार्थ, यदि जादू के खेल दिखानेवाला हमें एक खाली टोप दिखाता है और तब उससे अपने हाथ में एक जीता-जागता सफेद खरगोश निकाल देता है, तो

हम बात से इन्कार नहीं करते कि वह एक सफेद खरगोश है। हमें भले ही इस बात का सुराग न मिले कि वह आया कहां से और हम यह विश्वास करें कि उसकी शक्ल-सूरत प्राकृतिक नियमों की सर्वस्वीकृत समष्टि में भी येन-केन प्रकार से समरूपता रखती है, परंतु अपने प्रेक्षण में हमारे विश्वास का आधार यह बात नहीं होता। वास्तव में बात बिलकुल इसकी उल्टी है हम ठीक इसलिए उसकी शक्ल-सूरत को प्राकृतिक नियमों से संगति रखनेवाली मानते हैं कि हम अपने इस प्रेक्षण का कि वह एक सफेद खरगोश है, स्वीकार कर लेते हैं। और अंत में, प्रतिज्ञप्तियों की जिस समष्टि को मानक के बतौर लेते हुए हम सामान्यत:, यदि हम सावधान हैं तो, अपने आश्चर्यजनक प्रेक्षणों की जांच करते हैं, उसका बल इस तथ्य में निहित होता है कि वे प्रतिज्ञप्तियां स्वयं अंतत: प्रेक्षण पर आश्रित होती हैं (या हम उनके उनपर आश्रित होने में विश्वास करते हैं)।

अतः हमें यह निष्कर्ष निकालना पड़ेगा कि संवाद को सत्यता की एक कसौटी मानने के विरुद्ध जो समरूपता-पोषक दलीलें दी गई हैं, वे अवैध हैं। यह मानना होगा कि संवाद एकमात्र कसौटी नहीं हो सकता, क्योंकि काफी अधिक बार वह सुलभ नहीं होता। मैं यह नहीं कहता कि "रिचर्ड III कुबड़ा था," इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता इसलिए संदेहास्पद है कि मैंने उसे कभी नहीं देखा। ऐतिहासिक निर्णयों की सत्यता की बराबर पड़ताल की जा रही है और उन्हें सपुष्ट या अस्वीकार किया जा रहा है, परंतु संवाद की कसौटी की सहायता से नहीं। फिर भी, यह एक गंभीर कठिनाई संवाद के केवल उन समर्थकों के लिए होगी जो यह कहते हैं कि एक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के निर्धारण के लिए संवाद ही एकमात्र कसौटी है। जहां तक मैं समझता हूं, संवाद का कोई समर्थक इतना अविवेकी नहीं हुआ कि इस मत को मानता।

सप्तम अध्याय

सत्यता संसक्तता के रूप में; और सत्यता तथ्य के रूप में

1. संसक्तता-सिद्धांत की अस्पष्टता

संसक्तता-सिद्धांत की पहली और प्रधान कठिनाई उसको समझ पाने की है। उसकी बाहरी रूपरेखा मात्र से वह इतना अधिक अयुक्तियुक्त और इतने विचित्र परिणामों को पैदा करनेवाला लगता है कि गंभीर विचार के योग्य ही नहीं दिखाई देता। परंतु उसे बिना संकोच अस्वीकार कर देना बुद्धिमानी की बात नहीं होगा, क्योंकि उसके साथ उसको भी अस्वीकार कर देना लगभग निश्चित हो जाएगा जो इस सिद्धांत से, जैसाकि इसके मुख्य प्रतिपादकों, विशेषत: एफ० एच० ब्रैडली, ने इसे माना है, अत्यधिक भिन्न है। इसको समझ पाने में कठिनाई इस तथ्य से पैदा होती है कि यह एक ऐसा असंग सिद्धांत बिल्कुल नहीं है जिसे अकेले ही अपनाया या छोड़ा जा सके, बल्कि ऐसा सिद्धांत है जो ज्ञानमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के एक प्रत्ययवादी तंत्र का भाग है, तथा यह तंत्र बहुत ही गूढ़ स्वरूप वाला है और उसे स्पष्ट करने के लिए, सहनशक्ति तो दूर, धैर्य की भी अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है।

हमारे पास जितना स्थान है उसमें इस तरह के जटिल तंत्र को समझाने की कोई भी कोशिश, यदि मैं उसको समझाने में समर्थ होऊँ तो भी, बिल्कुल असंभव होगी। अत: आगे जो कहा जाएगा वह अनिवार्यत: संसक्तता-सिद्धांत का एक सरलीकृत विवरण होगा, जिसे यथाशक्ति कम भ्रामक बनाया जाएगा और जो सत्यता के एक सिद्धांत के रूप में इसमें जो गुणावगुण हैं उनके बारे में कुछ धारणा बनवाने के लिए पर्याप्त होगा। जो पाठक नकली दूध चख लेने के बाद असली दूध

के प्यासे होगे उन्हें पिछले अध्याय के शुरू में निर्दिष्ट प्रामाणिक ग्रंथकारों को पढ़ना चाहिए।

प्रत्ययवादी सिद्धांत के आधुनिकतम विवरण का एक उद्धरण इस सिद्धांत को संक्षेप मे बताने में सहायक होगा। "इस सिद्धांत के अनुसार वास्तविकता एक तंत्र है जो पूर्णतः व्यवस्थाबद्ध और पूर्णतः बोधगम्य है, जिनके साथ विचार अपनी प्रगति के साथ अपना उत्तरोत्तर अधिक तादात्म्य स्थापित कर रहा है। ज्ञान की व्यष्टिगत या सामाजिक वृद्धि को हम या तो उस प्रयत्न के रूप में देख सकते है जो हमारी बुद्धियों के द्वारा वस्तुएं अपनी व्यवस्थाबद्ध समग्रता में जैसी है उस रूप में उनके साथ पुनः ऐक्य स्थापित करने के लिए किया जा रहा है, अथवा इस रूप में देख सकते हैं कि स्वयं व्यवस्थाबद्ध समग्र हमारी बुद्धियों के माध्यम से अपने अस्तित्व का विधान कर रहा है। और यदि हम इस मत को अपना लें, तो सत्यता के बारे में हमारी धारणा हमारे लिए निर्धारित हो जाती है। सत्यता विचार का वास्तविकता के निकट पहुँचना है। वह अपने गंतव्य की ओर अग्रसर विचार है। उसकी माप वह दूरी है जो विचार अपने अंतर्वर्ती कुतुबनुमा के निर्देशन में उसके चरम विषय का उसके चरम लक्ष्य में एकीकरण करनेवाले बोधगम्य तंत्र की दिशा में चल चुका है। अतः किसी निर्दिष्ट समय पर हमारे संपूर्ण अनुभव की सत्यता की मात्रा उस तंत्रबद्धता की मात्रा है जो उसे प्राप्त हो चुकी है। एक विशेष प्रतिज्ञप्ति की सत्यता की मात्रा का निर्णय प्रथमतः संपूर्ण अनुभव के साथ उसकी संसक्तता के द्वारा होता है, और अततः उस सर्वसमावेशी और पूर्णतः व्यक्त बड़े साकल्य के साथ उसकी संसक्तता के द्वारा होता है जिसमे पहुँचकर विचार विश्राम ले सकता है।"[1] विचार का लक्ष्य वास्तविकता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना है, और ज्ञान पूर्ण केवल तभी होगा जब वह वास्तविकता बन चुका हो। इसका जो भी अर्थ हो, यह आश्चर्यजनक लगेगा कि सत्यता को एक तंत्र के साथ संसक्तता मानना है, न कि संसक्त वास्तविक के साथ तादात्म्य। परंतु यह सिद्धांत वादवाली के बजाय पहलेवाली बात को पसंद करता है।

अब, संसक्तता का संबंध क्या है और उसके पद क्या हैं? पदों को लेकर कोई कठिनाई पैदा नहीं होती : वे वही हैं जिन्हें हमने प्रतिज्ञप्तियाँ कहा है। यह

1. ब्लेन्शार्ड, पूर्वोद्धृत ग्रंथ, पृ० 264। शैली की अस्पष्टता इस विचारधारा की विशेषता है और इसके इस दिखावे की सूचक है कि इसकी अनिर्वचनीय में पैठ हो गई है। फिर भी, यह उद्धरण स्वयं प्रो० ब्लेन्शार्ड की विशेषता का सूचक नहीं है, जो अधिकांशतः प्रत्ययवादी विचारधारा का समर्थन करनेवाले सर्वाधिक स्पष्ट लेखक हैं।